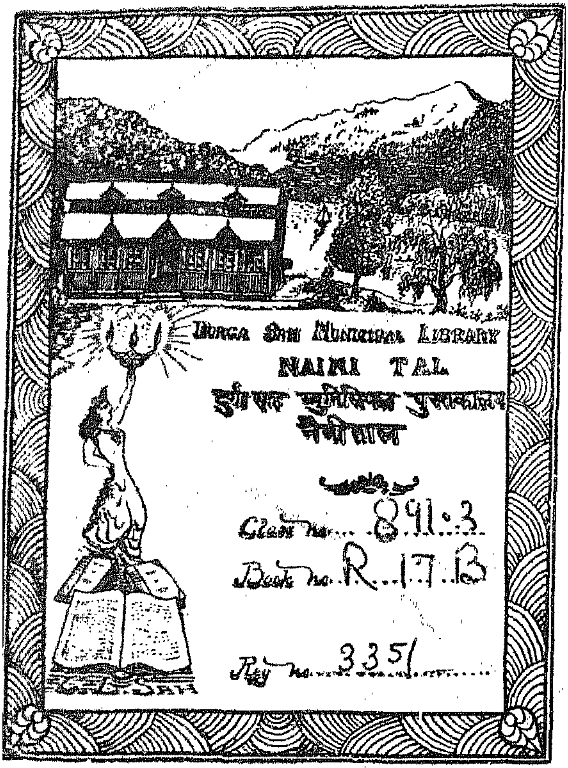

Durga Sah Municipal Library
Naini Tal
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no. 891.3
Book no. R17B
Reg no. 3351

महान लेखक, विचारक, उपन्यासकार, पर्यटक, इतिहासकार महापंडित राहुल सांकृत्यायन के नाम से आज हिन्दी जगत में ऐसा कौन व्यक्ति है जो परिचित न हो। कितने अकथ परिश्रम, साधना और विवेकपूर्ण शोध के साथ ज्ञान के इस पुजारी ने निरन्तर काम किया है इसके साक्षी इनके लगभग सौ गौरव ग्रन्थ हैं जो आज हिन्दी साहित्य की अमर-निधि हैं। अक्षय प्रतिभा तथा श्रम के पुञ्ज, इस तपस्वी ने रूस, चीन, तिब्बत, लद्दाख आदि प्रदेशों का भ्रमण करके अनेक अप्राप्य ग्रन्थों को खोजकर निकाला है और उनका मन्थन करके अनेक उपयोगी ग्रन्थों, कोषों, यात्रा-पुस्तकों तथा उपन्यासों की सृष्टि की है।

प्रस्तुत उपन्यास 'विस्मृत यात्री' ऐतिहासिक उपन्यास है और राहुल जी के निरन्तर शोधकार्य तथा अकथ परिश्रम का परिणाम है। छठी सदी के इस उपन्यास के नायक नरेन्द्रयश कोई कल्पित पात्र नहीं हैं और न ही उपन्यास के स्थालों में कहीं और भी इस विद्वान लेखक ने कल्पना का अवलम्ब लिया है। अपने विषय के प्रति लेखक कितना सतर्क और ईमानदार है इसका परिचय तो राहुल जी की भूमिका के इन शब्दों से ही भली-भाँति विदित है : "अतीत के समाज को ईमानदारी के साथ वास्तविक रूप में रखना मैं अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता हूँ। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास और भूगोल या तत्कालीन देश-पात्र की असङ्गति को मैं अक्षम्य दोष और इसे किसी भी बहने से व्याख्या करना बेकार समझता हूँ।"

वास्तव में राहुल जी के यह ग्रन्थ वैसे ही हैं जैसे कोई चतुर पुरातत्ववेत्ता खंडहरों में पाये हुए किसी सुन्दर कारीगरी के पात्र के टुकड़ों को दोबारा जोड़-जोड़कर अतीत की उस कलाकृति की पुनः सृष्टि करे।

Don't read
at this work

21

दो शब्द

इतिहासका विद्यार्थी और पर्यटक होनेके कारण "विस्मृत यात्री" जैसे उपन्यासके लिखनेके लिये मेरा ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। मैं ऐसा करनेमें इतिहासकार और पर्यटककी जिम्मेवारीको ही पूरी तौरसे निर्वाह करनेकी कोशिश करता हूँ, जिसका फल यह भी होता है, कि कितने ही उपन्यास-प्रेमी इसमें कुछ कमियाँ पाते हैं। ऐसे पाठकोंके दृष्टिकोणसे मेरे में कुछ अन्तर है; तो भी जिन दोषोंका उद्भावन किया जाता है, उनमेंसे कितनों को मैं भी अनुभव करता हूँ। पर, हटाना मेरे बसकी बात नहीं। हटानेके लिये कुछ तथ्योंको भी हटाना पड़ेगा, और साथ ही उतने धैर्यका मुझमें अभाव भी है। अतीतके समाजको ईमानदारीके साथ वास्तविक रूपमें रखना मैं अपना प्रथम कर्तव्य समझता हूँ। ऐतिहासिक उपन्यासमें इतिहास और भूगोल या तत्कालीन देश-काल-पात्रकी असंगतिको मैं अक्षम्यदोष और इसे किसी भी बहानेसे व्याख्या करना बेकार समझता हूँ। "विस्मृत यात्री" के लिखनेमें इन बातों पर कितना ध्यान दिया गया है, इसे सहृदय पाठक समझेंगे।

"नरेन्द्रयश" कोई कल्पित पात्र नहीं हैं। वह हमारे ही देशके—अब पश्चिमी पाकिस्तानके—स्वात (उद्यान) की भूमिमें ५१८ ई० में पैदा हुये थे। उन्होंने भिक्षु बननेके बाद भारत, सिंहल, मध्य-एसिया, घुमन्तुओंकी भूमि और चीनमें विचरण किया था, और अन्तमें आधुनिक सियान (प्राचीन छाङ-अन्) महानगरीमें अपना शरीर छोड़ा। उनके सम्बन्धमें चीनी-साहित्यमें जो सूचना मिलती है, उसे डाक्टर पा० चाउ ने प्रदान किया, जिसे मैं ग्रन्थके आरम्भमें दे रहा हूँ और डा० पा० चाउका इसके लिए बहुत कृतज्ञ हूँ—

"नरेन्द्रयश उद्यानके क्षत्रिय परिवारके थे। १७ वर्षकी उमरमें उन्होंने प्रव्रज्या ली और २१ वर्षकी उमरमें बौद्ध-संघ ने उन्हें उपसम्पदा प्रदान की। भिक्षु बननेके आरम्भ हीसे उनके मनमें बड़ी आकांक्षा थी कि उन पवित्र स्थानोंकी यात्रा करें, जहाँ बुद्धकी धातुयें सुरक्षित हैं। वह बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी

बहुत से स्थानोंमें गए। दक्षिणमें वह सिंहलद्वीप तक गए और उत्तर में हिमालयसे बहुत परे तक। एक बार एक स्थविरने उनसे कहा, कि यदि तुम शीलका चुपचाप अभ्यास करो, तो तुम्हें आर्यफल (मार्ग या निर्वाण) की प्राप्ति होगी, नहीं तो तुम्हारा पर्यटन बेकार जायेगा। लेकिन उन्होंने उस मुनिके आदेशका पालन नहीं किया।

"सिंहलसे लौटने के बाद कुछ समय तक वह उद्यानमें ठहरे। जब उनका विहार आगसे जल गया, तो वह शायद सहायता प्राप्त करनेके विचारसे पाँच आदमियोंके साथ हिमालयके उत्तरकी ओर गये। हिमालयके ऊपर पहुँचने पर वहाँ दो रास्ते थे, एक आदमियों का और दूसरा दानवोंका। उनको जब पता लगा कि हमारा एक साथी दानव-पथ पर चला गया है, तो वह झटपट उधर दौड़े, लेकिन दुर्भाग्यसे तब तक दानवोंने उसे मार डाला था। मंत्र-शक्तिसे अपनेको उनके पंजेसे छुड़ाया। पीछे डाकुओंने उन्हें घेर लिया, और उसी पवित्र मन्त्रके प्रतापसे वह (नरेन्द्र) फिर बच गये। पूर्वकी ओर जाकर वह जुइ-जुई (अवार) देश में पहुँचे, जहाँ तुर्कोंने विद्रोह कर दिया था। पश्चिम की ओर चल कर उद्यान लौटनेकी सम्भावना नहीं थी, इसलिये वह उत्तरकी ओर जाते-जाते नी-हाइ (नील समुद्र) के तट पर पहुँचे, जो कि तुर्कोंके देशसे ७००० ली(सवा दो हजार मीलसे अधिक) दूर था। उन्होंने देखा कि उस देशमें बिल्कुल शांति नहीं है, इसलिये वह ५५८ ई० में चीन में उत्तरी छी-वंश (५५०-५७७ ई०) की राजधानी होना (येह) में पहुँचे। सम्राट् वेन् शुयेन (५५०-५५६ ई०) ने उनका बड़ा स्वागत किया, और थियेन् पिंग विहार में उन्हें रहनेके लिये सबसे अच्छे कमरे और सबसे अच्छा भोजन प्रदान किया। चीनी भाषामें अनुवाद करनेके लिये राजकुलमें मौजूद संस्कृतके हस्तलेख उनके पास भेजे गये और चीन के विद्वान् बौद्ध पंडित अनुवादके काममें उनकी सहायता करनेके लिये दिये गये। जब कभी उन्हें अवकाश मिलता, वह पहलेके सीखे मंत्रों का पाठ करते।

"चीनमें आनेके थोड़े ही दिनों बाद सम्राटने उन्हें बौद्धसंघके उपनायकका"

पद प्रदान किया, और पीछे प्रधान-नायक बना दिया। अपने पदसे मिलने वाली आमदनीके बहुत बड़े भागको वह भिक्षुओं, गरीबों, बन्दियोंके भोजन तथा प्राणियोंके घास-चारेमें खर्च करते। सार्वजनिक हितके लिये उन्होने बहुत से कुएँ खुदवाये, जिनसे वह खुद पानी निकालकर प्यासोंको पिलाते थे। उन्होंने पुरुष और स्त्री बीमारोंके धर्मार्थ चिकित्सालय खोले, जिनमें हर तरहकी आवश्यक चीजें मिलती थीं। चिन-ज़ुनमें पश्चिमी पर्वतके ऊपर उन्होंने तीन विहार बनवाये। वह तुर्कोंके ठहरनेकी सरायोंमें जाया करते थे, और उनसे प्रार्थना करते, कि महीने में कमसे कम छ दिन निरामिषभोजी रहो और अपने खाने के लिए बकरियोंको मत मारो। इस तरहके पुण्य कार्य वह किया करते थे एक बार जब वह बीमार पड़े, तो सम्राट् और सम्राज्ञी स्वयं पुछार करनेके लिए। उनके पास गए। इस तरहका सम्मान बहुत कम किसी आदमीके प्रति दिखलाया जाता था।

५७७ ई० के अन्तमें उत्तरी छी-वंशको उत्तरी चाओं-वंश (५५७-८१ ई०) ने खतम कर दिया। ५७२ ई० में सम्राट वूकने—जो कि ताउ धर्मका अनुयायी था—चीनमें बौद्ध-धर्म बौद्ध-विहारों और दूसरी संस्थाओंको नष्ट करने का निश्चय कर लिया। इन परिस्थितियोंमें नरेन्द्रयश बाहरसे गृहस्थकी पोशाक पहननेके लिए मजबूर हुये, यद्यपि भीतर भिक्षुका चीवर वह तब भी रखते थे। अपने प्राणोंके बचानेके लिये वह इधर-उधर मारे-मारे फिरे और बहुत तकलीफ सही। यह अत्याचार तब तक दूर नहीं हुआ, जब तक सुई राजवंश (५८९-६१८ ई०) की स्थापना नही हो गई। नये राजवंशके आरंभमें वेन-तीने उन्हें राजधानीमें बौद्ध-सूत्रोंके अनुवाद करनेके लिये निमंत्रित किया। उसके बाद उनसे प्रार्थना की, "कि विदेशी भिक्षुओंके स्वागतिकके" पदको स्वीकार करें। उन्होंने अपने कर्त्तव्यको बहुत अच्छी तरह पालन किया, और सभी लोग उनको पसन्द करते थे।

८० आह्निकों (प्रति आह्निक प्रायः ७०० श्लोक) से अधिक परिमाण १५ ग्रन्थोंका उन्होंने अनुवाद किया। ५० से अधिक देशोंको देखने तथा १

लाख १५ हजार ली (प्रय: ५० हजार मील) की यात्रा करनेमें उन्होंने ४० वर्ष बिताए। ५८६ ई० में उनका देहान्त हुआ।

डा० पा० चाउकी उपरोक्त पंक्तियोंसे नरेन्द्रयशके व्यक्तित्वका कुछ पतके लगता है।

सारी त्रुटियोंके रहते हुये भी यदि अपने महान् यात्रीको हम इस पुस्तक द्वारा स्मरण करने लगे, तो मैं अपने प्रयत्नको सफल समझूँगा।

"विस्मृत यात्री" के कितने ही भाग दिल्लीके "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में क्रमशः निकले थे, उसके सम्बन्धमें कितने ही पाठकोंने पूछताछ की। "सिंह सेनापति" को पढ़कर कितने ही पाठक पटना म्यूजियममें उन ईंटोंको देखने जाते हैं, जिनके ऊपर उस ग्रंथके लिखे होनेकी बात उक्त उपन्यासके आरम्भमें कही गई है। यदि वह वस्तुतः ईंटों पर उत्कीर्ण होता, तो वह उपन्यास नहीं होता। ईंटोंके दर्शनार्थी पाठकों को समझ लेना चाहिये था, कि यह उपन्यास है, हाँ ऐतिहासिक है, अर्थात् उस कालके देश-काल-पात्रकी परिधिसे बाहर नहीं जा सकता। कुछ पत्रोंमें "विस्मृत यात्री" के बारेमें भी वही सवाल पूछे गये हैं। मेरे सभी ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास हैं, इतिहास या जीवनी नहीं।

ऋग्वेदकालीन आर्यों के सम्बन्धमें "सुदास" (दाशराज्ञयुद्ध) नामसे एक उपन्यासके लिखनेकी मैं इस वक्त तैयारी कर रहा हूँ। आजसे तीन सहस्राब्दियों पहलेके समाजमें आजसे भारी भेद था। किन्हीं-किन्हीं बातोंमें तो वह इतना उग्र था, जिसे आजके कितने ही श्रद्धालु सुननेके लिये भी तैयार नहीं होंगे। मेरी "वोल्गासे गंगा" के बङ्गला अनुवादकी समालोचना करते एक सज्जनने सरकारको उसे जब्त करनेकी प्रेरणा दी। ऐसी प्रेरणाओंसे डरकर अपने कर्तव्य-से विमुख हो जाना किसी लेखकके लिये शोभा नहीं देता। तो भी, कोई यह न कहे, कि "सुदास" केवल कल्पनाओंके सहारे हमारी संस्कृतिको नीचा दिखानेके लिये लिखा गया है; इसीलिये आजकल ऋग्वेदकी सामग्रीके आधार पर अनेक लेख मैं भिन्न-भिन्न पत्रिकाओंमें लिख रहा हूँ, जिन्हें मूल ऋचाओंके

साथ पुस्तकाकार छाप दिया जायेगा, और ईमानदार आलोचकोंके लिये बात स्पष्ट हो जायेगी।

"विस्मृत यात्री" १९५३ ई० में लिखकर तैयार हुआ था, और "सुदास" उसके तीन वर्ष बाद समाप्त होगा। इससे मालूम होगा, कि उपन्यास लिखनेकी मेरी व्यासक्ति नहीं है, यद्यपि रुचि अवश्य है। इससे भी अधिक रुचि जैसे ग्रंथोंके लिखनेकी ओर मेरी है, उनके प्रकाशनमें आनेमें सबसे बड़ी दिक्कत है। मैंने प्रायः ऐसे ही विषयों पर ग्रंथ लिखने चाहे, जिनकी हिन्दीमें कमी है। हिमालयके साथ पर्यटकके तौर पर मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है, मैं नगाधिराजका परम भक्त हूँ। नगाधिराजको जानना हमारे हरेक शिक्षितका कर्तव्य है। इस जानकारीको देनेके लिये मैंने हिमालयपर लिखना शुरू किया। भूटानकी सीमासे जम्मूकी सीमा तकपर लिख भी चुका। इन ग्रन्थोंमें "दार्जेलिङ परिचय" और "गढ़वाल" निकल भी चुके हैं। "गढ़वाल" के पढ़नेवालोंसे यह कहनेकी जरूरत नहीं है, कि इन ग्रन्थोंमें किस तरह हिमालयके हरेक अंगको दिखलानेकी कोशिश की गई है। "नेपाल", "गढ़वाल" से भी दूना (१२०० पृष्ठोंका) ग्रंथ बड़ी मेहनतसे लिखा गया है, और यह कहना अत्युक्ति नहीं है, कि अंग्रेजीमें भी कोई एक उस तरहकी पुस्तक नहीं है। वह तीन वर्ष पहले लिखा जा चुका था। इसके ३०० पृष्ठ छपकर अब कीड़ों और चूहोंके शिकार बन रहे हैं। "कुमाऊँ" की नैया भी भँवरमें है। "जौनसार-देहरादून" की अभी पूछ ही नहीं आई। यमुना तटसे चनाबके तट तकके "हिमाचल-प्रदेश" के सौ फार्मोंके ग्रंथका नाम सुनकर ही प्रकाशक कानपर हाथ रखते हैं। मेरी इच्छा थी, कि "जम्मू-काश्मीर" और "भूटान-पूर्वोत्तर सीमान्त" के दो और ग्रन्थोंको लिखकर सारे हिमालयको पाठकोंके सामने रख दूँ। अभी भी उस संकल्पको मैंने छोड़ा नहीं है, पर कीड़ोंको खिलानेसे मन हिचकता है।

हिमालयके अतिरिक्त अपने देशकी काव्य-निधियोंको संग्रहके रूपमें रखनेकी मेरी बड़ी इच्छा है। इसीके फलस्वरूप "हिन्दी काव्यधारा" को मैंने लिखकर आठवीं सदीसे बारहवीं सदी तक प्रचलित अपभ्रंश भाषाके कवियोंकी सुन्दर

कृतियोंको कालानुसार रक्खा। "दक्खिणी काव्यधारा" को लिखे पाँच साल हो गये, लेकिन उसका सिर्फ एक फार्म प्रूफके रूपमें देख पाया। मालूम नहीं उसकी प्रेस-कापी कीड़ोंसे बच भी पायेगी। "संस्कृत काव्यधारा" को अभी-अभी मैंने तैयार किया है, जिसमें ऋग्वेदसे लेकर अन्तिम काल तकके ५० कवियोंकी सूक्तियोंको काल-क्रमसे रक्खा गया है। पुस्तकमें बाईं ओर मूल और दाहिनी ओर उसकी हिन्दी दी गई है। यह भी आठ-नौ सौ पृष्ठोंकी पुस्तक है, मालूम नहीं यह प्रयत्न किसका भोज साबित होगा। जो भी हो, इसी तरह "पालि काव्यधारा" और "प्राकृत काव्यधारा" के दो और संग्रहोंको तैयार कर देनेका मैं संकल्प रखता हूँ।

रूसके दो सालके प्रयासमें जिस ग्रंथ के लिये मैंने अध्ययन और सामग्री-संचय किया था, वह "मध्य-एसियाका इतिहास" लिखकर तीन वर्षसे प्रेसमें है। लेखक भी चुस्त है और प्रकाशक और भी चुस्त, पर प्रेसकी गति-विधि ऐसी है, कि नहीं विश्वास किया जाता, कि डेढ़सौ फार्मोंका ग्रंथ कब तक बाहर निकलेगा। हम मुद्रककी इस बातको विश्वास कर लेते हैं, कि अगले साल वह जरूर निकल जायेगा।

लेखकोंको अपने ग्रंथोंके प्रकाशनमें कैसी दिक्कतोंका सामना करना पड़ता है, यह उपरोक्त पंक्तियोंसे मालूम होगा। मेरे उपन्यासोंके बारेमें वह बात नहीं है। "विस्मृत यात्री" लिखनेके तीसरे वर्ष प्रकाशकोंकी कमीसे नहीं प्रकाशित हो रहा है। यदि उसकी प्रति दे दी गई होती, तो इसका गुजराती अनुवाद भी इसी समय प्रकाशित हुआ मिलता। किताब महलके स्वामी श्री श्रीनिवास अग्रवालने "विस्मृत यात्री" और कितनी ही दूसरी पुस्तकोंको प्रकाशित किया है, जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पुस्तकको बोलनेपर टाइप करनेका काम श्री मंगलदेव परियारने जिस तत्परतासे किया है, उसके लिये मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

मंसूरी, १२-११-५५ राहुल सांकृत्यायन

अध्याय १

बाल्य (५१८—२७ ई०)

"पा-क्रू-लाइ", (बोलोर) प्रदेशसे उद्यान प्रदेश तक लोग पुलकी जगह लोहेकी जंजीरोंका व्यवहार करते हैं। पहाड़ी खड्डोंको पार करते समय इन्हीं जंजीरों की सहायता ली जाती है। यह जंजीरें अधरमें लटकती रहती हैं। नीचेकी ओर नजर करनेपर पहाड़ी धार दिखाई नहीं पड़ती। जंजीर अगर हाथसे छूट जाये, तो हजारों हाथ नीचे गिर जाना पड़ेगा। इसीलिये यात्री लोग तेज हवा चलते समय उन्हें पार करनेकी कोशिश नहीं करते।... पामीर पर्वतमाला इस (उद्यान) प्रदेशके उत्तरमें है और दक्षिणमें भारतवर्ष है। जलवायु न अति शीत न अति उष्ण तथा सुखद है। कितने ही सौ कोस यह प्रदेश फैला हुआ है। इस देशमें उपज और निवासी दोनों की बहुतायत है। चीनकी लिन्-ज़ी उपत्यकाके समान ही यह प्रदेश उर्वर है, और जलवायु तो उससे भी अधिक उत्तम।...राजा निरामिषाहारी है। उपोसथके दिन वह मृदंग, शंख, वीणा, वंशी आदि नाना प्रकारके वाद्योंके साथ प्रातः और सायं भगवान् बुद्धकी पूजा करता है। दोपहर बाद वह राजकाज देखता है। कोई आदमी हत्या करदे, तो उसके अपराधमें उसे मृत्युदण्ड नहीं देता, बल्कि कुछ थोड़ा सा आहार देकर उसे पर्वतों की निर्जन भूमिमें निर्वासित कर देता है।...समयानुसार लोग नदीके पानीसे खेतों को भर देते हैं, जिससे भूमि उर्वर तथा अच्छी मिट्टी से भर जाती है। मनुष्योंके लिये आवश्यक सब तरहका खाद्य यहाँ भारी परिमाणमें सुलभ है। इस देशमें साग-भाजी बहुत पैदा होती हैं, और तरह-तरहके फल भी काफी उत्पन्न होते हैं। संध्याकालमें संघारामके घण्टाकी ध्वनि

चारों ओर सुनाई देती है। नाना रंगोंके फूल सर्दी और गर्मी दोनों ऋतुओंमें प्रचुर परिमाण में फूलते हैं, और श्रमण तथा गृहपति जन उससे भगवान् बुद्धकी पूजा करते हैं।"

यह पंक्तियाँ उसी साल ५१८ ई० महाचीनके यात्री सुंग-युआन्ने लिखी थीं, जब कि मैंने संसारमें पहलेपहल अपनी आँखें खोलीं। उससे बीस वर्ष पहले दूसरे चीनी यात्री फा-शीन, (फा-हियान) भी मेरी मातृभूमि उद्यानमें गये थे। चीन देशमें आनेके बाद मैंने देखा, कि यहाँके लोग सच्ची यात्राओंके पढ़नेके बड़े शौकीन हैं। उनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। मेरे देशके लिये भी यह अनुकरणीय बात है। हमारे यहाँ कथाओंके सुननेका तो बहुत रवाज है, लेकिन वास्तविककी अपेक्षा काल्पनिक कथाओंको ही पसन्द किया जाता है। हमारे देशने बड़े-बड़े पृथ्वी-पर्यटक पैदा किये। अब भी (५८८ ई०) अकेले चीन देशमें हजारोंकी संख्यामें हमारे देशके भिक्षु और दूसरे विद्वान् बड़ा-बड़ा कष्ट सहकर भिन्न-भिन्न रास्तोंसे पहुँचे हैं। हर साल ही हमारा महा-संघ चारों दिशाओंमें अपने धर्मदूतोंको भेजता है। लेकिन अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचनेके लिये हमें कैसे-कैसे कौन-कौनसे देशोंसे गुजरना पड़ेगा, इसे जानने के लिये इसके सिवाय और कोई साधन नहीं है, कि हम वहाँ गये-आये आदमियोंसे पूछकर पता लगायें। यदि हमारे धर्मदूत अपनी यात्राओंके वर्णन को लिपबद्ध कर जाते, तो कितना अच्छा होता? हमारे धर्मदूत वर्षों धर्म प्रचार करने के बाद अपने संघाराम में अपना वार्धक्य बिताते हैं, लेकिन अधिकतर जहाँ जाते, वहीं अपनी हड्डियाँ बिखेर देते, जिनमेंसे कुछको समेट-कर संघ अपने यहाँ स्तूप बनाता, जिससे प्रेरणा पा दूसरे तरुण उनके मार्गका अनुसरण करते। मैंने चैत्यगिरि (साँची) और दूसरे पुनीत स्थानोंपर उन सत्पुरुषों के स्तूपोंके दर्शन किये हैं। हमारे संघमें तो देश-दर्शन और पर्यटन के प्रति आरम्भ हीसे भारी प्रेरणा मिल रही है। उसी प्रेरणा का फल है, कि मैं इतने देशोंको आजीवन अपने परोंसे नापता रहा।

यदि अपने देश-भाइयोंकी इस विषयकी उदासीनताका अनुकरण करता, तो

शायद मैं भी अपनी यात्राको लिपिबद्ध न करता। लेकिन, चीनी बन्धुओंको देखकर मुझे भी इच्छा हुई, कि आनेवालोंके लिये अपनी यात्राका विवरण लिख जाऊँ, यद्यपि मुझे बहुत कम आशा है, कि मेरे देशभाई उसे प्राप्त करके लाभ उठा सकेंगे।

मेरा जन्म उसी उद्यान-भूमिमें हुआ, जिसके बारेमें सुंग युआनने उपरोक्त पंक्तियाँ लिखीं, जिन्हें मैंने महाचीनमें आकर पढ़ा। अपनी-अपनी मातृभूमि सबको अच्छी लगती है, इसलिये मैं किसी देशके कुरूप और असुन्दर होनेकी बात नहीं कहता, पर उद्यान तो सचमुच ही स्वर्गका उद्यान है। उत्तरकी ओर कर्पूर-श्वेत हिमोंसे आच्छादित उत्तुंग शिखरोंकी पंक्तियाँ कितनी सुन्दर मालूम होती हैं ? बाल्य-नेत्रोंसे मैंने पहलेपहल इन श्वेत शिखरपंक्तियोंको देखा था। उस समय यह नुकीली स्तूपाकार गिरिमाला जितनी सुन्दर मालूम होती थीं, आज सत्तर वर्षकी अवस्थामें पहुँच जानेपर स्मृतिपटलपर अंकित उस दृश्यको जब मैं देखता हूँ, तो उसका सौन्दर्य किसी प्रकार भी कम नहीं मालूम होता। यह मैं तब कह रहा हूँ, जब कि मैंने हजारों पर्वतोंको देखा, सैकड़ों देशोंका अवगाहन किया। विश्व कितना विचित्र है। मैंने सिंहलद्वीपमें रहते हुये देखा, कि वहाँ बारह महीनामें बस दो ही ऋतु हैं, गर्मी और वर्षा, जाड़ेका कहीं पता नहीं, यदि आप वहाँके श्रीपाद पर्वतपर न चढ़ें। इससे मुझे पता लगा, कि हम जितने ही अधिक ऊँचे पर्वतीय स्थानोंपर जाते हैं, उतनी ही सर्दी बढ़ती है। शायद हमारे उद्यानके अधिक शीतल होनेका कारण यही हो, क्योंकि गर्मियोंमें भी हम अपने यहाँ ऊनी कपड़ा पहन सकते हैं, जब कि सिंहलद्वीपमें उसका नाम भी नहीं लिया जा सकता। सिंहल भिक्षु दाहिना कंधा नंगा करके अपना चीवर पहनते हैं, सिर भी नंगा रखते हैं। यदि उन्हें उद्यानके जाड़ोंमें रहना हो, तो मालूम हो जाये कि वहाँ दाहिना कन्धा और सिर नंगा रखनेका मतलब है मृत्युका आवाहन करना। देव-मनुष्योंके शास्ता आत्महत्याको गर्हित काम बतलाते थे, जीवन रक्षाके लिये उन्होंने नाना भेषजोंका विधान किया, जिसके कारण उन्हें भैषज्य गुरुके नामसे हम पूजते हैं। भैषज्य गुरुकी

देशनाके अनुसार हमारे कितने ही भिक्षु चिकित्सा-शास्त्रका अध्ययन करते और आतुरों-रोगियोंको सहायता पहुँचाते हैं। बर्बरसे बर्बर जातियोंमें बौद्ध भिक्षुको देखते ही जो सत्कार-सम्मान उपस्थित हो जाता है, उसका एक बड़ा कारण यही है, कि वह हमें भैषज्य गुरुका शिष्य समझते हैं। मैंने अपने दूसरे बन्धुओंकी तरह चिकित्साशास्त्रका विशेष अध्ययन तो नहीं किया, लेकिन जो थोड़ा-घना ज्ञान मुझे यों ही मिल गया, उससे मेरी यात्रामें जहाँ मुझे सहायता मिली, वहाँ अनेक नर-नारियोंका भी उपकार हुआ।

उद्यान दुर्गम पर्वतोंके बीच बस हुआ स्वर्ग-सामान प्रदेश है, लेकिन उत्तराखण्डकी यात्रा करते मैं ऐसी भूमियोंमें भी पहुँचा, जहाँ पर्वतोंके मस्तकपर नहीं, बल्कि शीतसमुद्र (बाइकाल सरोवर) के तटपर उतनी सर्दी अत्यन्त गरम महीनोंमें देखी, जितनी हमारे निचले गाँवोंमें जाड़ोंमें होती है। वहाँके जाड़ोंकी सर्दीका तो अपने देशमें रहते मुझे अनुमान भी नहीं हो सका था। पृथिवीपर कैसे विचित्र-विचित्र स्थान हैं। पर्यटक अपनी आँखोंके सामने कितने प्रकारके नयनाभिराम दृश्य देखता है।

अपनी मातृभूमिका पक्षपात कह लीजिये, मुझे उद्यानकी भूमि कितनी याद आती है? मुझे कितना आनन्द होता, यदि मैं अपनी इन हड्डियोंको उसी भूमिको दे सकता, जिसने इन्हें पैदा किया। लेकिन तथागतके कथनानुसार "तत् कुतोत्र लभ्यः।" ऐसी आसक्ति भिक्षुवेषके अनुरूप नहीं है। पर, अपनी जननी जन्म-भूमिके मधुर स्मरण से मैं अपनेको वंचित कैसे कर सकता हूँ? उद्यानकी भूमि वही है, जिसे कभी सुवास्तु कहा जाता था। अब भी हमारी एक नदीका नाम सुवास्तु (स्वात) है। हमारी नदियोंका पानी पानी नहीं दूध है। जब मैं पहले-पहल अपनेसे दक्षिणवाले गन्धार देशमें गया, तो मुझे इस बातका पता लगा। सुवास्तु उसे अपने सुन्दर वास्तुओं (गृहों) के कारण कहा जाता था और अब अपने मधुर फलोंके उद्यानोंके कारण वही उद्यानके नामसे प्रख्यात है। कपिशा (काबुल) प्रदेशकी द्राक्षा (अंगूर) सारे जम्बू द्वीप (भारत) में प्रसिद्ध है, लेकिन मैं नहीं समझता, कि हमारे उद्यानकी द्राक्षा से वह बेहतर है।

अपनी द्राक्षाओंके लिये उद्यानकी ख्याति शायद इसीलिये नहीं हो सकी, क्योंकि हमारे दुर्गम पर्वतोंके भीतरसे सूखी द्राक्षा (मुनक्का और किशमिश) को बाहर ले जाना मुश्किल है। हमारे उदुम्बर (अंजीर) और दूसरे भी फल कितने मधुर होते हैं ?

मध्यमण्डलके भिक्षु जब हमारे देशकी सर्दीके बारेमें सुनते, तो तुषार (तुखार) कहकर इधर आनेकी हिम्मत नहीं करते थे, पर जब मैं उनसे अपने देशकी क्षीरवाहिनी नदियों और अमृत-मधुर फलोंकी बात करता, तो उनके मनमें उत्सुकता जरूर पैदा हो जाती। हमारे यहाँके मौसिमकी बातचीतसे उसका अनुभव आदमीको कैसे हो सकता है ? उसी तरह, हमारे लोगों या इस छांग-आन् महानगरीके लोगोंको भी पता नहीं लग सकता, कि वाराणसी और जेतवनमें गर्मियोंमें भट्ठी की जैसी घोर गर्मी होती है। मैं कहता, हमारे उद्यानके निवासी तीनों ऋतुओंमें उसी तरह तीन गाँवमें बसते हैं, जिस तरह चक्रवर्त्ती राजा तीन ऋतुओंमें तीन प्रकारके प्रासादोंमें रहा करते थे। जाड़ोंमें हम अपनी बड़ी नदियोंके निचले भागोंमें जाकर रहते, कभी-कभी उन जङ्गलोंमें भी शरण लेते, जहाँ पत्ते बराबर हरे रहते, बर्फ कभी नहीं पड़ती। वसन्तके आगमनके साथ जब बर्फ पिघल जाती, हमारे खेत नंगे हो जाते और सदा हरित न रहनेवाले वृक्षों और वनस्पतियोंमें पत्तियाँ कलियोंके रूपमें फूट निकलतीं, तो हम अपने पहाड़के ऊपरी गाँवोंमें चले आते। मुझे तो सबसे सुन्दर और प्यारे उद्यानके वह पयार (अधित्यकायें) लगते हैं, जो उत्तुंग पर्वतोंकी पीठपर दूर तक फैले हैं। वहाँ बर्फ और भी पीछे पिघलती, जब कि वर्षा शुरू होती। इन पयारोंके शुरू होनेसे पहले ही बड़े-बड़े वृक्षोंकी भूमि खतम हो जाती और केवल घास ही घास दिखाई पड़ती। ऐसी लम्बी-लम्बी घासें, जिनमें हमारी भेड़-बकरियाँ ही नहीं, बल्कि गायें भी छिप जातीं। और कितनी पुष्टिकर ये घासें होती हैं ? मैंने तो वैसा होते नहीं देखा, लेकिन सुना जरूर है, कि इनके खानेसे भेड़ें इतनी मोटी हो जाती हैं, कि उनका शरीर चमड़ेके भीतर नहीं समाता, और वह मध्यमण्डलकी पकी ककड़ीकी तरह फूट जाती हैं।

उद्यानकी शोभा अपने उर्वर खेतों सदानीरा नदियों, रमणीय पर्वतोंसे जिस तरह है, उसी तरह वहाँके विशाल देवदार बड़े मनमोहक होते हैं। तथागत जिस बोधि (पीपल) वृक्षके नीचे परमज्ञानको प्राप्त करनेमें सफल हुये, उसके सामने हमारा सिर हमेशा झुक जाता है—वर्षों हो गये ऐसे बोधिवृक्षकी पूजा किये। शीत प्रधान देशोंमें बड़े प्रयत्नके साथ बोधिवृक्षको लगानेकी कोशिश की गई, लेकिन उसमें सफलता नहीं हुई। अब तो उससे मिलते-जुलते पत्ते-वाले वृक्षोंको लोगोंने अपने-अपने देशमें बोधिवृक्ष मान लिया है, लेकिन असली बोधिवृक्ष तो जम्बू द्वीप, सिंहल द्वीप जैसे गरम देशोंमें ही मिलता है। बोधिवृक्षके प्रति मेरे हृदयमें बहुत सम्मान है, उसके कोमल चिकने पत्ते बड़े सुन्दर होते हैं, विशेषकर जबकि हल्की हवासे वह हिलने लगते हैं। लेकिन, मुझे यह कहनेमें संकोच नहीं कि हमारे उद्यानका देवदार सचमुच देवोंका दारु (वृक्ष) है। और उद्यानके महान् देवदारुके सामने इधरके देवदार बौने कुबेरके सामने रंक जैसे लगते हैं। वह पर्वतोंके गात्रको ढाँके गगनचुम्बी शिखरवाले विशाल वृक्ष कितने मनोरम हैं, जिनके नीचे तूलाजिनकी तरह सूखे पत्ते बिछे हैं, जिनके शरीरसे भीनी-भीनी सुगंधि निकलती है। हमारे घरोंमें देवदारकी लकड़ियोंका ही सबसे अधिक इस्तेमाल था, दीवारोंके बनानेमें भी उनकी अपेक्षा पत्थरोंका उपयोग कम किया जाता था। बचपनसे ही देवदारके सूखे काष्टकी सरस सुगंधिमें मैंने साँस ली थी, और अब भी यहाँ छाँग-आन्‌में मैंने देवदार काष्टकी कुटी उसी ख्यालसे बनवाई, लेकिन इसमें वह बात कहाँ ? क्या मुझे स्मृति तो धोखा नहीं दे रही ? बचपनकी भोली-भाली आँखोंका कसूर तो नहीं है, जो कि सभी चीजोंको मधुरतम बना देती हैं ?

मुझे अपनी मातृभूमिका अवश्यकतासे अधिक पक्षपात नहीं है। मैं भरसक अतिशयोक्ति भी नहीं करना चाहता, लेकिन क्या करूँ, जब कि उसके गुण बरबस मुझे मुखरित कर देते हैं। जान पड़ता है, हरेक बातके लिये जाति-जातिकी अपनी अलग कसौटी, अपना-अलग मान होता है। हमारे यहाँ क्रोश और योजनसे दूरी बतलाई जाती है, और महाचीनमें उसे लीमें गिनते हैं, जो हमारे

एक कोशमें चार होती है। महाचीनके लोग दूरीको लीमें कहने पर उसे जितना आसानीसे समझ सकते हैं, उतना क्रोश या योजन कहनेमें नहीं। हम अपने यहाँ गोरे रंग, सुनहले बालों और नीली आँखोंको सौन्दर्यकी प्रतीक मानते हैं, किन्तु महाचीनके लोग इसे बन्दरों जैसी शक्ल बतलाते हैं। ऊँची लम्बी नाकें हमें भली मालूम होती हैं, लेकिन महाचीनवाले उसे भौंड़ी बतलाते हैं। भोजन भी अपने-अपने अलग होते हैं। मगधकी गन्धशाली (वासमती) बहुत स्वादिष्ट होती है, इसे मैं मानूँगा, किन्तु मुझे तो लड़कपनसे ही मुँहलगी गेहूँकी रोटियाँ जितनी प्यारी लगती हैं, उतना गन्धशालीका भात एक-दो दिन ही लगता है। हम नमकके साथ उबले हुये मांसखण्डोंको जितना रुचिके साथ खाते थे, उससे कहीं अधिक रुचिके साथ मगधवाले तली-भुनी मछलियोंको पसन्द करते हैं। संगीतके विषयमें भी लोगोंकी भिन्न-भिन्न रुचि है। महाचीन-वाले उन तन्तु (तार) वाले वीणा जैसे वाद्योंको तुच्छ समझते हैं, जिनकी ध्वनि हमारे कानोंको अत्यन्त प्रिय लगती हैं।

उद्यान-निवासी रंग-रूपमें बहुत सुन्दर होते हैं। चीनी यात्री यद्यपि हमारी वेष-भूषा और मध्यमंडल (उत्तर-प्रदेश, बिहार) की वेश-भूषामें फर्क नहीं करते, पर दोनोंमें बहुत अन्तर है, यह हम जानते हैं। जिस रंगको मध्यमंडलमें गौर कहते हैं, उसे हमारे यहाँ काला कहनेमें भी संकोच नहीं किया जाता। मुझे मध्यमंडलमें जानेपर यह सुनकर हँसी आती थी, कि गर्भिणी माँके साग खानेसे शिशुका रंग काला या साँवला हो जाता है, और खीर खानेसे सफेद। हमारे उद्यानमें तो एक भी काला या साँवला आदमी देखनेको नहीं मिलता, और सागके मौसिममें हमारे यहाँकी गर्भिणियाँ खूब साग खाती हैं। मैं तो समझता हूँ, रूप-रंग माता-पिताके कारण होता है। चीनी और तुरुष्क लोगोंमें काले या साँवले आदमी नहीं दिखाई देते, लेकिन उनकी नाक चिपटी, गालोंकी हड्डियाँ उठीं, आँखें अर्धस्फुटित तथा तिरछे ऊपरको उठी होती हैं। जहाँ हमारे चेहरों पर घनी दाढ़ी-मूछ होती हैं, वहाँ इन लोगोंके चेहरेपर केशों का नाम मात्र पता लगता है। यह माता-पिताके कारण नहीं तो और क्यों?

देशाटन आदमीकी बहुत सी भ्रान्तियोंको दूर कर देता है, इसीलिये कूपमंडूकताको अज्ञानका पर्याय माना जाता है।

मेरे माता-पिता उद्यानके एक ऐसे गाँवमें रहते थे, जो अपेक्षाकृत अधिक सर्द था। कुनार और सुवास्तु जैसी विशाल नदियों के उद्गम हमारे गाँव से बहुत दूर नहीं थे। उन हिमाच्छादित शिखरोंको हम देखते थे, जिनके दाहिने-बाँयेसे ये दोनों नदियाँ निकलती हैं। गाँवके एक ओरसे सुवास्तुमें जानेवाली नदी बहती थी, जिसकी धारा छोटे-बड़े चट्टानोंके ऊपर उछलती रात-दिन घर्-घर् घर्-घर् स्वरमें कोई गम्भीर गीत गाया करती थी। पत्थरोंपर उछलता पानी दूधकी तरह सफेद दिखाई पड़ता था। बचपनमें मैं समझता था, यह सचमुच ही दूध है। लेकिन हाथमें उठानेपर वह पानी हो जाता था। कुछ नीचे, जहाँ हम गर्मियों में नहानेके लिये जाते थे, वहाँ पानीका एक कुण्ड बन गया था, जिसका रंग हल्का नीला या गहरे हरे रंगका था। गाँवसे ऊपर की ओरका सारा पहाड़ देवदार वृक्षोंसे ढँका था। जाड़ोंके दिनोंमें जब गाँवके और लोगोंके साथ हमारा परिवार भी घरको बन्द कर अपने पशु-प्राणियों को ले नीचेकी ओर प्रस्थान करता, तो मुझे गाँव छोड़नेका बड़ा खेद होता। कभी-कभी माँके साथ ननिहालमें मैंने जाड़े बिताये। वहाँ तीन-तीन हाथ मोटी सफेद बर्फ चारों ओर पड़ जाती। उस वक्त हम लड़के बर्फके कितने ही प्रकार के खेल खेला करते। मैं पूछता था, कि हमारा परिवार भी, जाड़ोंमें अपने ही गाँवमें क्यों नहीं रहता? माँ कहती—हमारे यहाँ और भी अधिक बर्फ पड़ती है, और कभी-कभी बर्फके सैलाब आ जानेका डर रहता है जिसके धक्केसे घरके घर चूर-चूर हो जाते हैं। फिर यहाँ जाड़े भर एक तिनका या घास पशुओंके लिये नहीं मिल सकता, और अपने जमा किये हुये घास-भूसेसे हम उनको दो महीनेसे अधिक नहीं पाल सकते। उस वक्त मेरी बाल-कल्पना कहती थी, कि यदि भीषण हिमवर्षामें भी सदा हरे रहनेवाले देवदारके पत्ते हमारे पशुओंके लिये घासकी तरह चारेका काम देते, तो कितना अच्छा होता? तब तो हम जाड़ोंमें भी अपने गाँवमें ही रहते।

मेरे पिता अपने चार भाइयोंमें सबसे छोटे थे, और सभी भाइयोंके अधिक प्रिय भी। दादाको मैंने नहीं देखा था, लेकिन दादीकी याद अब भी मुझे पूरी तौरसे है। उनके केश वैसे ही सफेद थे, जैसे हिमालयका हिम। वह सत्तर वर्षकी बतलाई जाती थीं, जिस साल उन्होंने शरीर छोड़ा और मैंने उद्यानभूमिको पहली बार कई वर्षोंके लिये परित्याग किया। इतने बुढ़ापेमें भी उनके चेहरेपर कहीं झुर्रियोंका पता नहीं था। शरीरसे भी और स्त्रियोंकी अपेक्षा वह अधिक ऊँची ही नहीं, बल्कि अधिक स्वस्थ और सुपुष्ट थीं। वह मुझे बचपनमें तरह-तरहकी कथायें सुनाया करतीं। मेरे दो चचा भिक्षु हो गये थे और तीसरेकी केवल दो लड़कियाँ ही थीं, इसलिये परिवारमें प्रथम पुत्रके रूपमें जब मैं पहले-पहल पैदा हुआ, तो घर भरका अनुराग सिमटकर मेरे ऊपर केन्द्रित हो गया। उसके बाद मेरे दो और भाई पैदा हुये। यह उन्हींकी कृपा समझिये, जो मुझे भिक्षु बननेका अवसर मिला। तथागतने माता-पिताकी आज्ञाके बिना किसीको भिक्षु बनाना संघको वर्जित कर दिया है, एकलौता पुत्र होनेकी अवस्थामें मेरे माता-पिता मुझे कभी आज्ञा न देते, इसमें सन्देह नहीं। मेरे सबसे छोटे भाईके जन्मके समय प्रसव-पीड़ासे मेरी माँका देहान्त हो गया। उस समय मैं दस सालका था। माँके लिये मेरा हृदय हमेशा भूखा रहता, जिसको तृप्त करनेके लिये मेरी दादी कोशिश किया करती थीं। पिताने माँके मरनेके बाद दूसरा ब्याह किया था, और मैं इसे स्वीकार करूँगा, कि मेरी सौतेली माँमें वैसी कोई बात नहीं थी, जो सौतेली माँके साथ हमेशा यादकी जाती है। शायद इसका कारण उनका चचेरी मौसी होना भी हो।

हमारा उद्यान पूरी तौरसे तथागतका अनुयायी है। पूर्वके पड़ोसी कश्मीर, दक्षिणमें गन्धार, पश्चिममें कपिशा और कम्बोजके देशोंमें भी तथागतके अनुयायी (बौद्ध) अधिक हैं, किन्तु वहाँ तीर्थिकोंकी भी संख्या पर्याप्त है। मैं समझता था, तथागतका स्वरूप जितना उज्ज्वल, उनकी देशना (शिक्षा) जितनी स्वच्छ और सुन्दर है, उसके अनुरूप शायद उद्यानकी भूमि ही सबसे अधिक है, तभी तो हमारे यहाँ सभी नरनारी, बाल-वृद्ध तथागतके प्रति इतना

प्रेम और भक्ति रखते हैं। जब मैं अपने उपाध्यायके पास ग्रन्थोंको पढ़ता और उसमें ब्राह्मणों तथा दूसरे तीर्थिकोंके विचारों और धार्मिक आचारोंकी बातें पढ़ता, तो मुझे यह समझना मुश्किल हो जाता, कि महेश्वर कैसा देवता है, विष्णु कैसे होते हैं। हमारे यहाँ उद्यानमें न तीर्थिकोंके देवालय सुलभ थे, और न उनके ग्रन्थ।

उद्यानमें, इसमें शक नहीं, कुछ ब्राह्मण भी थे, लेकिन वह भी तथागतके उपासक थे। इतना ही अन्तर था कि हम उनके प्रति विशेष सम्मान दिखलाते थे। हमारे यहाँके बाकी निवासी अधिकतर क्षत्रिय थे। अपनेसे भिन्न रँगवाले शिल्पकारोंको हम शूद्र मानते थे, लेकिन हमारे अधिक ठंडे स्थानोंके गावोंमें वह केवल गर्मियोंमें घूमने-घामने आते थे। वह हमारे बाणोंके लिए लोहेके फल, तलवारें बनाकर लाते, कुदाल और कुल्हाड़े भी वही देते। उनमेंसे कुछ हमारे लिये सोने-चाँदीके जेवर और कुछ धातुओंके बर्तन बनाते। हमारे बहुतसे बर्तन लकड़ीके होते। इस प्रकार हमारे उद्यानमें केवल तीन जातियाँ थीं। वैश्य केवल पुस्तकोंमें पाये जाते थे। जहाँ तक व्यापारका सवाल था, उसमें हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों शामिल थे। सचमुच हमारे रूप-रंग इतने समान थे, कि हम ब्राह्मण-क्षत्रियमें कोई भेद नहीं देखते थे। हमारा परिवार अपनेको क्षत्रिय कहता था। कुछ क्षत्रिय अपनेको शाक्य-वंशी कहकर अधिक कुलीन साबित करना चाहते थे, लेकिन वह शाक्य-मुनिके वंशज नहीं, बल्कि तुषार देशसे आये शक लोगोंकी सन्तान हैं, जिन्होंने बहुत समय तक जम्बू द्वीप, कम्बोज तथा दूसरे देशोंपर शासन किया था और जिनमें एकसे एक बड़े-बड़े राजा हुये। कनिष्क धर्मराज इसी वंशमें पैदा हुये, जिनके बनवाये विशाल संघारामों और चैत्योंके दर्शन मैंने कई बार किये। अब तो शक लोगोंकी भी प्रभुता खतम हो गई है, और उनका स्थान येथा (यन्ता) लोगोंने लिया है।

येथा लोगोंकी क्रूरताकी बहुत सी कथायें मैंने अपनी दादीके मुँहसे सुनी थीं। पर येथोंमें अब उस क्रूरताका पता नहीं लगता। येथा लोग भी शकल-सूरतमें हमारे उद्यानवासियां जैसे ही हैं, कुछ तो हमसे भी अधिक गोरे हैं।

वह लड़नेमें बहादुर हैं, लेकिन हमारे उद्यानवासी भी इस बातमें किसीसे पीछे नहीं हैं। इतने वीर होनेपर भी हमारे लोग क्यों कभी शकोंके आधीन रहे, और कभी येथोंके करद हुये? सोचनेपर मुझे तो यही मालूम हुआ, कि इसमें कारण हमारा संख्याबलमें कम होना था। मेरी दादी येथा राजा तोरमाणकी बड़ी प्रशंसा किया करती थीं।।कहती थी वह धर्मराज कनिष्क का अवतार था, लेकिन उसके पुत्र मिहिरकुल (५०८-४७ ई०) की वह बहुत निन्दा किया करती थी। मिहिरकुलके शासन कालमें ही मैं पैदा हुआ, और उसके मरने (५४७ ई०) के तीन वर्ष बाद मैंने अपनी जन्मभूमिसे सदाके लिये विदाई ली। हो सकता है, मिहिरकुल तरुणाईमें बहुत अत्याचारी रहा हो, लेकिन कश्मीरमें मैंने उसे देखा था, और उसके राज्यमें तो हम रहते ही थे। मैंने तो उसकी कोई क्रूरता नहीं देखी। हमारे लोग भी मिहिरकुलकी सेनामें शामिल थे। बाहर जानेपर उन्हें भी लोग येथा या हूण कहते थे। जब तक मैं महाचीन नहीं आया, तब तक मैं भी समझता था, कि येथा लोग हूण ही हैं। लेकिन, अब मालूम है, कि हूण तुरुष्कोंके पूर्वज थे, और शकल-सूरत रूप-रंगमें वह चीनियों जैसे थे। चीनके इतिहास से पता लगता है, कि हूण एक समय महाचीनवालोंके जबर्दस्त शत्रु थे, और उन्हींके आक्रमणसे रक्षा पानेके लिये महाचीनमें हजारों कोस लम्बी महादीवार बनाई गई। येथा वस्तुतः शकोंके भाई-बंद थे। शकोंको अपने देशसे भगानेवाले यही हूण थे। जो शक हूणों के भीतर रह गये थे, वह कितनी ही बातें हूणोंसे सीख गये थे। अवसर आने पर उन्होंने शत्रुओंके प्रति क्रूरता दिखलानेमें हूणोंको भी मात किया था, शायद इसीलिये लोग उन्हें भी हूणके नामसे याद करने लगे। हमने जिन येथा सरदारों और सैनिकोंको उद्यान, कश्मीर, गन्धार या कपिशामें देखा, स्वयं मिहिरकुलको प्रौढ़ावस्थामें जैसा देखा, उसीसे पता लग जाता था, कि इनका सम्बन्ध हूणों या तद्वंशज आवारों-तुर्कोंसे बिलकुल नहीं है। मिहिरकुलकी नाक वैसी ही लम्बी और नुकीली थी, जैसी हम लोगोंकी, और उसके बाल तथा दाढ़ी-मूँछ भी हमारी जैसी। उसके पिता "विजितावनि अवनिपति श्रीतोरमाण" के

सिक्के को देखनेपर ही मालूम हो जाता है, कि वह हूण नहीं हमारे जैसा था। वस्तुतः येथा शक वंशकी ही एक शाखा है, जिसके वीर नेता किदारने अपनी दिग्विजयों द्वारा कुषाणोंके राज्यको जहाँ अपने हाथमें लिया वहाँ मध्यमण्डलपर भी उसने दूर-दूर तक चढ़ाइयाँ कीं।

हमारे बहुतसे पहाड़ी लोग तो बल्कि यह जानते ही नहीं, कि मिहिरकुल कौन है, तोरमाण कौन था, या दुनियामें और दूसरे कौन-कौन राजा हैं। उद्यानका राजा ही हमारे लिये सब कुछ है। हम उद्यान-राजधानीमें तथागतकी जयन्ती-के उत्सवमें जाते और राजा-रानीको भक्ति-भावसे भगवान्‌की पूजाका तथा भिक्षु-संघको आहार-वस्त्र देते देखते, हमें वही सब कुछ मालूम होता। राजाके पास प्रतिष्ठित आसनपर बैठे एक सैनिक-सामन्तके बारेमें किसीने बतलाया, तभी मुझे पहलेपहल मालूम हुआ, कि हमारे राजाके भी ऊपर मिहिरकुल है, जो कश्मीरमें अपनी राजधानीमें रहता है, जिसकी मुद्रा हमारे यहाँ व्यवहारमें आती है, और जिसके सामन्त-प्रतिनिधिकी आज्ञा हमारे राजाको भी शिरोधार्य माननी पड़ती है।

शैशव जीवनका कितना मधुर और सुन्दर समय है। लेकिन शैशवकी स्मृति भी तो हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाती। मैं बहुत ध्यान देकर सोचता हूँ, तो भी वह चार वर्षकी अवस्थासे पहले नहीं जाती। उस समय मुझसे छोटी बहन पैदा हुई थी। मैंने माँकी गोदमें उसे बैठा देखकर बड़ी ईर्ष्या की थी। मैं अपनेको माँकी गोदका एकमात्र अधिकारी मानता था, तो भी वह गुलाबी रंगकी छोटी पुतली मुझे बुरी नहीं मालूम हुई। जब माँने कहा, कि तेरे खेलनेके लिये आई है, तो मुझे वह बड़ी प्यारी लगने लगी। मैंने अपने बाल-हाथोंसे उसे उठाना चाहा, पर असमर्थ रहा। मेरे प्रयत्नको विफल देखकर माँ और दादी हँसने लगीं। यही मेरी सबसे पुरानी स्मृति मुझे याद आती है। बेचारी बहन दो वर्ष बाद चल बसी। उस समय भी मुझे बहुत दुख हुआ था।

शैशवकी कितनी ही स्मृतियाँ याद हैं। अन्धेरेमें मैं उस वक्त कितना डरा करता था! अप्सराओंकी कथायें सुनता, भूतों और चुड़ैलोंकी बातें बतलाई

जातीं। अन्धेरा होते ही घरके हरेक कोनेमें, पेड़की हरेक छायाके नीच ये भयावने प्राणी भय पैदा करने लगते। मैंने सुना था, भूत और चुड़ैल बुरे होते हैं, किन्तु देवता और अप्सरायें अच्छी होती हैं। भूतों और चुड़ैलोंके देखनेकी हिम्मत तो मुझमें नहीं थी, लेकिन अप्सराओंके देखनेकी बड़ी लालसा रहती थी। अप्सराओंका जो रंग-रूप मैंने सुन रक्खा था, वह मेरी माँ और बुआसे अधिक मिलता-जुलता था, इसलिये मुझे उनसे डर नहीं था। जब ताजा-ताजा सफेद बर्फ पड़कर सब जगह बिछ जाती, पूर्णिमाका चाँद उगता और उसके मुँहको ढाँकनेमें सफल होकर भी रुईके गालेकी तरह आसमानसे झरती बर्फ उसके प्रकाशको विलीन नहीं कर पाती। उस समय मैं अपने झरोखेसे बड़े ध्यानसे देवदारोंके जंगल और अपने घरके बीचके चढ़ाववाले खेतोंकी सफेद भूमिकी ओर देखता। मैंने सुन रक्खा था, ऐसे ही समय अप्सरायें देवलोकसे उतरती हैं, और रुईके गाले जैसे नरम बर्फके ऊपर नाचती-गाती हैं। न जाने कितने वर्षों तक अप्सराओंके नृत्यको देखनेकी मैं कोशिश करता रहा। यदि पिता-माताका डर न होता, तो मैं उसी समय अप्सराओंसे मिलने घरसे बाहर निकल पड़ता। एक बार निकलकर मैं पासवाले बर्फसे ढके खेतों तक थोड़े ही रहता, मैं उन्हें ढूँढ़ते देवदारोंके भीतर दूर तक जाता। मैं बहुत ध्यानसे देखता, तो दूर देवदारोंके बीच पड़ी सफेद बर्फ पर परियों जैसी कोई चीज दिखलाई पड़ती। कभी उनकी सफेद पोशाक हिलती नजर आती और कभी सुनहले बाल भी। लेकिन कोई चीज स्पष्ट नहीं होती थी। सवेरे उठकर बर्फ देखता मैं दूर तक चला जाता। मुझे विश्वास था, यदि रातको अप्सरायें आई होंगी, तो उनके "पैरोंके निशान जरूर दिखाई पड़ेंगे।" लेकिन, मुझे कभी उनके पैरोंके निशान नही दिखलाई पड़े। छोटे-मोटे निशान मिले भी, तो उन्हें सयाने लोग भालू, भेड़िया या किसी दूसरे जानवरके पदचिन्ह बतला देते।

शैशवकालमें नौ-वर्षकी उमर तक मेरी दुनिया अत्यन्त सीमित थी। अपने परिवार और गाँवके आदमियोंके साथमें भी ऋतु अनुसार तीन स्थानोंमें हो

आया करता। बतला ही चुका हूँ, कि अपने बहुसंख्यक पशुओंके चारेका ख्याल करके अधिक ठण्डे स्थानमें बसा हमारा गाँव जाड़ोंमें नीचे सुवास्तुके किनारे ऐसे स्थानमें चला जाता, जहाँ बर्फ नहीं पड़ती थी। पहलेपहल जब नानीके यहाँ मैंने जाड़ा बिताया, और वहाँ सफेद बर्फके फर्श, और उसपर चाँदनीमें झरते हिमतूलोंको देखा, तो वह दृश्य मुझे इतना सुन्दर मालूम हुआ, कि मैं यही चाहता था, कि जाड़ोंमें नानीके यहाँ ही रहूँ। लेकिन, वह मेरे बसकी बात नहीं थी। नीचेकी ओर जाते समय हमें राजधानी (उद्यानपुरी) से गुजरना पड़ता। उस वक्तकी दुनियामें मेरे लिये उससे बड़ी कोई नगरी नहीं हो सकती थी। अब तक न मैंने पुरुषपुर (पेशावर) देखा था, न तक्षशिला, न कान्यकुब्ज और न पाटलिपुत्र। छाँग-आनकी यह विशाल नगरी तो बहुत पीछे तक मेरी कल्पनामें भी नहीं आ सकती थी। उद्यानपुरीमें मैं दूकानें देखता, जिनमें तरह-तरहकी चीजें बिका करतीं। मुझे कभी कोई अच्छा खिलौना मिल जाता, और कभी कोई मिठाई। हमारे गावोंमें न गुड़ होता न शक्कर, हम तो मधुको ही मिठाई समझते थे, और यही जानते थे, कि मधुमक्खियाँ हमारे लिये मीठा तैयार करती हैं। बाजारकी मिठाई खानेके बाद जब मुझे बतलाया गया, कि यह मधुमक्खियोंकी जमा की हुई मिठाई नहीं है, बल्कि एक पेड़से निकलती है, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उससे भी अधिक आश्चर्य और अविश्वासकी बात मुझे यह मालूम हुई, जब कि किसीने हमारे एक पूज्य भिक्षुके चीवर (कपड़ों) को दिखलाकर बतलाया, कि उसका ऊन किसी भेड़से नहीं, बल्कि पेड़पर पैदा होता है। इस बातको तो मैंने तब तक विश्वास नहीं किया, जब तक कि अपनी यात्राओंमें कपासके पौदेको अपनी आँखों नहीं देख लिया। कितनी ही बार उस आधे विश्वास और आधे सन्देहवाली अवस्थामें कल्पना दौड़कर कहती—जिस तरह मिठाई और कपड़े पेड़पर फलते हैं, उसी तरह यदि हमारा मांस भी पेड़पर पैदा होता, तो कितना अच्छा होता? अभी मैं यह न समझता था, कि गेहूँ, शाली (धान) और दूसरे अन्न तो उसी प्रकारके पेड़पर पैदा होनेवाले मांस हैं। हमारे देशमें कृषि और बागवानी यद्यपि कम नहीं थी, लेकिन

तो भी जीविकाका एक बड़ा साधन पशुपालन था। हम रोटी खाते थे, द्राक्षा तथा दूसरे स्वादु फलोंको सुखाकर साल भरके लिये रख लेते थे; तो भी मांस हमारे यहाँ जितना अधिक पसन्द किया जाता था, उतना अन्न नहीं। मध्य-मण्डल और सिंहल-द्वीपमें जानेके बाद ही विश्वास हुआ, कि हमारे यहाँके लोगोंका आहार मांसप्रधान है। उत्तरके घुमन्तुओंमें जब मुझे रहनेका मौका मिला, वस्तुतः तब मैंने देखा कि मांसप्रधान आहार कैसा होता है?

हमारे उद्यान देशमें महायानका प्रचार अभी उतना नहीं था। वहाँ सभी हीनयानके माननेवाले थे। उद्यानसे बाहर जानेके बाद मेरा सम्पर्क महायानके साथ हुआ, और उसे अपनानेमें तो और भी काफी देर हुई। मैं नहीं समझता हूँ, उद्यानमें कभी भी महायानका सफलतापूर्वक प्रचार हो सकेगा। हीनयान मांसके आहारको हिंसामें सम्मिलित नहीं करता, जब कि महायान चरम अहिंसाका प्रचार करता है। इसके कारण भिन्न-भिन्न देशकालके अनुसार उपासकोंकी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। मैं तुरुष्क (त्युरोक) लोगोंके डेरोंमें जब-तब जाकर उन्हें कुछ समयके लिये मांस परित्याग करने के लिये कहता हूँ, क्योंकि क्षुद्रसे क्षुद्र प्राणीको जीवन-दान देनेके लिये अपने सर्वस्वकी बाजी लगानेवाले बोधिसत्वोंके यान पर आरूढ़ होकर भला कैसे कोई किसी तरहकी हिंसाका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समर्थन कर सकता है? तो भी, मैं जानता हूँ, कि अहिंसामें भी मध्यमार्गके माननेवाले ही अधिक रहेंगे। अब जबकि तीस वर्षसे मैंने मांसको छूआ नहीं, तब भी उद्यानमें मेरे गाँवके लोग उसी तरह मांस खाते होंगे। उससे विरत होना उनके लिये खाद्यकी भारी कठिनाई उपस्थित कर देगा।

अपनी बालबुद्धि और बालदृष्टिसे उस समय मैं कितनी ही तरहकी कल्पनायें किया करता था। देवताओं और अप्सराओंको देखना चाहता था। फिर सनातनहिमसे आच्छादित सामनेकी शिखरपंक्तियोंमें अनेक अर्हतों और बोधिसत्त्वोंका निवास सुनकर मैं वहाँ भी पहुँचनेकी लालसा रखता था। इन लालसाओंकी पूर्तिके लिये मैं कहाँ-कहाँ नहीं गया, लेकिन सभी जगह निराश

होना पड़ा। अब मेरा उनपर विश्वास नहीं है, यह नहीं कह सकता। आखिर तथागतने भी उनके होनेके बारेमें कहा है, दूसरे भी बड़े-बड़े आप्तजन उन्हें मानते हैं ? शायद वह होंगे, लेकिन जबसे मैंने बोधिसत्वोंके यान महायानको दृढ़तापूर्वक अपनाया, तबसे मुझे उनके देखनेकी कोई लालसा नहीं रही। मैं तो यही चाहता हूँ, कि दुःखसे संतप्त प्राणियोंकी किस तरह सेवा कर सकूँ अवदानों और जातकोंमें तथागतने अपने चरित्रसे दिखलाया है, कि किस तरह हमारे जीवनका सर्वोच्च उद्देश्य उसके द्वारा दूसरोंका उपकार होना चाहिये। मेरे चमड़ेसे दूसरों के पैरोंकी रक्षाके लिये जूते बन सकें, तो इससे बढ़-कर उसका उपयोग क्या हो सकता है ? मैं तो कहता हूँ, मेरे मरनेके बाद मेरे शरीरको जलाया न जाय, बल्कि दूर किसी ऐसे स्थानमें छोड़ दिया जाय, जहाँ उससे पशु-पक्षियोंके भूखकी शान्ति हो सके। एक नहीं सहस्रों जन्मों तक मैं यही चाहूँगा, कि मैं सदा सभी सत्त्वों, सभी प्राणियोंकी सेवा करता रहूँ और जिसमें सभी संसार दुःखसे मुक्त हो जाये इसके लिये प्रयत्न करता रहूँ।

अध्याय २

पशुपाल-जीवन

उद्यान एक बौद्ध देश है, यह बतला चुका हूँ। हमारे यहाँ सात-आठ वर्ष-की उमरमें लड़कोंको श्रामणेर और लड़कियोंको श्रामणेरी बनानेका रवाज है, प्रत्येक परिवारसे एक व्यक्ति जरूर भिक्षु-संघको दे दिया जाता है। हमारे लिये संघाराम घर या गाँवकी तरह ही हैं। हरेक गांवमें बुद्धमन्दिर हैं, लेकिन संघाराम प्रायः चार-पाँच गाँवोंपर एक हुआ करते हैं। जब हरेक घरका कमसे कम एक व्यक्ति भिक्षु बनता हो, तो संघाराममें चचा या मामाका होना स्वाभाविक है। मेरे चचा भी भिक्षु थे। जब वह कभी-कभी हमारे घरपर भोजन या भिक्षाके लिये आते, तो यद्यपि संघके नियमके कारण मुझे गोदमें नहीं उठाते, लेकिन उनकी दृष्टि और बातचीतसे मैं उतना ही प्रसन्न होता, जितना माँ-बापसे। मैं अबोध शिशु था, तभीसे मेरे चचा भदन्त जिनवर्मा आते रहते होंगे, लेकिन मुझे उनकी स्मृति तबसे है, जब मैंने कुछ होश सँभाला। पिता-माता पंच-प्रतिष्ठितसे (सिर दोनों हाथ और दोनों पंजोंसे भूमिको छू) उन्हें प्रणाम किया करते, यद्यपि वह बयमें छोटे थे। वस्तुतः पहले मैं आम भिक्षुओंमेंसे उन्हें एक समझता था, पीछे किसीने बतला दिया कि वह मेरे चचा हैं। हमारे गाँवके और परिवारोंके मेरे साथ खेलने-वाले दो-एक लड़के सात-आठ वर्षकी उमरमें सिर मुड़ा, ताम्रवर्णके चीवरको पहन श्रामणेर बन संघाममराममें रहने लगे थे। मेरा बाल्य-हृदय भी भीतरसे बड़ा मचलता था, कि मैं भी वहाँ चला जाऊँ। लेकिन, अभी मैं अपने परिवारमें अकेला बालक रह गया था। यद्यपि इकलौते बेटेको संघको प्रदान करना हमारे

यहाँ भारी पुण्यका काम समझा जाता था, वह अनहोनी बात नहीं थी, लेकिन मेरे पिता-माता मुझे जुदा नहीं करना चाहते थे। जब मेरा दूसरा भाई पैदा हो गया, तो मुझे कुछ-कुछ आशा बँधी। मेरे साथ खेलनेवाले लड़के श्रामणेर बन अब कुछ लिखने-पढ़ने भी लग गये थे। मुझे खेल लिखने-पढ़नेसे अधिक पसन्द था, लेकिन तब भी मैं कभी-कभी अपने साथियोंके साथके लोभसे जाकर चचाके साथ रहनेके लिये उत्सुक जरूर हो जाता था। जब मैं भदन्त जिन-वर्मासे इसके लिये आग्रह करता, तो वह कहते—जरा ठहरो, हम तुम्हें जरूर ले चलेंगे। लेकिन, वह समय मेरे लिये जल्दी नहीं आया।

हमारे लोग त्यूरोंको (तुरुष्कों) की तरहके यायावर या घुमन्तू नहीं थे, न उनकी तरह हमारे गाँव तम्बुओंके झुण्ड थे। हमारे घर सुवास्तु (स्वात) तीरपर बसी राजधानी, मंगलपुर या दूसरे गाँवोंकी तरह चाहे विशाल और सुन्दर न भी हों, तो भी वह घर थे! हमारे गाँवके घरोंमें मिट्टीका कोई इस्तेमाल नहीं था, दीवारोंमें पत्थर भी बहुत कम लगे थे, नहीं तो सारा मकान देवदारकी सदा महकने वाली लकड़ी से बने थे। छतें भी लकड़ीके फलकोंसे ढँकी थीं, जिनके नीचे पानी न जाने देनेके लिये भोजपत्रकी छालकी मोटी तह बिछी रहती थी। लकड़ी हमारे लिये सबसे सुलभ चीज थी। घरके भीतर जरा भी सर्दी होते आग जला दी जाती। लेकिन घरोंको बहुत कुछ यायावरोंके तम्बुओंकी तरह हमारे यहाँ इस्तेमाल किया जाता। उसी तरह खाने-पीनेकी चीजें, चमड़े और कपड़े ढेर करके दीवारके सहारे रक्खे जाते। फर्क यही था, कि तम्बुओंसे हमारी कोठरियाँ बड़ी थीं, और वह कमसे कम दोमंजिला जरूर थीं। गाय-बैल, भेड़-बकरियोंके रखनेके लिये घरसे बाहर छोटा सा घेरा रहता जहाँ रात भरमें उनकी बहुत सी मेंगनी जमा हो जाती। हमारे यहाँ उनका इस्तेमाल खेतोंमें केवल खादके तौरपर होता। यह हमें बहुत पीछे मालूम हुआ, कि इन मेंगनियोंको ईंधनके तौरपर भी इस्तेमाल किया जा सकता है। जब रहनेके लिये हरेकके तीन या चार गाँव हों, तो जीवन घुमक्कड़ों जैसा क्यों न हो जाये।

जिस गाँवमें हम सबसे अधिक रहते थे, वहाँ के घर सबसे अधिक अच्छे

भी थे। यहाँ हमारे खेत भी ज्यादा थे। तीनों बस्तियोंमें थोड़ी या अधिक खेती होती थी,। गेहूँ, जौ, फापड़की फसल बोई जाती थी। चावल हम लोग खीरके लिये इस्तेमाल करते थे, जो कि गन्धारसे आता था। जब पहले-पहल मैंने गन्धशाली (बासमती) का नाम सुना, तो मुझे मालूम हुआ कि गन्धारकी शाली होनेके कारण ही इसका यह नाम पड़ा। हमारी चौथी बस्ती शुद्ध तम्बुओंकी थी, और वहाँका जीवन भी बिल्कुल भिन्न और विचित्र था। हम इस बस्तीमें उस समय पहुँचते, जब बरसात शुरू हो जाती। हमारे दूसरे और तीसरे गाँवोंमें भी बर्फ पड़ती थी, पर मुख्य गाँवमें जहाँ वह तीन-चार हाथ मोटी होती, वहाँ तीसरे गाँवमें उसकी मोटाई दसियों हाथ होती। इन तम्बुओंकी बस्तीवाले स्थानोंमें तो उसकी मोटाईका ठिकाना नहीं था। गर्मीके अन्तमें हम जब पहलेपहल वहाँ पहुँचते, तो अब भी कितनी ही जगहों-पर बर्फ दिखाई पड़ती। हमारे तीनों गाँवके आसपासवाले सारे पहाड़ घने जंगलोंसे ढँके थे, जिनमें कहीं-कहीं भूमिको कुछ समतल करके खेत बनाये गये थे। लेकिन, तम्बुओं की बस्ती वाली भूमि (पयार) में चार हाथकी भी कोई झाड़ी नहीं थी। लड़कपनसे ही अभ्यस्त होनेसे मेरा ध्यान इस ओर नहीं जाता था कि हमारी चारों बस्तियोंके स्थानोंमें वृक्षों और वनस्पतियोंमें एक ही तरहकी जातियाँ क्यों नहीं देखनेमें आतीं। जाड़ोंमें जिस जगह हम रहते, वहाँ शायद ही कभी बर्फ पड़ती। वहाँके वृक्ष तथा घास-तृण हरे बने रहते, जिनके ही लोभसे हम अपने ढोरोंको लेकर वहाँ जा डेरा जमाते। निचले और मुख्य गाँवमें देवदार, बंज (बान) आदिके वृक्ष ज्यादा थे, जिनके पत्ते कड़ीसे कड़ी सर्दी और हिमवर्षामें भी नहीं गिरते थे। एक तरह कह सकते हैं, कि यहाँ पतझड़ कभी नहीं होता, या थोड़ा-थोड़ा करके बारहों महीना होता रहता था। हमारी तीसरी बस्तीमें देवदार और दूसरे सुई जैसे पत्तेवाले वृक्षोंकी बहुतायत थी। सबसे ऊँचे के स्थानोंपर सफेद छालवाले भुर्ज (भोजपत्र) के वृक्ष ही दीख पड़ते थे। देवदारकी लकड़ीको जहाँ हम घर बनाने या जलानेके लिये इस्तेमाल करते थे, वहाँ भुर्ज हमारे और भी कितने ही कामोंमें इस्तेमाल होता था। हम उसकी

छालके दोने बना लेते, जिसमें मक्खन, दही या दूसरी चीजें रखते। हमारे यहाँ लिखने-पढ़नेके लिये भी उसका काम था। हमारी पुस्तकें भुर्जपत्रके ऊपर लिखी जातीं। जब मैं पाटलिपुत्र पटना के अशोकाराममें रहने लगा, उस समय वहाँके भिक्षुओंके अज्ञान को सुनकर मुझे बड़ी हँसी आती थी। वह भुर्ज छालको पत्ता समझते थे। मेरे कितने कहनेपर भी माननेके लिये तैयार नहीं थे और हठ करते—यदि यह पत्र नहीं होता, तो इसका भुर्जपत्र नाम क्यों पड़ा। मैं भला कैसे मान सकता था, कि वह पत्र है, जब कि मैं बचपनसे ही चाकूसे इन सफेद वृक्षोंकी अंगुल भर मोटी लम्बी-चौड़ी छालको काट कर उसमेंसे बारीक परत निकालनेका खेल खेला करता था। मैंने उन्हें बतलाया भुर्जपत्र नाम उन लोगों का दिया हुआ है, जिनके यहाँ इतनी सर्दी और भारी हिमवर्षा नहीं होती, कि वहाँ यह वृक्ष उग सके। लिखनेके लिये वह तालके पत्तोंका इस्तेमाल करते थे, जिसकी ही नकल पर उन्होंने हिमवन्त देशकी इस लेखन-सामग्रीका नाम भी भुर्जपत्र रख दिया।

यह तो मालूम ही हो गया, कि हम उद्यानवासियों, विशेषकर उद्यानके ऊपरी काँठेमें रहनेवालोंका जीवन भी एक तरहका यायावरी जीवन है, घर और गाँव रहते भी हम एक जगह साल भर नहीं बसे रहते। लेकिन, मुझे तो सबसे प्रिय वह जीवन था, जिसे बहुत कुछ शुद्ध घुमन्तुओंका जीवन कह सकते हैं। यदि गर्मियोंमें हम अपने जाड़ेके रहनेवाले स्थानोंसे चलते, तो वर्षामें रहनेके स्थानों (पयारों, बुग्यालों) में पहुँचनेमें एक पखवारेसे ज्यादा नहीं लगता, और उस समय इस सारी यात्रामें स्पष्ट मालूम हो जाता, कि जितनी ऊँचाई अधिक होती है, उसीके अनुसार सर्दी बढ़ती जाती और उसीके अनुसार वृक्षों और वनस्पतिकी जातियोंमें भेद होता जाता है। वर्षामें वैसे हमारे गाँवके स्थानोंमें भी घासकी कमी नहीं थी, लेकिन अनादिकालसे हमारे लोग देवदार और भुर्जके वृक्षोंसे ढँके पहाड़ोंके पृष्ठभाग पर पशुचारण करना अधिक पसन्द करते चले आये थे। इन जगहोंपर पहुँचनेसे दो-चार कोश पहले ही बड़ी जातिवाले वृक्ष भी बौने होने लगते, और अन्तमें घासके लिये वह स्थान

छोड़ देते। नीचेसे देखने-वालोंको कभी विश्वास भी नहीं हो सकता, कि पत्थरोंसे ढँके बीहड़ चढ़ाईवाले इन पहाड़ोंकी पीठपर दूर तक बड़ी विस्तृत समतल किन्तु कितनी ही जगह उतार-चढ़ाववाली भूमि है, जहाँ लम्बी-लम्बी घासें उगी हुई हैं। घास ही नहीं, बल्कि कहीं-कहीं जङ्गली गेहूँका जंगल भी दिखाई पड़ता है। हाँ, यह जंगली गेहूँ ठीक हमारे गेहूँ जैसा होता है, जहाँ तक पत्तों और डण्ठलका सम्बन्ध है, लेकिन दाना छोटा और पतला होता है। यहाँ सबसे दुर्लभ चीज थी लकड़ी, जिसे काटकर लानेके लिये हमें तीन-तीन, चार-चार कोश नीचे उतरना पड़ता। पर्वतपृष्ठोंकी इन चरागाहोंमें यद्यपि गाँवकी तरह सीमा नहीं बनी थी, लेकिन सभी गाँववाले जानते थे, कि उनकी गोचरभूमि कहाँ तक है। गावोंमें जहाँ हर घरके खेत अलग-अलग होते, वहाँ इन गोचरभूमियोंमें मेरा और तेराका सवाल नहीं था, सारे गाँवकी गोचर भूमि ही नहीं, बल्कि हमारे निवासके झोपड़े भी सम्मिलित थे, खाना भी सम्मिलित बनता था। सिर्फ यहाँ तैयार किये हुये मक्खनको अलग-अलग रक्खा जाता। गाँवसे हमारे लिये आटा, सत्तू, नमक या अनाजकी चीज हर पखवारे या महीने आया करती, उसी समय जमा किया हुआ मक्खन, कभी-कभी मांस और चमड़ा भी घर भेज दिया जाता। ऊन हम यहाँसे घर लौट कर कतरते। हमारे लिये मांस, दूध, दही, मक्खन वैसे ही सुलभ थे, जैसा कि हमारे पशुओंके लिये घास और तृण। चीनमें आकर मैंने मांसको छोड़ दिया। इसी समय मैं समझने लगा, कि उद्यानवासियोंको हीनयान क्यों अधिक प्रिय है—क्योंकि मांस छोड़ना उनके लिये अपने सबसे अधिक सुलभ खाद्यसे वंचित होना है। अब तो मुझे उस क्रूरताके ख्यालसे भी बहुत जुगुप्सा होती है, लेकिन उस वक्त सद्योजात भेड़-बकरीके बच्चेके मांसको भूनकर हम लड़के बड़े चावसे खाया करते थे। सद्योजात बच्चेका चमड़ा और ऊन अत्यन्त मुलायम होता, उनका काला चमड़ा तो तूलाजिन (समूर) जैसा ही कोमल और चमकीला होता है। उसीके लोभसे उन्हें दुनियाको एक नजरसे देखनेका भी अवसर न दे मारकर चमड़ेको अलग कर लिया जाता है। उनके मांस को बहुत ही स्वादिष्ट समझ अतिथिको खिलाकर गृहपतिको बहुत प्रसन्नता

होती। भिक्षु लोग—हीनयानी होनेपर भी—अपने लिये मारे गये पशुका मांस नहींखा सकते थे, अपने लियेका मतलब खास व्यक्ति के निमित्त मारकर तैयार कया हुआ मांस समझना चाहिये, नहीं तो यह किसे मालूम नहीं, कि पशुओंको नुिष्योंकी जमातोंके निमित्त ही मारा जाता है। ऐसा मांस चरवाही झोंपड़ोंमें मयार होता, तो भिक्षु भी उसी चावसे खाते, जैसे हम बच्चे।

इन पथारों (पयारों, बुकयालों) का जीवन मेरे लिये सदासे आकर्षक रहा। जिस समय मैं पहली बरसातमें वहाँ जाकर रहा, उस समय भी और आज भी ७० वर्षका होकर मुझे पयारोंके जीवनको स्मरण करके बड़ी ईर्ष्या होती है। आज भी हमारे उद्यानके पयारोंमें उसी तरह चहल-पहल होगी, जैसी कि मेरे या मेरे बाप-दादोंके बचपनमें। वहाँ सवेरेके वक्त पशुओंको खोलने और शामके वक्त बाँधनेकी आवश्यकता नहीं थी। अपने ही आप वह रातके विश्रामके लिये डेरोंके पास चले आते। जिनका दूध दुहना होता, उन्हें सवेरे दू लिया जाता, और इसके लिये उनके बच्चे शामको ही अपने झोपड़ोंमें बाँध दिये जाते। सवेरे सत्तू, उबला मांस खाते। दूधके लिये जब वहाँ पूछना नहीं था, तो छाछकी बात क्या? हम लड़के सवेरे का भोजन करके रेवड़ोंमें चले जाते, जो हमसे पहले ही घासके मैदानमें बिखर गये रहते। हमारे पशुओंके शत्रु यहाँ भी उसी तरह मौजूद थे, जिस तरह हमारे गाँवोंके आसपास। बर्फानी चीते इक्के-दुक्के पाकर ढोरोंको मार डालते, लेकिन समूहबद्ध होकर हमारे सींगवाले जानवर बड़ेसे बड़े चीते क्या बाघ या सिंहको भी पास फटकने नहीं देते। बाघ और सिंह हमारे जाड़ेके रहनेके स्थानोंमें ही रहते थे, शायद ठंडसे वह भी घबराते हैं। हमारी भेड़-बकरियोंके सबसे बड़े शत्रु भेड़िये थे। बेचारी संघबद्ध हो करके भी उनसे अपनी रक्षा नहीं कर सकती थीं। लेकिन, हमारे कुत्ते भेड़ियोंका मुकाबिला करनेके लिये तैयार थे। कुत्तोंको हम पशुओंमें नहीं गिनते। वह तो हम मनुष्योंके समाजके अंग थे। सवेरेके वक्त उन्हें भी उसी तरह खाना दिया जाता, जैसा बच्चों या सयानों को। जब हम पशुचारणके लियेनिकलते उससे भी पहले वह भेड़-बकरियोंके खेड़ों के साथ चल देते। भेड़ियोंसे भी

हमारे कुत्ते थे। उनके काले लम्बे बाल और हल्दी जैसी पीली आँखें बड़ी डरावनी थीं। अपरिचित आदमीकी खैरियत नहीं थी, यदि बिना सजग हुये निहत्था वह उनके पास आ जाता। कुत्ते कितने होशियार होते हैं! मनुष्यके बाद शायद ही कोई जन्तु हो, जो इतना समझदार हो। भेड़िया बड़ा चालाक समझा जाता है, लोमड़ी उसका भी कान काटती है, लेकिन मैं नहीं समझता, बुद्धिमें वह दोनों हमारे कुत्तोंका मुकाबिला कर सकते हैं।

अपने पशुओंके साथ दिनभर रहनेमें हम लड़कोंको अपार आनन्द आता था। हमारे झोपड़ों या तम्बुओंमें स्त्रियों-पुरुषों, लड़कों-लड़कियोंकी संख्या यद्यपि एक समान नहीं थी, क्योंकि बूढ़े-बुढ़ियाँ और उसके बाद बच्चेवाली स्त्रियाँ अधिकतर गाँव में ही रह जाती थीं। यहाँ उन्हें ही साथ लाया जाता जिनकी कामके लिये आवश्यकता होती। छ-सात वर्षसे ऊपरका लड़का-लड़की शायद ही कोई होता, जो वर्षामें पयारोंमें नहीं पहुँचता। यहाँ हर गाँवके सातसे चौदह-पन्द्रह वर्ष तकके लड़के-लड़कियोंकी पलटन जमा हो जाती थी। भिक्षु-जीवनमें मुझे कितना सुन्दर मालूम होता, जब देखता कि हम लोग भिक्षासे लाये या संघाराममें बने भोजनको एक पाँतीमें बैठ मिलकर खाते। मुझे पहलेपहल ख्याल आया, कि इस तरहके सम्मिलित सहभोजका विधान तथागतने हमारे उद्यानके पयारोंके जीवनसे ग्रहण किया था। मुझे और मेरे देशवासियोंको विश्वास था, कि तथागत अपने अनेक जन्ममें हमारे उद्यानमें पैदा हुये थे। मैंने उस स्थानका भी दर्शन किया था, जहाँ तथागतने कबूतरका जन्म लेकर अपने शरीरका दान दे दूसरे प्राणी भूख शान्तकी थी। उद्यानकी राजधानीसे दक्षिण-पूर्व आठ दिनके रास्तेपर उस स्थानपर भी मैं गया था, जहाँ बोधिसत्त्वने अपना शरीर दान दे एक बाघिनकी भूख मिटाई थी। पीछे मेरा यह विश्वास कुछ डिग चला, जब मैंने अपने भ्रमण में भिन्न-भिन्न देशोंमें ऐसे स्थानोंको पूजे जाते देखा, जहाँपर तथागतके उन्हीं अवदानोंके घटनास्थलोंको बतलाये जाते देखा, जिन्हें मैं उद्यानकी अपनी चीज समझता था।

दोपहरके समय हमें हर रोज खानेके लिये आनेको कहा जाता, लेकिन हम बहुत कम उस समय लौट पाते। इसका कारण यही नहीं था, कि हम अपने पशुओंके साथ उस समय दो-दो, तीन-तीन कोशपर चले गये रहते, बल्कि हमारा तो वह खेल-कूद और निश्चिन्त मनोविनोदका जीवन था। उस जीवनमें हमें फ़ुर्सत ही कहाँ थी, कि उसे छोड़कर हम अपने झोपड़ोंमें लौटते। हमारी पीठकी झोलियोंमें भुने हुए गेहूँ, उबले मांस या रोटियाँ रहतीं। भेड़की ताजा झिल्लीमें भरा हुआ छाछ या दूध भी हम अपने साथ रखते, इसलिये जब भूख लगती, तो हम किसी जगह बैठकर खा लेते। यहाँ हमारा सम्बन्ध अपने गाँवके बच्चों तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि दूसरे गाँवोंके बच्चे भी हमें मिल जाते और खेल तथा भोजनमें हमारे सहभागी बनते। उमरके अनुसार दो ही तीन वर्षके अन्तरसे लड़के-लड़कियोंकी हमारी मिश्रित टोलियाँ बन जातीं, कभी-कभी लड़कियाँ अपनी समवस्यकाओंकी अलग भी टोली बना लेतीं, नहीं तो प्रायः हम सभी एक टोलीमें रहते।

पशुओंके मुँहमें तृण हमें हाथसे देना नहीं था। वह अपने आप लम्बी घासोंमें कुछ देर चरते, फिर विश्राम करने लगते और फिर चरते। उनकी रखवालीके लिये हमारे कुत्ते मौजूद थे ही। कभी-कभी जब किसी संकटको देखकर कुत्ते भूँकने लगते, तब हमारा ध्यान उस ओर जाता, और बहुधा हम अपना खेल छोड़कर वहाँ दौड़ जाते। हमें खेलोंके साथ शिकारका भी शौक था। खरगोशको घेरकर अपने कुत्तों की मददसे हम मार लेते, फिर सूखी लकड़ियोंके लिये दौड़ जाते। हमारे पास आग जलानेके लिये चकमक-पत्थर मौजूद था। आगपर भुने खरगोशोंको हम बड़े चावसे खाते। जिस दिन हमें शिकारमें सफलता होती, उस दिन तो हमारे आनन्दकी सीमा नहीं रहती। हाथ भरका छुरा हम बचपन हीसे लटकाना जानते, तीर-धनुष चलाना भी हम खेल-खेलमें सीख लेते। यद्यपि मेरा निशाना उतना अचूक नहीं होता; लेकिन मेरे साथियों—लड़के और लड़कियों दोनों—में कितने ही ऐसे थे, जिनका तीर कभी नहीं चूकता। हम लड़के-लड़कियाँ छोटे-छोटे पत्थरोंको डालकर गोफनसे भी शिकार करते,

यद्यपि उसका अधिक उपयोग हम भेड़िया या किसी और जानवरको डराकर भगाने या अपने पशुओंको हटानेके लिये ही करते। बच्चे बड़ोंकी हर बातमें नकल करते हैं। सात वर्षका बच्चा दस वर्ष वालेकी, दसवाला बारहवालेकी; इसी तरह चौदह-पन्द्रहवाला अपनेसे ऊपरवालोंकी नकल करता है। शामके वक्त जब हमारे गाँवके लोग और कामोंसे निश्चित हो जाते, तो शराब पीते और फिर बाजे बजने लगते। स्त्री-पुरुष आधी-आधी रात तक नाच और गानेमें बिता देते। इस आमोद-प्रमोदमें हमें सम्मिलित होनेका अवसर नहीं मिलता था, हम उसकी कसर दिनमें अपनी चरवाहीके समय निकालते। बंशी बजानेका लड़कोंको बहुत शौक होता है, गानेमें लड़के-लड़कियाँ चाहे उतने गीत न जानते हों, लेकिन स्वर और ध्वनिमें बड़ोंसे पीछे नहीं थे। इसका खेद रहता, कि हम ढोल जैसे दूसरे बाजे यहाँ नहीं बजा सकते थे। शायद छोटा-मोटा ढोल या कोई दूसरा बाजा हम चुराकर भी ला सकते थें, लेकिन हमारे बड़े यह कैसे पसन्द करते, कि हम चरवाही छोड़कर उनकी रातकी महफिलका अनुकरण करें। इन पयारोंमें ढोलकी आवाज और भी बहुत दूर तक फैलती, फिर बड़ोंको मालूम होते देर न लगती, और हमें घुड़की सहनी पड़ती। इसीलिये हम बाजेके नामपर बंशी और लकड़ीपर ताल देकर संतोष कर लेते।

हमारे खेलोंमें एक और भी बड़ी बाधा थी। पशुओंमें जानेके समय हममेंसे हरेकको पाव-छटाक ऊन और तकला दे दिया जाता। शामको उसका सूत कातकर लौटाना पड़ता। जिन्हें घुड़की और मार खानेकी आदत होती, वह कातनेकी कम ही पर्वाह करते, लेकिन मेरे जैसे लड़के-लड़कियाँ रोज नियमपूर्वक अपने ऊनका सूत कातकर शामको लौटा देते। हम ऐसे समय किसी ऊँची जगहपर बैठ जाते, जहाँसे हमारी नजर अपने पशुओंपर भी रहती। मंडरी बाँधकर जैसे हम बैठते, उसी तरह हमारे आसपास हमारे कुत्ते भी बैठे होते। फिर एक ओर हमारा हाथ तकलेपर चलता और दूसरी ओर हमारे कंठोंसे बालसुलभ गीतोंका सुर निकलता। हमारे पहाड़के लोग, विशेषकर उद्यानवासी अपने मधुर कण्ठके लिये बहुत मशहूर हैं। वस्तुतः बचपनसे ही हम उसी तरह गाना गाने लगते हैं

जिस तरह साँस लेते हैं। अपनी उमरके लड़कोंमें मेरा गला बहुत मधुर था, और उससे भी अधिक बात यह थी, कि स्मृति तेज होनेसे मुझे बहुतसे गीत याद थे, जिसके कारण मैं अपने समवयस्क लड़के-लड़कियोंमें बहुत प्रिय था। जब गीतकी हरेक पंक्तिको समाप्त करते समय हम लम्बी तान लेते, तो दूर-दूर तक हमारा स्वर गुंजित हो उठता। मुझे क्या सभी बच्चोंको यह विश्वास था, कि हमारे गानेको सयाने लोग जरूर सुनते हैं। शायद उन्हें भी अपने बचपनकी मधुर स्मृतियाँ याद आती थीं, इसीलिये भेड़-बकरियोंको अपने भाग्यपर छोड़कर हमें अपनी संगीतमण्डली रचाते देखकर वह कुपित नहीं होते, और न हमें झिड़की खानी पड़ती थी।

यह वर्षाका समय था, इसलिये चरवाही करते समय अक्सर वर्षा आ जाती। हमारे डेरोंमें कुछ तम्बू भी होते, जो बकरियाँ या घोड़ोंके बालोंके सूतसे बुने थानोंसे बनाये जाते। लेकिन त्यूरोक घुमन्तुओंकी तरह हम केवल तम्बुओंका उपयोग नहीं करते थे। शायद पास हीमें घास और दो-चार कोशपर लकड़ी सुलभ न होनेपर हमें भी केवल तम्बुओंसे ही अपने को ढँकना पड़ता। हमारे रहने के लिए अधिकतर झोपड़े होते थे। इन पर्वतपीठोंपर जल-वर्षाके अतिरिक्त कभी-कभी हिम-वर्षा भी हो जाती। जब लगातार झड़ी पड़ने लगती, सर्दी हमारे मोटे ऊनी चोगे और सुत्थनको फोड़कर चमड़ों और हड्डियोंको बेधती मालूम होती, तो हम जान जाते, कि अब पानीकी जगह हिमकी वर्षा होगी। लेकिन, इस मौसिममें पड़ा हिम दिनके कुछ घंटोंसे अधिक नहीं ठहर सकता था। हम यह जरूर समझते थे, कि जाड़ोंमें यहाँ उससे कहीं अधिक मोटी हिम चारों ओर धरतीको ढाँके रहती होगी, जितना कि हमारे गाँवोंके आसपासकी भूमिमें। ऐसे समय हमारी भेड़ें मानो स्वयं सजग हो जातीं और बादलोंकी घनी छायाको छाते देख उन्हें सन्ध्याके आगमन का पता लगता और वह डेरोंकी ओर लौट पड़तीं। ऐसे समय जंगली जानवरोंके हमलेका ज्यादा डर रहता। हमारे पशुओंको हर साल जंगली जानवरोंसे नुकसान पहुँचता। कितना ही सजग रहनेपर भी वह हर साल कुछको मारनेमें सफल होते। किसी जानवरके

आक्रमण होनेपर हम हल्ला करके मृत जानवरको छीननेकी कोशिश करते।

हमारे अधिक धर्म-भीरु बूढ़े और सयाने जानवर द्वारा मारे गये पशुके मांसको अधिक शुद्ध मानते थे, क्योंकि उसके लिये हिंसा नहीं करनी पड़ी। तथागतने अहिंसाके सम्बन्धमें बहुत से उपदेश दिये हैं, जिनको हमारे भिक्षु दोहराया ही करते हैं, इसलिये इस तरहकी भावना स्वाभाविक थी। कभी-कभी कोई बर्फानी चीता ढोरोंपर हमला करनेमें सफल होता, किसी गाय, बैल या बछड़ेको मार डालता। उस समय हम यदि समयपर पहुँच जाते तो बहुत सारा मांस मिलता। ऐसा भी अवसर आता, जब इस मांसको एक बारमें समाप्त करनेके लिये हम गाँव भरको नहीं, बल्कि सारे पड़ोसियोंको भोजका निमन्त्रण देते। भोज बिना शराबके नहीं हो सकता था। चमड़ेके बड़े-बड़े कुप्पोंमें गेहूँ या जौकी कच्ची शराब गाँवसे हमारे यहाँ बराबर आती रहती थी। त्यूरोकोंमें आनेसे पहले मुझे मालूम नहीं था, कि घोड़ीके दूधकी भी शराब बन सकती है। हमारे यहाँ घोड़े-घोड़ियाँ भी काफी थीं, यद्यपि हमारे घोड़े कम्बोजोंकी तरह बहुत लम्बे-चौड़े नहीं होते थे, लेकिन वह ठिगने होते भी बहुत मजबूत होते थे। पहाड़की यात्रामें तो उनसे अधिक अनुकूल घोड़े हो ही नहीं सकते थे। कठिनसे कठिन चढ़ाई और सँकरेसे सँकरे रास्तेमें वह खट-खट चढ़ जाते। हमारे यहाँ चमर नहीं पाले जाते, जैसा कि शीतसमुद्रके आसपासवाले लोगोंमें मैंने देखा। मैं भी पहले समझता था, कि चमर एक प्रकारका मृग या हरिन है, लेकिन जब मैंने उसे मध्यमण्डलके ग्राम्यपशु भैंस जितने बड़े और हाथ-हाथ भर लम्बे काले बालोंसे ढँका देखा, तो सन्देह नहीं रहा, कि यह हरिन या मृग नहीं है। और जब यह भी देखा, कि साधारण गाय और चमरके संयोगसे सन्तान पैदा होती है, और उसका वंश बराबर चलता है, तो विश्वास हो गया, कि यह गायकी ही जाति है। आखिर मनुष्योंमें भी तो त्यूरोकोंके चेहरे-मोहरे दूसरी तरहके होते हैं, और हम उद्यानियोंके दूसरी तरहके। दक्षिणी जम्बू द्वीपमें तो रंगमें और भी अधिक भेद मिलता है, वहाँ कोयले जैसे काले स्त्री-पुरुष अधिक मिलते हैं।

हमारे पयारके जीवनमें केवल आमोद-प्रमोद, पशुचारण और पशुदोहनका जीवन ही सम्मिलित नहीं था। कितनी ही बार हमारे भदन्त भिक्षु निमंत्रित हो वहाँ पर पहुँचते थे, और कभी-कभी वह स्वयं चारिका करने चले आते। हमारे लोगोंके लिये पहाड़ोंकी दुर्गम चढ़ाई-उतराई कोई कष्टकी बात नहीं है। हमारे उद्यानके भिक्षु तो बाल्यमें पयारके पशुपाल जीवनका आनन्द ले चुके रहते थे, इसलिये उनका इधर अधिक आकर्षण भी था। वह जब आते, तो हमारे झोपड़ोंमें बड़ी सरगर्मी दिखाई पड़ती। यदि कोई संघारामका महास्थविर आता, तो हमारे नाच-गानेके बाजे उनके स्वागतके वाद्य बन जाते। झोपड़ोंके सभी नर-नारी, बालक-बालिकायें अगवानीके लिये बाजे-गाजेके साथ जाते, सब उनके सामने पंचप्रतिष्ठितसे अभिवादन करते, उनका आशीर्वाद लेते और फिर गीत और वाद्यके साथ उन्हें अपने झोपड़ोंमें लाते। कभी-कभी उनके ठहरनेके लिये नये झोपड़े बना दिये जाते। जो एकसे अधिक होनेपर भिक्षुओंके छोटेसे संघारामका रूप ले लेते। वर्षाका अन्त होनेपर दो-चार ही दिन हमारे डेरोंमें रहते। लेकिन वर्षाके दिनोंमें भिक्षु गमनागमन नहीं कर सकते, इसलिये इस समय आनेपर वह वर्षावासके लिये हमारे डेरोंमें ठहर जाते। अमावस्या और पूर्णिमाको विशेष पूजा होती। लोग उस दिन मांस नहीं खाते। दोपहरके वक्त केवल एक बार आहार करके उपोसथ व्रत रखते। शामके वक्त भक्ति-भावसे सब लोग धर्मश्रवण करनेके लिये एक जगह एकत्रित होते, जहाँ हमारे भदन्त उन्हें बड़े रोचक ढंगसे उपदेश करते।

पयारमें एक साल महास्थविर संघवर्धन पाँच भिक्षुओं और चार-पाँच श्रामणेरों (बालभिक्षुओं) के साथ हमारे आवासमें वर्षावास कर रहे थे। उन्होंने जातक-अवदानकी सौ कथायें कहीं। उनके कहनेका ढंग इतना सरल था, कि मेरे जैसा दस-ग्यारह वर्षका बालक भी बहुत कुछ समझ सकता था। इन कथाओंमें पशु-पक्षियोंकी बातें अधिक आती थीं, जिसके कारण भी हम बच्चोंके लिये वह बड़ी दिलचस्प थीं। उस समयकी सुनी हुई कथाओंमेंसे, विशेषकर उनके कहे हुये ढंगमें, कितनी ही अब भी मुझे याद हैं, यद्यपि स्मृति

क्षीण होती जा रही है। वर्षावासकी समाप्तिपर जब आश्विन पूर्णिमाको प्रवारणाका दिन आया, भारी उत्सव मनाया गया। उपदेश सुननेके लिये दूसरे गाँववाले हमारे पड़ोसी नर-नारी भी उसी तरह हमारे यहाँ आ जाया करते थे, जिस तरह उनके यहाँ ऐसा आयोजन होनेपर हमारे लोग जाते थे। प्रावारणाके दिन महोत्सवमें कई-कई कोश तकके डेरेवाले हमारे यहाँ पहुँचे थे। उस समय तथागतके जीवनपर महास्थविरने बहुत सुन्दर और विस्तृत उपदेश दिया। रात एक पहर रह गई थी, जब वह उपदेश समाप्त हुआ। अवदान कथाओंके सुननेसे वह इतनी अच्छी लगने लगी थीं, कि जब इस अन्तिम कथाकी बात मैंने सुनी, तो रातको कहीं नींद न आ जाये, इसलिये मैंने दिनमें ही खूब सो लिया था। रातको मैं दूसरोंसे भी अधिक तत्परताके साथ कथाको सुनता रहा। मेरे पास बैठी मेरी प्रौढ़ा बुआ और उनके भाई—मेरे पिता—आधी रात बीतते-बीतते ऊँघने लग गये थे, मेरी उमरके कितने बच्चे तो वहीं सो गये थे, लेकिन मेरी पलक भी नहीं झपी। महास्थविर संघवर्द्धनने जम्बू द्वीपकी अनेक बारकी यात्रा की थी, कई सालों जेतवन महाविहारमें रहकर उन्होंने अध्ययन किया था। उनकी जैसी आकर्षक, शौनवर्द्धक मधुर और सरल वाणी मैंने बहुत कममें पाई। उन्होंने तथागतके बाल्य-जीवनका जब सजीव चित्र खींचा, तो वह मुझे अपने समवयस्क और प्रिय विनोदी मित्रसे जान पड़े। उनके वर्णनमें कुछ बातें ऐसी जरूर थीं, जो मुझे उस समय समझमें नहीं आईं। मैं तो समझता था, सारी दुनिया हमारे उद्यानकी तरह ही ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंकी है, जहाँ सालमें कुछ महीने बर्फ जरूर पड़ा करती है। लेकिन, महास्थविर तथागतकी जन्मभूमि घूमे हुये थे उन्होंने जेतवन हीमें कई वर्ष निवास ही नहीं किया था, बल्कि तथागतद्वारा अविजहित (अपरित्यक्त) चारों नहीं आठों स्थानोंमें एक-एक वर्षावास किये थे।—लुम्बिनी, कुसीनारा, वज्रासन (बोधगया,) ऋषिपतन (बनारस), संकाश्य, राजगृह और वैशाली उनके लिये उतने ही सुपरिचित थे, जैसे कि उद्यानके भिन्न-भिन्न स्थान। मेरे लिये ही नहीं, बल्कि सयानोंके वास्ते भी तथागतके चरित्र

से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों और वस्तुओंका कितना ही वर्णन अज्ञेय था, लेकिन उसके कारण कथाकी रोचकता नहीं घटी । पीछे जब मैं इन स्थानोंमें गया, तो महास्थविर संघवर्द्धनकी उस समय कही हुई मेरे हृदयमें सुषुप्त बातें एक-एक करके जाग्रत होने लगीं ।

महास्थविरके इस उपदेशकी छाप मेरे हृदयपर सदाके लिये अमिट हो गई । मुझे कुछ-कुछ समझमें आने लगा, कि जीवनको केवल अपने सुख और प्रसन्नताके लिए उपयोग करनेसे जितना आनन्द आता है, उससे कहीं अधिक आनन्द मिलता है उसे दूसरोंके सुखमें लगानेमें । वह प्रावारणाकी रात्रि ही थी, जिसने मुझे प्रेरणा दी, मेरे हृदयमें वह बीज वपन किया, जो अंकुरित होकर मेरे सारे भविष्यके जीवनका पथ-प्रदर्शक बना । महास्थविर ८० वर्षके थे । मैं उस समय बारहवर्षका बालक अब ७० वर्षका बूढ़ा हूँ । हमारी चारों आँखोंने मिलकर करीब डेढ़ शताब्दियोंकी विस्तृत दुनिया देख ली है। दुनिया जिस तरह देशमें बदली दीख पड़ती है, कालमें वह और भी अधिक बदलती रहती है । पुरानी पीढ़ियाँ आँखसे ओझल और स्मृतिसे विलुप्त होती रहती हैं और उनका स्थान नई पीढ़ियाँ लेती हैं । दुनियामें दुःख है, अपार दुःख है, इसे सभी मानते हैं, तथागतने भी माना, लेकिन उन्होंने साथ ही यह भी बतलाया, कि दुःखका उसी तरह कोई कारण या निदान होता है, जैसे रोगका, और रोग हीकी तरह दुःखसे भी छुटकारा मिल सकता है । उस छुटकारा पानेका मार्ग तथागतने अपनी वाणी और चरित्र द्वारा लोगोंको दिखलाया । वह मार्ग है बहुजन हितका, बहुजन सुखका । उस मार्गपर चलने वालेके लिये जीवनको अपने सुख और स्वार्थ तक सीमित नहीं रखना होता । हरेक दूसरेके सुख और हितके लिये जीये, तो इस दुनियासे दुःख कितना कम हो सकता है ? चारों ओर स्वार्थका घोर अन्धकार छाया हुआ है । इस अन्धकारमें तथागतने बोधिप्रदीपको जलाकर रक्खा ।

उस प्रावारणाकी रात मेरे जीवनपर अमिट छाप छोड़कर सदाके लिये चली गई। वह बोया हुवा बीज मेरे हृदयके किसी कोनेमें निहित अज्ञात-सा पड़ा रहा। मैं कुछ दिनों तक महास्थविरके उपदेश और उनके संसर्गके अभावको महसूस करता रहा, जो कभी-कभी मेरे आमोद-प्रमोदमें भी बाधा डालता था। लेकिन उसके बाद मैं फिर दूसरे लड़के-लड़कियोंकी तरह अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओंमें लग गया। फिर वही सबेरेके समय पशुओंमें जाना, फिर कभी गाना-नाचना और कभी शिकारके पीछे दौड़ना। हाँ, अकस्मात् ही एक परिवर्तन मेरे भीतर यह जरूर हो गया था, कि अपने हाथको मैं किसी शिकार पर नहीं चला सकता था। अब शिकार का आनन्द केवल दुर्गम टेकरियों और स्थानोंमें दौड़-धूपकरके ही मैं ले सकता था। मेरे इस परिवर्तनको मेरे साथ खेलने वाले बच्चे भी जानते थे, और कभी वह ताना कसते मुझे भिक्षु कह देते थे। लेकिन जहाँ तक गाने-नाचने का सम्बन्ध था, मैं अब भी उनका पहले ही की तरह का साथी था, और मेरे गीतों की फरमाइश वह उसी तरह आग्रह-पूर्वक करते थे।

पयारका जीवन हमारा चार-पाँच महीनेका होता था। वह कब शुरू हुआ, कब खतम, इसका हमें पता नहीं लगता था। वर्षा कम होते-होते रुक जाती। लम्बी-लम्बी घासें हमारे हजारों पशुओंके चरनेसे उच्छिन्न कहाँ हो सकती थीं हम तो एक स्थानके डेरेमें रहकर चाहते तो सारा समय बिता सकते थे। घासकी कमीके कारण नहीं, बल्कि अधिक गोबर और मेंगनियोंके जमा हो जानेके कारण हमारे झोपड़े डेढ़-दो महीने बाद वहाँसे कुछ कोश दूर दूसरी जगह लगा दिये जाते। वर्षाके महीनोंकी गिनती भी होती रहती। तीसरा महीना समाप्त होनेके बाद सर्दीकी वृद्धि ही बतला देती, कि अब पयारका जीवन अन्तिम छोर-पर पहुँच रहा है। चौथे महीनेके अन्त में घासें पीली पड़ने लगतीं, और तब हरियालीके स्थानमें पीलेपनके आनेकी तरह हमारे मनकी भी हरियाली कुम्हलाने लगती। हम बच्चे सोचने लगते, कि अब हमें फिर अपने गाँवके घरोंमें जाना है। पयारमें जहाँ हम दिन-रात भाई-भाईकी तरह एक साथ सोते-खाते-खेलते,

अब हमारा यह विशाल परिवार फिर छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँट जायगा। मैं बतला चुका हूँ, कि हमारे गाँवके लोग अधिक ठण्डा होनेसे जाड़ोंमें बहुत नीचेके गरम स्थानोंमें चले जाते थे, जिसके कारण वहाँ हिमकाल और उसके खेलोंका आनन्द नहीं मिलता था। मेरा बराबर आग्रह ननिहाल जानेका इसी कारण होता था। लेकिन, इसका यह मतलब नहीं, कि हिम और हिमकाल छोड़कर और कोई ऋतु मुझे प्रिय नहीं थी।

पयारका जीवन अवश्य मुझे अत्यन्त प्रिय था, उसका दूसरा-तीसरा महीना तो मेरे मनमें आनन्दका प्रवाह छोड़ देता था। यह वह समय था, जब पर्वत-पृष्ठोंपर लम्बी-लम्बी घासोंका मैदान ही नहीं, बल्कि हजारों तरहके फूलोंका उद्यान सजा देता था। रंग-बिरंगे फूल थे, जिन्हें सात रंगोंका कहकर उनके सौंदर्यका हम अपमान करते हैं। नीले हैं, तो उसमें भी पचासों रंगके नीले, लाल हैं तो वह भी बीसियों छायाके लाल। फिर उनकी आकृति भी नाना प्रकारकी बड़ी मोहक, पत्तियाँ भी तरह-तरहकी। कितने ही फूलोंमें अत्यन्त मधुर सुगन्ध होती थी, और कुछ सुगन्ध-वंचित किन्तु सौन्दर्यमें अनुपम थे। कुछकी तो पत्तियाँ भी बहुत सुवास देती थीं। उस समय हम लड़के-लड़कियाँ फूलोंका खेल खेलते। एक दूसरेके बालोंको फूलों और पत्तियोंसे सजाते, वनदेवीके पुत्र और पुत्री बन जाते। उद्यान जैसे ठण्डे देशमें यदि नित्यस्नान लोग नहीं करते, तो इसके लिये नाक-भौं सिकोड़ना नहीं चाहिए। उद्यान न हो आये कोई मित्र भिक्षु या सहयात्री हमारे लोगोंकी गन्दगीकी शिकायत करते, तो मैं उनसे यही कहता— यदि वैसी हाड़ चीरनेवाली सर्दीमें आपको रहना पड़ता, सद्योहिमगलित जलधारामें नहाना पड़ता, तो आप हमसे भी कम नहानेका नाम लेते। वर्षाके इन दिनोंमें पयारपर सर्दी रहती, कभी-कभी वर्षामें हम भीग भी जाते। बच्चोंके गुलाबी चेहरे पानीसे धुलते ही अधिक चमक उठते, इसका हमें पता था। हम यह भी देखते, कि शरीरपर पानी पड़नेसे जहाँकी मैल धुल जाती, वहाँका रंग निखर आता। इसलिये हम स्नानके महत्वको समझते थे, और लड़के-लड़कियाँ वर्षा आते ही बूँदोंके पड़ते ही अपने ऊनी चोंगों

और सुत्थनोंको दूर फेंककर खड़े हो जाते। बूँदें जितनी घनी होती जातीं, उतने ही हमारे आनन्दकी घनता बढ़ती जाती। हम खूब नाचते, गाते और एक दूसरेके शरीरके मैलको मल-मलकर छुड़ाते। अबोध बालकका आनन्द कितना असीम और निर्दोष होता है। यह वर्षाका आनन्द हम उसी समय लेते थे, जब कि फूलोंकी शोभा अपने पूरे यौवनपर रहती थी। हमारे केश पीले और कुछ-कुछके श्वेत-पाण्डुर होते। अभी मुझे यह मालूम नहीं हुआ था, कि सभी मनुष्योंके केश इस रंगके नहीं होते, और काले रंगवाले केश ही दुनियामें अधिकांश देखे जाते हैं। इसमें शक नहीं, वर्षाका दूसरा-तीसरा महीना अपनी पुष्पश्रीके कारण हमारे आनन्दको चरम सीमापर पहुँचाता था। चौथे ही महीनेके आरम्भ होते, हमें यदि वह मनोरम भूमि छोड़नेके लिये मजबूर होना पड़ता, तो बड़ा दुःख होता। हमारे प्रवासका अवसान धीरे-धीरे होता। पाँचवें महीनेके अन्त तक रहना अनिश्चित था, क्योंकि ऋतु-परिवर्तन कभी जल्दी और कभी देरसे होता था। आसपासके तृण-वनस्पतिके अधिक पीला होते ही घरवाले प्रस्थानकी तैयारीमें लग जाते। पहले गाय-बैलोंको नीचे भेजा जाता, फिर घोड़े-घोड़ियोंको, अन्त में गाय-बकरियोंको लेकर अपने डेरोंको खाली करके सभी लोग चल पड़ते। रोते-धोते रहनेपर भी हम बच्चोंको भेड़ोंके साथ उतरनेके लिये नहीं रहने दिया जाता। उस समय स्त्रियाँ भी नहीं रहती थीं, और पुरुषोंको स्वयं अपना सारा काम करना पड़ता। चौथे महीनेमें जो रसद आती थी, उसी पर उन्हें बाकी समय गुजारना पड़ता था। उस समय दूध भेड़ों-बकरियोंका ही मिल सकता था। मक्खन कामके लिये पहलेसे रख छोड़ते और मांस भी दुर्लभ नहीं था, किन्तु दूसरी खाद्य-सामग्री बहुत परिमित रह जाती थी। बची हुई सामग्रीको फिर अपनी पीठपर ढोकर ले जाना ठीक नहीं समझा जाता, और उसे यहींपर गड्ढा खोद भुर्जकी छाल बिछा दबा दिया जाता। ऐसी छोड़ी हुई कोई चीज अगले साल की वर्षाके आरम्भमें जरा जल्दी आनेपर बिगड़ती नहीं थी। यदि जरा भी देरी हुई और हिमवर्षा

अधिक तथा लगातार कई दिनों तक पड़ती, तो पशुओं, मनुष्यों दोनोंके लिये खतरा पैदा हो जाता। प्रथम हिमपातके होते ही लोग गाँवोंकी ओर जरूर चल पड़ते हैं। कभी-कभी हिमपात और पशु-मनुष्यके नीचे उतरनेमें होड़ लग जाती। जिस साल एक भी पशुप्राणीकी हानि उठाये बिना लोग अपने गाँवमें पहुँचते, उस साल बड़ा आनन्द मनाया जाता।

अध्याय ३

प्रेम (५३४ – ३५ ई०)

पयारोंमें पशुचारण मुझे बहुत पसन्द आता था और प्रायः वर्षाकाल मेरा वहीं बीतता था। यह नहीं कह सकता, कि घुमक्कड़ी जीवनके वास्ते पयारोंमें पशुपालके जीवन ने बड़ी पाठशालाका काम दिया। महाचीनमें आनेपर और रास्तेमें भी मुझे सैकड़ों पर्यटक भिक्षु मिले, जिन्होंने दुर्गम पहाड़ों, भीषण मरुकान्तारों और तूफानी समुद्रोंकी हजारों योजनकी यात्रायें की थीं, पर उनमें हम उद्यानियों जैसे पयारोंके जीवनसे परिचित बहुत थोड़े ही थे। कितने ही नगरोंमें पैदा हुये। उनका बाल्य और तारुण्यका भी कितना ही समय नगरोंके आसपासके संघारामोंमें बीता। इसपर भी उन्होंने दूर-दूरकी यात्रायें कीं। यह जरूर कह सकता हूँ, कि हम उद्यानियोंका जीवन बचपन हीसे इतना परिश्रमका होता है, कि हम कितने ही कष्टोंको बड़ी आसानीसे बर्दाश्त कर सकते हैं। छुटपनसे ही पीठपर बोझा ढोना हमारे लिये स्वाभाविक है, और बड़े होनेपर पीठपर मन-डेढ़ मन लादकर कठिन चढ़ाइयों पर हम आसानीसे चढ़ सकते हैं। हाँ, पयारोंकी अतिशीतल भूमिमें साँस जरूर अधिक फूलती थी, और बोझा ढोनेकी हमारी शक्ति भी कम हो जाती थी। मुझे कितनी ही बार ख्याल आता था, कि पहाड़ोंकी अधिक ऊँचाइयोंपर जानेपर क्यों सर्दी बढ़ती है, और क्यों वहाँ दस कदम चलते ही साँस फूलने लगती है। मुझे बतलाया जाता था, कि बरसातमें हजारों प्रकारके फूलोंवाली जड़ी-बूटियोंमेंसे कितनी ही विषैली होती हैं, जिनकी गन्धसे आदमीकी यह अवस्था होती है। कोई-कोई यह भी बतलाते थे, कि वहाँकी मिट्टीमें विष होता है। यह बात मैंने उद्यानमें नहीं सुनी, इसे मैंने उन देशोंमें सुना, जहाँके पहाड़ोंमें हरियाली सपनेकी बात है।

पयारका जीवन धीरे-धीरे खिसकता गया। शैशव बाल्यमें परिणत हुआ और फिर वह नवतारुण्यकी ओर पैर बढ़ाने लगा। अपने समवयस्कोंकी तरह मेरा जीवन-प्रवाह भी उसी तरह बदलता गया। जाड़ोंमें जब मैं नीचे उतरता, तो मेरे चचा भिक्षु या कोई दूसरा हमारे आवासों में रहा करता। चचाने मुझे अक्षरज्ञान कराया, कुछ पुस्तकें पढ़ाईं। पयारके जीवनमें थोड़े से धार्मिक ग्रंथोंका पारायण भर कर पाता, लेकिन जाड़ेके दिनोंमें पहले बेमनसे और पीछे उत्साहके साथ मैं अधिक पढ़ता था। चचाको आशा थी, कि मैं उनका शिष्य (भिक्षु) बनूँगा। जब हरेक घरका एकाध व्यक्ति भिक्षु-भिक्षुणी बनता हो, तो अगली पीढ़ीमें उनका अनुसरण करनेवाला जरूर ही कोई मिलता। मुझे भी भिक्षुओंकी वेष-भूषा और उनकी जीवनचर्या पसन्द आती थी, खास करके यह समझकर, कि तथागत भी इसी वेशमें रहा करते थे, इसी तरह विचरा करते थे। महा-स्थविर संघवर्द्धनके उपदेशोंके सुननेके बाद मेरा आकर्षण भिक्षु-जीवनकी तरफ कुछ समय तक तो बहुत तीव्र रहा, लेकिन समय बीतनेके साथ प्रभाव कुछ निर्बल होने लगा। उसका एक कारण यह भी था, कि नवतारुण्यके साथ वह मेरे जीवनमें जो परिवर्तन हुये, वह संघारामोंकी ओर पैर बढ़ानेमें बाधक हो रहे थे। हर देशमें अपने-अपने रीति-रवाज होते हैं। सामाजिक रूढ़ियोंके कारण कितनी ही बातें जो एक देशमें खुलेआम चलती हैं, दूसरे देशमें वर्जित होती हैं। अपने पर्यटक-जीवनमें इन विभिन्नताओंको मैंने इतना अधिक देखा, जिनपर उद्यानमें रहते मैं कभी विश्वास नहीं कर सकता था। पारसीक लोग स्वयं अपनी मातासे विवाह कर सकते हैं। ऐसे भी देश हैं, जहाँ सहोदरा बहनसे विवाह निषिद्ध नहीं है, और मैंने स्वयं धर्मग्रंथोंमें पढ़ा था, कि तथागतके वंशवाले शाक्य मूलतः बहन-भाईकी से सन्तान थे। सभी भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह केवल द्रौपदी और पंच पाण्डवोंकी कथामें ही सुननेकी बात नहीं, बल्कि मैं ऐसे देशोंसे गुजरा, जहाँ यह प्रथा आम है। यह सब देख लेनेके बाद सामाजिक रूढ़ियोंके लिये आदमीके हृदयमें दुराग्रह रही नहीं सकता।

उद्यानका जीवन अधिक स्वच्छन्द था। हमारे यहाँ स्त्री-पुरुष, विशेषकर तरुण-तरुणियोंको स्वछन्द प्रेमका रास्ता खुला था। नृत्य-गीत हमारे जीवनका उसी तरह एक आवश्यक और मुख्य अंग था, जैसे खान और पान। मैं अच्छा गाता था, कण्ठ मेरा मधुर था, यह बतला आया हूँ। नाचनेमें भी बुरा नहीं था, लेकिन एक कमीं मुझमें जरूर थी, और वह थी आवश्यकतासे अधिक मितभाषी होना, जिसका कारण अधिक मात्रामें लज्जा और संकोच का होना था। यह दोष नहीं था, इसे तो पीछे तथागतके उपदेशोंमें मैंने एक बड़ा गुण पढ़ा था। तरुणाई और प्रेमका इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, कि उसमें न लज्जा और संकोच बाधा डाल सकती है, और न मितभाषिता। आखिर जहाँ तक स्वास्थ्य और सौंदर्य का सम्बन्ध था, मैं अपने समवस्यकोंमें किसी से पीछे नहीं था। मैं खूब चढ़ाइयाँ चढ़ता, शिकार मारनेकी हिम्मत न रखते हुये भी मैं शिकारियोंके साथ दूर-दूर तककी दौड़ लगाता, कठिनसे कठिन नाचोंको घंटों नाच सकता। इन सबके कारण मेरा शरीर खूब पुष्ट था। १५ सालकी उमर ही में, जब कि अभी नवतारुण्यकी सीमा पार नहीं हो पाया था, मैं २०-२२ वर्षका जवान मालूम होता था। बोलनेमें चाहें मैं पीछे रहता हूँ, लेकिन काम में दूसरोंके सहायता देने में मुझे एक तरह का आनन्द आता था। मैं अपने समवयस्कोंका नेता कभी नहीं बन पाया, लेकिन उनका स्नेहपात्र बराबर रहा। मेरा किसीसे झगड़ा शायद ही हुआ हो।

मेरे समवयस्क छ-छ, सात-सात सालसे कितने ही श्रामणेर बनकर संघाराममें रहने लगे थे। जब-तब वह अपने माता-पितासे मिलने घर आते, उस समय मेरी उनसे मुलाकात होती। हममें बहुत अन्तर हो गया था। पहले जिस तरह हम हिलमिलकर रहते, खेल-कूद सकते थे, अब उसका स्थान दूसरे प्रकारके बर्तावने ले लिया था। अरुण चीवर पहनते ही चाहे उमरमें वह मुझसे दो-चार महीने छोटे ही हों, मेरे माँ-बापके लिये भी बड़े हो जाते। उनकी देखा देखी मैं भी उन्हें अंजलि बाँधकर अभिवादन करता, और वह "सुखी हो" कहते, ८० वर्षके वृद्धकी तरह हमें आशीर्वाद देते। उनके

साथ मुलाकात होने पर मैं उनसे पढ़ने-लिखनेके बारे में पूछता और फिर ईर्ष्या करते हुए और भी मन लगाकर अपने पाठोंको याद करता। मेरी स्मृति उनकी अपेक्षा अधिक तीव्र थी, इसलिए घरमें रहते भी विद्यामें मैं उनसे पीछे नहीं रहना चाहता था और न रहा। संघाराममें प्रवेश करनेमें देर हो गई थी। मेरे दो भाई और हो चुके थे, और माँ मर चुकी थीं। परिपाटीके अनुसार पिता तथा घरमें रहने वाले चाचा-चाची मेरे भिक्षु बननेमें कोई बाधा नहीं डाल सकते थे, बल्कि भीतरी-भीतर उनकी भी लालसा वैसी ही थी। चचा भिक्षु जिनधर्मा हरसाल ही आग्रह करते, कहते—संघाराममें जाकर नरेन्द्र अधिक पढ़-सीख सकता है। लेकिन मेरा उत्साह न देखकर कोई जोर न देता था। यह बात नहीं थी, कि मैं भिक्षु बनना पसन्द नहीं करता था। मैं अभी गृहस्थ या भिक्षु-जीवनमें किसी एकके बारेमें अपना फैसला नहीं दे सकता था। मुझे गीत और नृत्यसे बहुत प्रेम था और भिक्षु होते ही इन दोनों चीजोंको हमेशाके लिये तिलांजलि देनी पड़ती थी।

वर्षाका शायद तीसरा मास था। पयारमें हम ऐसे स्थानमें गये हुये थे। जहाँ लम्बी घासोंकी जगह घनी पुष्पवाटिका सी सजी हुई थी। इसी समय दूर कुत्तोंके भोंकनेकी आवाज सुनाई दी, भेड़ोंको बिदकते और चकित होते देखा गया। हम १४-१५ वर्षवाले कितने ही लड़के-लड़कियाँ उस समय एक जगह बैठे संगीतमण्डली रचाये हुए थे। प्रेमी-प्रेमिकाओंके गीत वाद-सम्वादके रूपमें दो कण्ठोंसे निकलनेपर बड़े ही प्रिय मालूम होते हैं। ऐसे दो गानोंमें मैं अपनी मित्रमण्डलीमें बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुका था। मैं और भद्रा किसी पुराने गीतको सवाल-जवाबमें बारी-बारी गा रहे थे। कितने ही लड़के-लड़कियाँ पास बैठे सुन रहे थे। कुत्तोंके भूकने और भेड़ोंके बिदकनेको सुनते ही हमारा गीत वहीं बन्द हो गया, और सभी भेड़ोंकी ओर दौड़ पड़े। भद्रा और मैं भी भेड़ोंकी ओर दौड़ते समय एक ओर भगे। बादल छाया हुआ था। हमारा गीत भी कालीघटाओंकी छायामें एक उन्नत पर्वतशिखरपर बैठे दो तरुण हृदयोंके

प्रेमसे सम्बन्ध रखता था। ऐसे गीतको हल्के दिलसे कैसे गाया जा सकता था। भद्रा और मैं दोनों अपने-अपने गीतांशोंको गाते उन्हीं भावनाओंको अपने हृदयमें तरंगित देखते थे। भेड़ोंके पीछे दौड़ते ही मोटी मोटी बूँदें पड़ने लगीं, जो कुछही देर और तेज होकर ओलोंके रूपमें परिणत हो गईं। हमारे शरीरपर जो मोटे ऊनी चोंगे थे, वह अत्यन्त असाधारण मोटे थे। पर ओलोंसे हमारी रक्षा कर सकते थे। शायद टोपी भी हमारे लम्बे बालोंके ऊपर पड़ी सिरको बचा सकती थी, लेकिन चेहरा और शरीरके और अंग खुले थे। ओले बहुत बड़े नहीं थे, लेकिन कौन जानता है वह कब बड़े-बड़े न हो जायँ। भेड़-बकरियाँ मनुष्यसे ज्यादा अन्तर्ज्ञानी होती हैं, इसीलिये वह दौड़-दौड़कर घासके मैदानमें जहाँ-तहाँ खड़ी शिलाओंके पास जाने लगीं। हम भी उनमेंसे कुछके साथ आगेकी ओर लटकती एक विशाल शिलाके नीचे जा पहुँचे। हमारे वहाँ पहुँचते ही ओले बड़े-बड़े पड़ने लगे। पयारके जीवनमें अपनी और पराई भेड़ोंका ख्याल रखना बहुत मुश्किल है। गाँवकी सारी भेड़ें एक रेवड़में रहा ही करतीं, दूसरे गाँववालोंकी भेड़ें भी कितनी ही बार मिल जाती थीं। चिन्हके लिये हम भेड़ोंको दाग रखते। भीषण ओलोंकी ऐसी वर्षा हो रही थी, जिसमें हम इसी लिये बहुत प्रसन्न थे, कि शिलाकी शरणमें आ पहुँचे हैं। दूसरे साथियों और भेड़ोंका क्या हुआ, इसे जाननेकी हमें उस वक्त उत्कंठा भी नहीं थी। भेड़ें सिमटकर शिलाके नीचेके सारे अवकाशको भरे खड़ी हो गईं। कुछ देर तक शंकासे उनके कान खड़े रहे, फिर वह शान्त हो गईं। उन्हींके बीचमें हम दोनों भी जा खड़े हुये। कुछ समय तक हमारी आँखें बड़े-बड़े ओलोंकी ओर रहीं, और हमारा ध्यान भी उधर ही खिंचा था। फिर भद्राने अपनी सखियोंके सम्बन्धमें उत्सुकता प्रकट की। मैंने उसे सान्त्वना देते हुये कहा :—

बड़े-बड़े ओले तुरन्त नहीं पड़ने लगे, और यहाँ पयारमें ऐसी शिलाओंकी कमी नहीं है, इसलिये कहीं न कहीं सुरक्षित स्थानमें वह जरूर पहुँच गई होंगी।

भद्रा अपने छोटे भाईके लिये बड़ी चिन्ता करने लगी। यह बतला चुके हैं, कि पयारके चरवाहों के लिये घर और सम्बन्ध उतना महत्त्व नहीं रखता,

तनी समवयस्कता, इसीलिये भद्राका आठ वर्षका छोटा भाई अपनी समण्डलीके साथ था। भद्राकी चिन्ताको दूर करनेमें कुछ समय लगा। ओलोंकी वृष्टि तो मालूम होती थी, थमनेके लिये हुई ही नहीं है। हमारे सामने सारी जमीन चमकते सफेद ओलोंसे ढँक गई, और वह अब भी बन्द नहीं हो रहे थे। कुछ देर तक तो मैं और शायद भद्रा भी इसी प्रतीक्षामें थे, कि वृष्टि बन्द हो और हम अपने साथियोंको ढूढ़ने निकालें। लेकिन, वह कहाँ होनेवाला था। अब हमें इसी शिलाके नीचे संतोष करके रहना था। धीरे-धीरे भद्राभी ठीक सी हो गई, मेड़ें भी अब बेपर्वाह हो कुछ बैठ कर और कुछ खड़े ही जुगाली करने लगीं। उपलवृष्टिकी एकरस आवाज अब भी आ रही थी, हवा अब भी तेज थी, यद्यपि उसका प्रहार हमारी शिलाके पीछेकी ओर हो रहा था। अधिक समय तक हम नीरव या साथियों तथा भेड़ोंकी बात तक नहीं कर सके। भद्रा बिजलीके कड़कनेसे डर गई और मेरे साथ सटकर खड़ी हो गई। मैंने उसके कन्धे और सिरपर हाथ रख कर ढारस दिया। उस स्पर्शमें एक विचित्र तरहकी चेतना अनुभूत हुई। उसे अकस्मात् आगपर हाथ पड़ जानेकी तरह नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वह स्पर्श जलाने और पीड़ा देनेवाला नहीं, बल्कि दूसरी ही तरहका था। अपने गीतों और कथाओंमें सुनते-सुनते मैं यह तो जानता था, कि तरुण-तरुणीके बीच प्रेम होता है। लेकिन, वह सुना-सुनाया प्रेम वैसा ही था, जैसे मधुकी बात करनेपर वह मालूम होती हो। मधुका जब जिह्वासे स्पर्श होता है, तभी उसके मधुर स्वादका पता लगता है। मेरे हाथोंके स्पर्श मात्रसे भद्रा प्रकृतिस्थ, उसकी घबराहट दूर हो गई। हम दोनों वहीं शिलाके सहारे बैठ गये। स्पर्शने हमारी वाणी-को मुखरित कर दिया।

उद्यानमें क्षत्रिय कही जानेवाली और भी कई जातियाँ थीं। जिनमें हमारे खस लोग सबसे अधिक थे। उसके बाद शकोंका नम्बर आता था। वहाँ कितने ही येथा भी रहते थे, किन्तु सामन्तों और शासकोंको छोड़कर वह अधिकतर घुमन्तू पशुपाल थे। मिहिरकुल और तोरमाणकी

जातिके होनेके कारण उनको अधिक अभिमान था, और इसीलिये खस और शक उनके साथ घनिष्टता स्थापित नहीं करते थे। भद्रा शक कुलकी लड़की थी। उद्यानके सभी निवासी बौद्ध थे, उसी तरह भद्राका कुल भी भगवान् तथागतको पूजता था। शक और खस भिक्षु एक ही संघाराममें रहा करते थे और दोनों जातियोंका सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गया था। जैसा कि पहले बतला चुका हूँ, मैं और सारे शक भी समझते थे, कि शक लोग गौतम-वंशी शाक्य हैं। यद्यपि यह धारणा गलत थी, लेकिन उसके कारण शकोंके प्रति हमारा सम्मान अधिक था। जब हम कनिष्क धर्मराज तथा दूसरे शक राजाओंके बनवाये बड़े-बड़े संघारामों और चैत्योंका दर्शन करते, तो इस वंशकी महिमा हमारे हृदयमें और भी अधिक स्थापित हो जाती। खस और शक यद्यपि दो अलग-अलग जातियाँ थीं, किन्तु अब वह एक ही भाषा बोलतीं, और उनके बीच व्याह-शादी होती थी। खसोंकी अपेक्षा शक अधिक गोरे होते, उनके बाल कभी काले या भूरे नहीं देखे जाते, भद्राकी तरह अधिकांश शक-कुमारियाँ नीलाक्षी होतीं। बुद्धके रूप-वर्णनमें मैंने उन्हें अलसीके फूलोंकी तरह नीलाक्ष सुना था, इसलिये उस समय मैं भी समझता था, कि शक सचमुच ही कपिलवस्तुसे प्राण बचाकर भागे हुये शाक्यों मेंसे हैं।

भद्रा असाधारण सुन्दरी थी। केवल हमारे पयारमें (बासों कोसोंसे आई हुई तरुणियोंमें ही नहीं, बल्कि मैं कह सकता हूँ, वह सारे उद्यानकी जनपद-कल्याणी थी। अभी वह १४ वर्षकी थी, और बाल्यका अल्हड़पन ही उसमें अधिक था। मुझसे भी अधिक सुरीला उसका कण्ठ था। इसलिये दोगानोंको गाते हुये न जाने कब चरवाहोंने हमारी जोड़ी पक्की कर ली और जिस समय हम दोनों उपस्थित रहते, उस समय हमीं दोनोंको मिलकर गानेके लिये मजबूर किया जाता। कितने ही वर्षोंसे हम इस तरह एक साथ गाना गाते, एक दूसरे से सुपरिचित हो गये थे। हम जिन भावोंको अपने गानोंमें दोहराते, उनका शब्दार्थ भर ही समझते थे। शैशवसे हम एक दूसरेके साथ

हिलमिलकर खेलते थे। आज जब ओले शिलाके ऊपर तड़-तड़ पड़ रहे थे, हवा शिलाको दूसरी ओरसे उड़ा फेंकना चाहती थी, और भीतर दो मनुष्य तथा पचासों दूसरे प्राणी शरण लिये चुपचाप बैठे थे, उस समय मेरे हृदयमें एक तूफान उठ खड़ा हुआ था। क्यों भद्राका स्पर्श आज रोज जैसा नहीं मालूम होता? मैं इसका कारण ढूँढ़ रहा था। पहले सोचा, केवल मेरे ही भीतर वह तूफान मचा हुआ है। भद्राके लाल ओंठों पर हलकी सी मुस्कुराहटकी रेखा जरूर थी, और उसके अरुण कपोल पहलेसे भी अधिक आरक्त थे। लेकिन वह तो हमेशा हँसमुख लड़की रही। मैं इस विशेषता को नहीं समझ सका। मैंने हृदयको शान्त करना चाहा, भद्राके बालोंपर कुछ बूँदे पड़ी थीं, मैं हाथसे उन्हें पोंछने लगा। फिर वही उत्तेजना बढ़ने लगी। अन्त में किसी तरह हृदय शान्त करने में असमर्थ हो मैंने कुछ मुँह से बोलने में ही खैरियत समझी, और निरुद्देश्य कुछ कहने लगा।

—भद्रा, आज क्या बात है। तुम्हारे कन्धों या बालों का स्पर्श पहले जैसा नहीं मालूम होता।

—नरेन्द्र, क्या तुम्हें वही बात मालूम हो रही है? मेरा हृदय भी आज अधिक चंचल मालूम होता है। ऐसा चंचल, जैसा मैंने कभी नहीं देखा था। क्या जाने जिनके प्रेमका गीत हम गा रहे थे, वही तो हमारे भीतर प्रविष्ट नहीं हो गये?

भूतों और देवताओंका आवेश स्त्री-पुरुषोंपर होना हमारे देशमें मामूली सी बात थी। जिस तरह वैश्रवण (कुबेर) या उसकी पत्नी हारीतिदेवी सयानों-के सिरपर आकर बात करती हैं, उसी तरह हमारे गीतोंके नायक और नायिका यदि गानेवालोंके सिरपर आ जायँ, तो इसमें आश्चर्य क्या? आखिर सयाने (ओझा) भी तो गीतों द्वारा ही अपने इष्ट देवताओंका आवाहन करते हैं। लेकिन, उनके शरीर और जिह्वापर तो देवता प्रविष्ट हो जाता, वह आपेसे बाहर हो दूसरी ही तरह बातें करते हैं। हमारे हृदयमें खलबली जरूर था, लेकिन सयानों जैसी कोई बात नहीं थी।

हमने अपने हृदयकी चंचलता, उसके वेगको परखनेके लिए अनेक बार एक-दूसरेका स्पर्श किया। वह बढ़ता ही गया। भद्रासे मेरा संसार अधिक विस्तृत था। वह बेचारी अपने परिवारके साथ कभी पयार और कभी अपने स्थायी गाँवमें रहती थी। उसने उद्यानकी राजधानी तकको भी नहीं देखा था; मैं हर साल ही राजधानी होकर अपने परिवारके साथ दक्षिणके अपने जाड़ेके आवासमें जाता। मैंने अनेक संघाराम देखे, पुरुषपुर, तक्षशिला, कपिशाकी एक बार यात्रा कर आया था। यद्यपि वह यात्रा माँके साथ हुई थी, और मैं उस समय ६ सालका था, इसलिए सभी बातोंको अच्छी तरह नहीं समझ सका। इधर मैं दिल लगाकर पढ़ रहा था। व्याकरण और कोश मुझे कंठस्थ थे। अश्वघोष और मातृचेटके काव्योंकी ही नहीं, बल्कि कालिदासके अभिज्ञान शकुन्तलको भी मैं पढ़ चुका था। मैं बाह्य और मानस-जगत्की बहुत अधिक बातें जानता था। भद्राके लिये यह बातें सब अपरिचित सी थीं। जो बातें मैंने पुस्तकोंमें पढ़ी थीं, अब नया अनुभव उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ रहा था। भद्राके साथ इस तरह बैठना, उससे बात करना और इससे भी अधिक उसके स्पर्शसे एक प्रकारका विशेष आनन्द लेना मुझे कुछ-कुछ बतला रहा था, कि यह जीवनकी मधुर अनुभूति शायद वही है, जिसे अब तक मैंने केवल पढ़ा और सुना भर था।

अपनी मानसिक स्थितिकी दार्शनिक विवेचनामें बहुत देर तक मैं मत्था-पच्ची नहीं करता रहा। थोड़ी देरमें हम दोनोंके कपोल एक दूसरेसे सट गए न जाने किस वक्त हमारे ओठ एक दूसरेसे मिल गए। अब हमारे हृदयके भीतर के किसी कोनेमें संकोचका पता नहीं था। हमने गीतों और कथाओंके नायकों हीकी तरह अपने प्रेमको एक दूसरेके सामने खोलकर रखा। हमारे लोगोंमें लड़की या लड़केका विवाह २० वर्षसे पहले शायद ही कभी होता है, इसलिए अपने विवाहके बारेमें हमने घरमें कोई चर्चा नहीं सुनी। मेरे लिए तो उसकी आवश्यकता भी नहीं समझी जाती थी, क्योंकि चचा भिक्षुके आग्रह और पिताकी लालसा मेरे पैरोंको संघारामकी ओर खींच रही थी। मेरा भी स्वयं अधिक आकर्षण उसी ओर था। इसी साल मेरे श्रामणेर होनेकी बात-

चीन चलने लगी थी। मैंने सोचा संघाराममें जाकर फिर भद्राका साथ नहीं रह सकेगा। पहले होता, तो उसके साथ मिलकर गाने या नाचनेसे वंचित होने भरका ख्याल रहता, लेकिन अब उसके स्पर्श और आलिंगनने जो कुछ आनन्द पैदा किया था, उससे भी वंचित होनेका ख्याल मनमें उठना स्वाभाविक था। मैं बीच-बीचमें भद्राके स्पर्श और उसके मुँह से निकले अक्षरोंके सुननेका सुख लेता और इसी बीच मेरा ध्यान दौड़कर संघारामके जीवनकी ओर चला जाता।

* * * *

भिक्षु जिनवर्माकी आशा अब भी नहीं टूटी थी। अबके सारे जाड़ों भर वह उसी जङ्गलके पास संघाराममें रहते थे, जिसमें हमारे गाँववालों का आवास था। जहाँ तक पढ़नेका सम्बन्ध था, मैं अब भी उसमें पहले जैसी ही लगन रखता था, और जिनवर्मा जो कुछ भी पढ़ा सकते थे, उसे पढ़ रहा था। यह भ ता लग रहा था, कि यदि मुझे और पढ़ना होगा, तो किसी दूसरे गुरुकी शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन गृहस्थके लिये शास्त्रों का अधिक पढ़ना हमारे यहाँ आवश्यक नहीं समझा जाता, विशेषकर क्षत्रिय तरुणके वास्ते। संघाराममें जानेसे इन्कार तो मैंने नहीं किया लेकिन मैं उसे टाल रहा था, यह सभी जानते थे। मैं बड़ी उत्सुकताके साथ वर्षाके आगमनकी प्रतीक्षा करता रहता, और फिर सबसे पहली टोलीमें पर्वतपृष्ठकी ओर चल पड़ता। मेरे वहाँ पहुँचने पर अभी बहुत जगह बर्फ दिखलाई पड़ती। इस समय वही लोग आते थे, जिन्हें नई झोपड़ियाँ खड़ी करनी होतीं या लकड़ी-ईंधन जमा करना पड़ता। भद्राका परिवार हमेशा एक महीने बाद पहुँचता, लेकिन नीचे प्रतीक्षा करनेकी जगह मैं पयारमें रहकर ही उसकी प्रतीक्षा करना चाहता था। उपलवृष्टिके समय प्रणयका जो प्रथम सूत्रपात हुआ था, वह अब परिपक्वताकी ओर पहुँच रहा था। गाँव और परिवारको भी हम दोनोंके प्रेमका पता था। यह कोई निषिद्ध बात नहीं थी, न अस्वाभाविक। हरेक उद्यान कुमार और कुमारीके जीवनमें एक बार ऐसा होता ही था। कितनी ही बार यद्यपि जोड़ा चुनने में पिता-माता का मुख्य हाथ होता, लेकिन प्रेम-विवाह (स्वयंवर) भी हमारे यहाँ काफी प्रचलित था।

भद्रा और मैं अब भी अपने दोगानोंसे अपने साथियोंका मनोरंजन करते, लेकिन प्रणयसूत्रके मजबूत होनेके साथ-साथ लोगोंके सामने हमारे पारस्परिक बर्तावमें संकोच आने लगा। अब हम अधिकतर एकान्तमें मिलते, अपने भावोंको अधिक खोलकर कहते और भविष्यके लिये तरह-तरहकी कल्पनायें दौड़ाते। भद्राको मालूम था, कि मेरे पिता और भदन्त जिनवर्माकी बड़ी इच्छा है, कि मैं भिक्षु बन जाऊँ। श्रामणेर बननेकी अब आशा कम ही रह गई थी। २० वर्षका होने के बाद तो मैं बिना श्रामणेर बने सीधे भिक्षु बन सकता था। मैंने निजी रूपमें जो शिक्षा प्राप्त की थी, वह किसी योग्यसे योग्य श्रामणेर से कम नहीं थी। यद्यपि मैं अपने हृदयको जानता था और निश्चय कर चुका था, कि अब काषाय चीवर मेरे लिये बदे नहीं हैं, अब मेरा जीवन भद्राका है; लेकिन, भद्रा जब-तब आशंकित हो उठती थी।

मेरा सत्रहवाँ वर्ष चल रहा था। हम वर्षाकाल पयारपर बिता रहे थे। उस समय मुझे क्या पता था कि यही मेरा अन्तिम पयार-वास होगा। एक दिन हम लकड़ी काटने अपने डेरोंसे चार कोश दूर के जङ्गलमें गये थे। हम सबेरे ही चल पड़े थे और शाम तक लौट आनेकी आशा थी। हमारेमें कुछके पास लकड़ी ढोनेके लिये अपने गदहे और घोड़े भी थे और कुछ अपनी पीठपर लादकर ले आनेवाले थे। गदहे-घोड़ेवाले कुछ दूर तथा अपेक्षाकृत बड़े-बड़े दरख्तोंवाले जंगल तक जा सकते थे, लेकिन पीठपर भार ढोनेवाले नजदीक हीसे लकड़ी काटकर लौट जाना चाहते थे। हम कुछ आदमी गदहे-घोड़े लेकर गये थे। भद्रा भी अपने छोटे भाईके साथ इसी टोलीमें थी। लकड़ी काटकर बोझ बना डेरेकी ओर लौटनेसे पहले विश्राम करनेके लिये हम देवदारोंके नीचे बैठ गये। भद्रा और मैं औरोंसे कुछ हटकर एक पुराने देवदारकी घनी छायामें गये। भद्राने वहाँ बैठनेके लिये विशेष तौरसे कहा था। मैं समझ रहा था, कि वह कोई बात कहना चाहती है। कुल्हाड़ा चलाकर लकड़ी काटते समय काफी परिश्रम करना पड़ा था। मेरे ललाटका पसीना अभी पूरी तौरसे सूखा नहीं था। पसीनेके कारण ही

…गा मैंने निकाल दिया था, भीतर बंडी पड़ी हुई थी। कुछ देर तक भद्रा मेरी मांसल भुजाओं तथा विशाल वक्षकी ओर देखती रही। मैं भी काम करने के कारण अधिक लाल हो गये उसके मुख और सर्वांगपूर्ण सुडोल शरीरको देख रहा था। पहले उसका चेहरा फूले पद्म जैसा था, लेकिन एकाएक शरद्‌के बादलोंकी तरह हल्की पांडुर छाया सी उसके चेहरेपर आती दिखाई पड़ी। उसके अर्धस्फुट ओठोंपरसे मुस्कुराहट विलीन हो गई, कपोलोंपर अवसाद पड़नेके साथ उनकी चमक जाती रही। आँखें अब भी स्फीत और सुन्दर थीं, लेकिन उनकी नीली पुतलियाँ पहलेसे छोटी मालूम होने लगीं। यह सब परिवर्तन बड़ी शीघ्रतासे हुआ। मैं अभी इसके बारेमें कुछ पूछना ही चाहता था, कि भद्रा स्वयं बोल उठी :—

—सुना है, तुम भिक्षु बनना चाहते हो?—करुणरससे भरे अक्षरोंमें उसने धीरे-धीरे ये शब्द कहे।

मैं ऐसे प्रश्नकी आशा नहीं रखता था। उसके चेहरेके परिवर्तनसे यह तो समझ रहा था, कि उसके हृदयमें कोई अप्रिय स्मृति काम कर रही है। लोगोंमें नरेन्द्रके भिक्षु होनेकी चर्चा भले ही होती हो, लेकिन नरेन्द्र अब उस इरादेको सालों पहले छोड़ चुका था। मैंने केवल बातोंको ही पर्याप्त न समझ अपने दाहिने हाथको भद्राके कन्धेपर रखकर उसकी नीली पुतलियों की ओर एकटक देखते हुये कहा :—

—किसने कहा? बिलकुल गलत है। कभी भिक्षु बननेका ख्याल हृदय में रहा हो, किन्तु जिस समय से इस हृदयकी स्वामिनी भद्रा बनी, तबसे वह ख्याल न जाने कहाँ लुप्त हो गया।

भद्राके चेहरेमें फिर उलटी दिशामें वर्णपरिवर्तन होने लगा, लेकिन अपने विश्वासको और दृढ़ करनेके लिये अपने सिरको मेरी छातीपर रखते उसने कहा :

—मुझे तुमपर विश्वास है।

—विश्वास करना चाहिये, भद्रा, मैं अपना स्वामी नहीं हूँ, इस जीवनको मैंने तुम्हारे हाथमें दे दिया। अपने हृदयसे मेरे हृदयकी अवस्था सुन लो।

—मुझे भी विश्वास नहीं होता था। सभी लोग कह रहे थे, कि अगले ही साल नरेन्द्रका चचा उसे संघाराममें ले जानेवाला है। सबके मुँहसे ऐसी बातें सुनकर मेरे मनमें चिन्ता उठनी स्वाभाविक थी।

—भद्रा, यह सुनकर तुम्हें प्रसन्नता होनी चाहिये, कि मेरे सम्बन्धी तुम्हें वधू देखनेके लिये बड़े लालायित हैं। पिता भी अब अपना विचार बदल चुके हैं। चचा भदन्त जिनवर्मा यद्यपि समझते हैं, कि मैंने जिसे इतने वर्षों तक पढ़ा-लिखाकर तैयार किया, उसका स्थान घरमें नहीं, बल्कि संघाराममें है; लेकिन उन्हें भी अब आशा कम रह गई, और अब वह मेरे अनुजको मेरे बदलेमें लेनेकी सोच रहे हैं।

भद्राका चेहरा फिर खिल उठा। हमारी बातका रुख बदल गया। अब हम भावी जीवन के बारेमें बिचारने लगे। जब हम दोनों पति-पत्नी बन जायेंगे, तो अपने लिये नया घर बनायेंगे। पिताका घर मुझे अपर्याप्त मालूम होता था। यद्यपि सौतेली माँमें वह गुण नहीं थे, जिनके लिये सौतेली मातायें बदनाम हैं, लेकिन सगी साससे भी तो नहीं पटती। इसलिये मैं समझता था, कि हमें गाँवमें अपने लिये अलग मकान बनाना होगा। मैं इसकी चर्चा करते हुये बोला :

—भद्रा, मैंने कुल्हाड़ा चलाना ही भर नहीं सीखा, बल्कि एक कुशल बढ़ईकी तरह काष्टपर तरह-तरहकी फूल-पत्तियाँ और चित्र उत्कीर्ण कर सकता हूँ।

—तब तो यदि हम दोनों बढ़ई-बढ़इन बनकर उद्यानपुरी में चले चलें, तो वहाँ भी अच्छी तरह जीविका कमा सकेंगे।

उद्यानपुरीका नाम सुनकर मेरे मनमें कुछ आशंका सी उठ खड़ी हुई। भद्रा अनिन्द्य सुन्दरी है। उद्यानपुरीमें जानेपर न जाने किसकी नजर उस पर पड़े। मैंने बात बदलनेके लिये उससे कहा :

—नहीं, उद्यानपुरी मुझे पसन्द नहीं है। वहाँसे जंगल दूर-दूर हैं, गर्मी भी वहाँ अधिक होती है। फिर हम पयारमें हर वर्षाकालमें कैसे आ सकेंगे।

भद्रा भी मेरी ही तरह पयारके जीवनको पसन्द करती थी। उसने भी मेरे विचारोंसे सहमति प्रकट करते हुये कहा :

—हाँ नरेन्द्र, पयार देवताओंकी भूमिके नजदीक है। देखते नहीं यहाँसे वह जो सफेद हिमशिखर दिखाई पड़ते हैं, वहींपर तो देवताओंका निवास है।

—देवताओंके इसी निवासके कारण ही भद्रा तुम इतनी सुन्दरी हो। गर्भमें बच्चेके रहने के समय जब किसी आकाशचारिणी देवी या देवताकी छाया माँके ऊपर पड़ जाती है, तो बच्चा अत्यन्त सुन्दर पैदा होता है।

—तब तो तुम्हारे माँके ऊपर भी किसी देवीकी छाया पड़ी होगी।...यह कहते-कहते भद्रा स्वयं रुक गई। बचपन में ही मरी अपनी माँके बारेमें कितनी ही बार मैं कह चुका था, और जब भी माँका जिक्र होता, मेरी आँखें गीली हुये बिना न रहतीं। भद्राको इसीका ख्याल हो आया। उसके खेदको दूर करने लिये मैंने कहा :

—हाँ, भद्रा, अवश्य, किन्तु उस समय जिस देवताकी छाया मेरी माँके ऊपर पड़ी थी, वह उतना सुन्दर नहीं था, जितना कि तुम्हारीवाली देवी।

भद्राने मेरे भीतरके भावोंको समझकर कहा :

—सुनते हैं स्वर्गमें जाकर हमारे स्वजन अपने बच्चोंकी सुध भूल नहीं जाते। तुम्हारी माता भी इस समय शायद आकाशमें या उन श्वेत शिखरोंमेंसे किसीके ऊपर बैठी हमें यहाँ आपसमें इस तरह बातचीत करते देखती होंगी। उनको बड़ा आनन्द मिलता होगा।

—जीवित रहते समय माँने तुम्हारी जैसी बहूके मुखको नहीं देखा, उसकी सेवाओंको नहीं प्राप्त किया, लेकिन दिवंगत होनेपर वह हमारे आनन्दकी सहभागिनी जरूर होंगी।

* * * *

जीवन कभी-कभी जबर्दस्त मोड़ लेता है। पहाड़ोंकी यात्रामें हम जबर्दस्त मोड़ोंको अकसर देखा करते हैं। अभी हम सीधे पूर्वकी ओर जा रहे हैं, फिर एकाएक पहाड़ मुड़ता है और हमारी चलनेकी दिशा पश्चिमकी ओर जाती है।

लेकिन, तब भी हम कुछ-कुछ अनुमान रखते हैं, कि कैसे स्थानोंसे हमें गुजरना पड़ेगा। बाहरी रास्तोंके मोड़ बहुत धीरे-धीरे होते आते हैं, किन्तु जीवनके मोड़के बारेमें कुछ न कहिये। अभी-अभी तो हमने इकट्ठा बैठकर एक दूसरी दुनियाकी कल्पना की थी। देवदारकी छायामें बैठे भद्रा और मैंने एक सुख-का सपना देखा था, जिसमें जीवितों ही नहीं, दिवंगतोंको भी हम सहभागी बनाना चाहते थे। अठारहवें वर्षमें प्रवेश करनेके साथ भदन्त जिनवर्मा ने अब मुझसे निराश होकर मेरे अनुज की ओर ध्यान दिया था। ५० वर्ष हीमें वह अपनेको इतना बूढ़ा समझते थे, कि अनुजकी शिक्षा-दीक्षाका पूरा करना अपने जीवनसे बाहर की बात समझते थे। उनकी निराशा आशामें बदल गई, लेकिन मेरा जीवन-प्रवाह एकाएक सूख गया और फिर वह अन्तस्सलीला किसी नदीकी तरह जब दूसरी जगह प्रकट हुआ, तो उसकी दिशा ही दूसरी थी।

भद्रा असाधारण सुन्दरी थी। उद्यानमें इतनी सुन्दरी तरुणी मैंने दूसरी नहीं देखी, किन्तु यह किसे पता था, कि उसके सौन्दर्यकी प्रसिद्धि उद्यानकी सीमाओंके बाहर पहुँच गई है। कश्मीरमें राजा मिहिरकुलके रनिवासमें सुन्दरियोंकी क्या कमी थी? देश-देशसे उन्हें लाया जाता था। लेकिन, राजाओं-को उतनेसे तृप्ति कहाँ होती है? तोरमाण महान् सम्राट् था, उसके राज्य-की सीमा मध्यमण्डलके बहुत भीतर तक चली गई थी। प्रतापी गुप्तोंको वह कई बार पराजित कर चुका था। लेकिन, उसके पुत्र मिहिरकुलका साथ भाग्यने नहीं दिया। मैं जब नौ ही वर्षका था, तभी मिहिरकुलको जबर्दस्त हार खानी पड़ी, और प्राण बचानेके लिये कश्मीरमें शरण लेनी पड़ी। अब यद्यपि उसका राज्य पिता जैसा विशाल नहीं था, लेकिन तो भी वह राजाओंका राजा था। बुढ़ापेके साथ उस करारी हारके बाद उसकी दिग्विजयकी सारी लालसायें खतम हो गईं और उसका स्थान कामुकता और विलासने ले लिया। मिहिरकुलके गुप्तचर अब प्रतिद्वन्दी राजाओंके भेदोंका पता लगानेकी जगह राज्यमें सभी जगह सुन्दरियोंको ढूँढ़ते फिरते थे। जो जितनी ही अधिक

सुन्दरी प्राप्त कराये, उसे उतने ही अधिक पारितोषिक मिलते थे। उद्यान अपनी सुन्दरियोंके लिए पहलेसे ही काफी ख्याति रखता था, इसलिए मिहिरकुल-का ध्यान उसकी ओर भी अधिक था। उद्यानपुरीमें उसके प्रतिनिधिकी भी कोशिश थी, और प्रान्तपाल सेनप भी बराबर सुन्दरियोंकी खोजमें रहते। भद्राका सौंदर्य कैसे छिपा रह सकता था? उसके सौन्दर्यकी चर्चा काफी दूर तक फैली हुई थी। जाड़ोंके दिन थे। भद्राका परिवार अपने गाँवमें लौट गया था, और मैं भी अपने गाँववालोंके साथ हेमन्त आवासमें था। असली घटना का पता मुझे तब लगा, जब अगले सालके जाड़ोंके बाद मैं अपने गाँवमें आया। राजधानी-स्थित राज-प्रतिनिधिने पता लगते ही भद्राके पिताको बुलवा मँगाया और सीधे प्रस्ताव रक्खा—भद्रा राजाधिराज मिहिरकुलके लिये है। पिता के लिए तो यह बड़े आनन्दकी बात थी, कि उसकी पुत्री महारानी बने। भद्रा बेचारी क्या कर सकती थी? उसने बहुत रोया-धोया, बहुत इनकार किया, लेकिन उसके पक्षमें एक भी आदमी नहीं था। यदि यह घटना वर्षा-कालमें पयारके ऊपर हुई होती, और मैं वहाँ मौजूद होता, तो मेरे जीतेजी भद्राको कोई नहीं ले जा सकता था।

भद्रा मिहिरकुलके रनिवासमें चली गई। मैं कितने ही महीनों तक खोया-खोया सा रहा। मिहिरकुलके रनिवाससे भद्राका निकाल लाना किसी तरह भी सम्भव नहीं था। मेरा प्रेम मुझे अधीर बनाए हुए था, जीवन भार मालूम होता था, संसारमें साँस लेना भी साँसत जान पड़ती थी। आत्महत्या कायरता है, यह मैं अनेक बार पढ़-सुन चुका था। धीरे-धीरे मुझे मालूम होने लगा, कि जिस दिशा की ओर मैं बढ़ना चाहता था, अब वह खतम हो गई। फिर मुझे महास्थविर संघवर्द्धनका महाप्रावारणाके दिन दिया हुआ उपदेश याद आने लगा। कई महीने लगे, लेकिन अन्तमें इस निश्चयपर पहुँच गया, कि अब मुझे फिर उसी स्वप्नको जागृत करना है, जिसे किसी समय मैं देखने लगा था।

अध्याय ४

भिक्षु (५३६—४० ई०)

भद्राके जबर्दस्ती अंतःपुरमें डालनेकी बात सुनकर मेरा हृदय एक बार विचलित जरूर हो गया, किन्तु जान पड़ता है, मेरे जीवनमें वह एक क्षणके लिए बिजलीकी तरह चमकी थी। उसके बाद न मेरी स्मृति उसके हृदयमें रह गई, और न मेरे हृदयमें उसकी—अपने बारेमें तो मैं यह निश्चय कह सकता हूँ। कश्मीरकी राजधानीमें जानेपर भी मैंने उसके बारेमें कोशिश नहीं की, और न किसी तरहसे जान पाया। अन्तिम पयार-वासके बाद मैं परिवारके साथ जाड़ोंके निवासस्थानमें न जा अपने बराबरके गाँवसे कुछ ही नीचे उतरकर सुवास्तुकी मुख्य धाराको पकड़ ऊपरकी ओर बढ़ा। मेरे गाँवसे पूर्वकी ओर उत्तुंग हिमशिखरोंकी जो माला दिखाई पड़ती थी, उसके ही दूसरी ओर वह संघाराम था, जिसमें भदन्त जिनवर्मा रहते थे। मेरे पिता भी मेरे साथ थे। हम दोनों तीन दिनमें संघाराममें पहुँचे। भदन्तको हम पहले सूचना नहीं दे सके थे, इसलिये जब उन्हें मालूम हुआ, कि मैं संघाराममें प्रव्रज्या (साधु बनने) के लिये आया हूँ, तो उन्हें आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों हुई। हमारे उद्यानमें पयारोंके छोड़ देनेपर नदियोंकी सभी घाटियाँ हरी-भरी तथा अत्यन्त सुन्दर हैं, तभी तो उसका नाम उद्यान पड़ा। लेकिन, उद्यान का यह संघाराम जिस स्थानमें अवस्थित था, वह और भी मनोहर था। सुवास्तु (स्वात) नदी वहाँसे करीब एक दिनके रास्ते पर ऊपरसे निकलती थी, लेकिन उसमें हिमगलित कितनी ही धारायें आ मिलती हैं, जिसके कारण धारा बहुत चौड़ी न होनेपर भी अत्यन्त प्रखर है, और पत्थरों पर पैर रखकर उसे पार करना कहीं ही कहीं सम्भव है। धारासे एक तरह बिल्कुल लगा हुआ, किन्तु कितने ही हाथों की ऊँचाईपर एक लम्बी समतल भूमि है। कहावत है कि इस भूमि को देवताओं ने अपने हाथोंसे समतल किया

था। पयारोंमें ऐसी भूमि दुर्लभ नहीं है, लेकिन सुवास्तुके उद्गमके पास इस तरहकी भूमि सचमुच ही स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। इस भूमिके पास बहनेवाली धारा सीधे उत्तरसे दक्षिणकी ओर है, जो दोनों छोरों पर दो दिशाओं में मुड़ जाती है। नदीको अपने क्रोड़में लेनेवाले दोनों ओर के पहाड़ यहाँ कई कोसके फासले पर हैं। इसका एक फल यह है, कि यहाँ सूर्यकी रोशनी, धूप दिन के बहुत अधिक समय तक रहती है, जिसके कारण अपनी स्थितिके अन्य स्थानोंसे यह भूमि गरम है। लोगोंने इस स्थलका नाम "सुभूमि" ठीक ही रक्खा है। कहा नहीं जा सकता, कि वहाँ पर सुभूमि संघाराम बननेके बाद स्थानको यह नाम मिला या विहारके नामके कारण स्थानका यह नाम पड़ा। विहारकी स्थापना हैमवतोंके आचार्य काश्यपने स्वयं किया, यह परम्परा कहाँ तक ठीक है, इसके बारेमें मैं नहीं कह सकता, लेकिन विहारकी स्थविरावलीमें उनका नाम पहले जरूर याद किया जाता है। बगलवाले पहाड़ देवदार और दूसरे शीतप्रधान स्थानोंके वृक्षोंसे बिल्कुल ढँके हुये हैं। नदी पारका पहाड़ भी जंगलोंसे ढँका है, लेकिन उधर उतनी चौरस भूमि नहीं है। वहाँ एक काफी बड़ा गाँव है, जिसमें कुछ किसान और अधिकतर पशुपाल रहते हैं। आरपार जानेके लिये नदीकी पतली गर्दनपर लकड़ियोंका पुल बना हुआ था, जो प्रायः हर साल हिमके सैलाबमें बह जाता और धाराके हिम-उन्मुक्त हो जानेपर फिर बना दिया जाता। जाड़ोंमें पुलकी जरूरत भी नहीं होती, क्योंकि धार जम जाती है और उसके ऊपर कई हाथ मोटी बर्फ पड़ जाती है। उस समय परले गाँववाले अपने पशु-प्राणियों को लेकर हमारे गाँववालों की तरह नीचेके गर्म जङ्गलोंमें चले जाते। लेकिन, सुभूमि विहारमें जाड़ोंमें भी भिक्षुओंकी संख्या कम होनेकी जगह कुछ बढ़ जाती। बर्फसे यद्यपि विहारके निचले तलवाले कोष्ठक ढँक जाते, लेकिन ऊपरकी मंजिलें खुली रहतीं। भिक्षुओंके लिये सर्दीकी शिकायत हो सकती थी, किन्तु उसका भी काफी इन्तिजाम था। गर्म-चर्मके ओढ़ने उनके पास थे, और मोटे ऊनके चीवर इस वक्त पहने जाते। पैरोंमें भी चमड़ेके मोजे और चप्पल होते। मध्यमण्डलमें भिक्षुओंको सिर ढाँके कभी नहीं देखा

जाता। यहाँके भिक्षु सर्वास्तीवादी होनेसे विनयके नियमोंको बड़ी कड़ाईसे पालन करनेवाले होते भी सिरपर पोस्तीनका कंटोप बाहर निकलते समय लगा लेते। सर्दीसे बचनेके लिए आग जलानेका हर कोष्टकमें इन्तिजाम था, जिसके लिये बहुत पहले ही सूखी लकड़ियाँ भर ली जातीं। भोजनके लिये हमें अधिकतर अपनी संचित सामग्रीपर ही निर्भर रहना पड़ता। सूखे साग और सूखे माँसका भण्डार जाड़े भरमें खतम होनेवाला नहीं था। संघारामके उत्तर और दक्षिणकी समतलभूमिमें बहुत से फलोद्यान लगे हुये थे, जिनमें वर्षाकालमें देखकर सुभूमिको द्राक्षावलयभूमि भी कहा जा सकता था। यहाँकी सुनहली द्राक्षा बड़ी मीठी होती। इसमें शक नहीं, वह कपिशा (काबुल) की द्राक्षासे किसी प्रकार भी कम नहीं थी, न आकारमें, न रूपमें न माधुर्यमें। लोग कहते हैं, अशोक धर्मराजाके समय संघने यह महाकाश्यप स्थविरको हेमवतोंमें जब धर्म-प्रचारके लिये भेजा था, उसी समय सुभूमिमें उन्होंने एक द्राक्षा खाकर उसके बीजको गाड़ दिया था, जिसकी ही सन्तानें उद्यानकी यह सारी द्राक्षायें हैं। विहारके पश्चिमकी ओर का पहाड़ सबसे अधिक मनमोहक था। उसका ऊपरी भाग कई जातिके वृक्षोंके जंगलोंकी सीमा उल्लंघन कर सँकरे से पयारके रूपमें बदल जाता। आगे कई सदा हिमाच्छादित शिखर आते। उनमें तीन विशेष तौरसे आकर्षक थे, जिन्हें लोग त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) का प्रतीक स्वयम्भू चैत्य मानकर पूजते थे। अधिक श्रद्धालु कभी-कभी उनकी जड़ तक पहुँचनेकी कोशिश करते।

सुभूमि विहार सौन्दर्यमें अद्वितीय था, यह मैं अपने विशेष पक्षपातसे नहीं कह रहा हूँ। मैंने अपनी ७० सालकी उमरमें बहुत से सुन्दर-सुन्दर स्थानोंमें एक से एक बढ़कर विहार देखे हैं, लेकिन न कहीं सुभूमिका सा प्राकृतिक सौन्दर्य देखा, न वैसी जलवायु। जाड़ोंमें वहाँ प्राणियोंका कहीं चिह्न न दिखाई पड़ता, न उनकी आवाज सुनाई देती, केवल संघाराम-निवासी भिक्षु अपने साथियोंकी ही आवाज सुन सकते थे। धूप होती, लेकिन इतनी नहीं, कि ताजी पड़ी बर्फको गला सकती। हम धूप लेने के लिये दूर तक सफेद चादरकी तरह फैली बर्फपर कभी

टहलते और कभी बैठ जाते। हमारे अध्ययनका यह बहुत सुन्दर समय था। मेरे जैसे परिश्रमी विद्यार्थी तो इस वक्त खूब अपने पाठोंको कंठस्थ करते। कभी-कभी मौसिम खुला रहनेपर हम देवदारोंके भीतरसे नग्न भुर्ज वृक्षोंके जंगलोंमें होते सँकरे पयारपर पहुँचते। धूपमें हिमकी चमक आँखोंको अन्धा कर देती, इसके लिये हम अपनी आँखोंके सामने कंटोपोंके भीतरसे देवदारके हरे पत्ते लटका लेते। हमारे अनध्यायके दिन इसी तरहकी आरपारके पहाड़ोंकी यात्राओंमें खतम होते। नवतरुण भिक्षुओं और श्रामणेरोंको ऐसी यात्राओंके लिये उत्साहित किया जाता।

हमारे संघारामनें तीन सौ भिक्षु बराबर रहा करते, लेकिन जाड़ोंमें उनकी संख्या चार सौ तक पहुँच जाती। मेरे चचा भदन्त जिनवर्मा अच्छे विद्वान् थे, लेकिन महास्थविर संघवर्द्धनके स्थानपर विहारके महास्थविर गुणवर्द्धन बने थे, जिनकी विद्याकी ख्याति उद्यानकी सीमाके बाहर तक फैली थी। वह कम्बोजमें पैदा हुये और विद्याध्ययनके लिये महास्थविर संघवर्धनके पास आये। अध्ययनके बाद उन्होंने मध्यमण्डलके पवित्र स्थानोंके दर्शन करनेके लिये कई यात्राएँ कीं। कलिंगमें दन्तपुरमें जाकर उन्होंने तथागतकी दन्तधातुका दर्शन किया और कुछ साल सिंहलके महाविहारमें बिताया। वस्तुतः तथागतके धर्मके सभी निकायों (सम्प्रदायों) और दर्शनोंका इतना बड़ा विद्वान् और देशोंमें भी दुर्लभ था। महास्थविर गुणवर्द्धन इस तरहके चारिकाके जीवनको बिताकर अंतमें सुभूमि विहारमें चले आये। वह कहा करते थे—मैं तो कितना ही छोड़ना चाहता था, लेकिन सुभूमि विहार मुझे छोड़नेके लिये तैयार नहीं। सुभूमि विहारमें वह सभी बातें मौजूद थीं, जो गुणवर्द्धनको प्रिय थीं। यहाँ अच्छे से अच्छे विद्यार्थी तुम्हें मिल सकते थे, जिनका अध्यापन करते हुये वह अपनी विद्या को ताजा रख सकते थे। उन्हें विद्याके साथ-साथ ध्यान और योगका भी अनुष्ठान प्रिय था, उसके लिये सुभूमि विहार, विशेषकर जाड़ोंमें, स्वाभाविक शान्ति और परम एकान्तता प्रदान करता था। फिर कम्बोज जैसे अत्यन्त शीत प्रदेशमें पैदा होनेके कारण उन्हें ऐसे स्थानसे स्वाभाविकअनुरक्ति थी। महास्थविर संघवर्द्धनके बाद भिक्षु-संघने गुणवर्द्धनको अपना नायक-महास्थविर निर्वाचित किया। संघवर्द्धन

सारे उद्यानके भिक्षु-संघके नायक महास्थविर थे, गुणवर्द्धन तो कश्मीर और गन्धार तकमें परम सम्मानित महास्थविर माने जाते। विद्याके कारण उनकी ख्याति तो थी ही, कितने ही समझदार लोग भी उन्हें अर्हत् (मुक्त पुरुष) कहनेसे बाज नहीं आते। वस्तुतः महास्थविर गुणवर्द्धन शील, समाधि और प्रज्ञा तीनोंसे सम्पन्न थे। उनको कभी मैंने गुस्सा होकर कठोर बात कहनेकी बात तो अलग, ललाटपर शिकन भी लाते नहीं देखा। हर वक्त उनके चेहरेपर हल्की सी मुस्कराहट दौड़ती रहती। अब वह ६० से ऊपर हो चुके थे, लेकिन उनको देखकर कोई ४० से अधिकका नहीं कह सकता। शामके वक्त दो घण्टे तक चंक्रमण (चहलकदमी) करना उनका नित्यका नियम था। वह हम सबको कहा करते थे—रोज बिना नागा चंक्रमण किया करो। तथागत जेतवन, या जिस किसी स्थानमें भी अधिक समय तक रहते, वहाँ उनके चंक्रमण के लिये चंक्रमण—"स्थान बने रहते, जिसपर वह रोज काफी समय तक घूमते रहते। शरीरके स्वास्थ्यके लिये चंक्रमण आवश्यक है, और अपने लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए शरीरके स्वास्थ्यकी आवश्यकता होती है।" महास्थविर वर्षाके समय भी चंक्रमण करना छोड़ते नहीं थे। वह उस समय महाचैत्यकी लकड़ीकी छतों वाली परिक्रमामें चारों ओर घड़ियों घूमते रहते।

सुभूमि विहार बहुत पुराना है। उसका सात-आठ सौ वर्ष पुराना होना कोई असंभव बात नहीं है। दूसरे विहारोंसे उसकी बनावट भी कुछ भिन्नता रखती है। बीचमें पाषाणका महास्तूप है। उसके किनारे चौकोर बनाती कोष्ठकोंकी तिमंजिला पंक्तियाँ हैं। इसीको विहारकी सबसे पुरानी इमारत बतलाते हैं। उद्यानकी सभी इमारतोंकी तरह यह भी अधिकतर लकड़ी की है, इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता, कि यह आठ शताब्दी पुरानी होगी। हो सकता है बीच-बीचमें मरम्मत और नवीकरण होता रहा। नायक-महास्थविर और कितने ही विद्यावयोवृद्ध भिक्षु इसी मूल विहारमें रहते, जिनमें मेरे चचा जिनवर्मा भी थे। उनका अन्तवासी (शिष्य) होनेके कारण मुझे भी उनके पास ही रहनेको स्थान मिला। मूल विहारसे काफी हटकर इस तरहके आँगन-

वाले तीन और विहार थे। मूल विहारके चारों ओर हरी घास और फिर फलोंका उद्यान था। रास्ते पत्थरोंसे पटे थे, जिसके कारण वर्षामें पैरोंमें कीचड़ नहीं लगती।

भदन्त जिनवर्मासे महास्थविर गुणवर्द्धनको मेरी मेधाकी अतिरंजित खबर मिली थी। जब मैंने श्रामणेर-दीक्षा ली, तो महास्थविर भी वहाँ मौजूद थे। हम जब सुभूमि विहारमें पहुँचे, तो पहले ही पहल बर्फ पड़ी थी। अभी भी सारी जमीन बर्फसे ढँकी नहीं थी और महाचैत्य तथा दूसरी इमारतोंके ऊपर उसका कहीं पता नहीं था। भिक्षु-संघके भोजन आदि को तैयार करनेवाले कुछ दास और कर्मकर रह गये थे, बाकी परला गाँव खाली हो चुका था। मेरे वहाँ पहुँचनेके दो दिन बाद प्रव्रज्याका दिन निश्चित हुआ। नवीनताका भाव मेरे दिमागमें जरूर चक्कर मार रहा था, लेकिन उससे मेरे उत्साह और प्रसन्नतामें वृद्धि ही हो रही थी। उस दिन सबेरे मेरे लम्बे सुनहले केश एक भिक्षुने मूँड़ दिये, भौंहों तकको भी नहीं छोड़ा। मुँहपर दाढ़ी-मूँछका अभी बहुत हल्का सा ही चिन्ह दिखाई पड़ रहा था, लेकिन उसे भी साफ कर दिया। मेरी माँ ने पुत्रके लिये अपने हाथोंसे कात और बुनकर ऊनी दूष्य (धूमा) तैयार किया था। वह बड़ी भक्त महिला थीं, धर्मोपदेश सुनने के लिये हमेशा लालायित रहती और पढ़ी न होनेपर भी बहुश्रुत थीं। अपने जीवनमें उसने मुझे काषायवस्त्र पहने नहीं देखा, लेकिन उसके हाथ का कता-बुना कपड़ा अब मेरे शरीरपर था। विहारमें पहुँचते ही कई भिक्षुओंने मिलकर उस श्वेत दूष्यको काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। फिर किसी वृक्षकी छालके अरुण रंगमें रंगकर धानकी क्यारियोंकी तरह सी दिया। नीचे पहननेके लिये अपेक्षाकृत कम अरजका अन्तर्वासक, उसके ऊपर दाहिना हाथ नंगा रखते हुये बंडी जैसा अंसकूट और फिर काफी लम्बा-चौड़ा चीवर पहनाया गया। बाँये कन्धेपर दोहरा चीवर या संघाटी चौपेतकर रख दी गई और फिर कमरमें कमर-बन्द बाँध दिया गया। लोहेका भिक्षापात्र भदन्त जिनवर्माने पहले हीसे तैयार कर रक्खा था। आठों परिष्कारों-सहित मैंने महाचैत्यकी छायामें प्रवेश किया।

दाहिने महास्थविर गुणवर्द्धन और बाँये थोड़ा नीचे भदन्त जिनवर्मा बैठे। मैंने भदन्त जिनवर्माके सामने पंचप्रतिष्ठितसे अभिवादन कर उकुड़ूँ बैठकर प्रव्रज्याकी याचना की। उन्होंने बुद्ध, धर्म और संघ तीनोंके शरणका वाक्य बोलकर मुझे शरणागत किया। फिर प्राणि-हिंसा आदि दस निषिद्ध कर्मोंसे विरत होनेका व्रत दिया। उपस्थित भिक्षुमण्डली और हमारे पिता जैसे उपासकों ने "साधु, साधु" कहा। इस प्रकार मेरा नया जीवन आरम्भ हुआ।

अब मेरा नाम श्रामणेर नरेन्द्रयश था। बीस वर्ष होनेमें अभी दो सालकी देर थी, इसलिये मैं उपसम्पदा-प्राप्त भिक्षु नहीं बन सकता था। मेरे बालपनके दूसरे साथी सात-आठ वर्षकी उमरसे ही श्रामणेर बन चुके थे। उनमें से दो सुभूमि विहारमें थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत पहलेसे शुरू हो गई थी। वह निरन्तर विहारके विद्वान् भिक्षुओंके साथ रहते थे। मैंने देखा कि यद्यपि व्याकरण, कोष और काव्यमें मैं उनसे किसी तरह कम नहीं हूँ, लेकिन सूत्र और विनयमें वह आगे बढ़े हुये हैं। स्पर्धा आनी स्वाभाविक थी और मैंने पहले ही दिन निश्चय कर लिया, कि मुझे अपने समवयस्कोंमें किसी बातमें किसीसे पीछे नहीं रहना है।

क्या सचमुच मैं नया मनुष्य था? नये समाजमें पहुँचनेपर आदमी नया मनुष्य हो ही जाता है। भदन्त जिनवर्मा पिछले दस सालोंसे मुझे शिक्षित करनेकी कोशिश करते आये थे। उन्हींकी कृपाका फल था, कि मैं अक्षरशून्या कोरा एक उद्यानी गँवार बनकर सुभूमि विहारमें नहीं आया। विद्या-सम्बन्धी मेरा ज्ञान काफी संतोषजनक था। लेकिन, कहाँ सालमें चार-पांच महीनेकी पढ़ाई और कहाँ अब बारहों महीना विद्याकी गंगामें डुबकी लगाना। सुभूमि विहार या किसी विहारमें रहनेवाले सभी, भिक्षु नियमपूर्वक विद्याकी गंगामें डुबकी लगाते हों, यह आवश्यक नहीं है। मैंने तो पीछे देखा, कि विहारवासी बहुत से भिक्षु यह समझकर अधिक परिश्रम नहीं करना चाहते, कि अभी सारी जिन्दगी पड़ी है, इतनी जल्दी करनेकी क्या जरूरत? ब्राह्मणोंके लड़कोंको

मैंने उनकी अपेक्षा अधिक तत्पर देखा। वह जानते हैं, कि जवानीके साथ-साथ विवाह करनेके बाद फिर उनका विद्यार्थी-जीवन खतम हो जायगा, इसलिये आयुके पहले पचीस वर्षों को ही विद्यार्थी और शिशुके रूपमें बिताया जा सकता है। सुभूमि विहारका वातावरण कुछ दूसरा ही था। ऐसा वातावरण कश्मीर, गन्धार और मगध-कोसलके विहारोंमें ही देखा जाता है। जब हमारे अध्यापक एक से एक गम्भीर विद्वान् हों, तो छात्रोंमें उनके अनुकरणकी प्रवृत्ति होती ही है। या यों कहिये, कि सदृश वस्तु सदृशको खींचती है। सुभूमि विहार में वही तरुण प्रवेश करते हैं, जो वहाँकी ज्ञानके दौड़में निबह सकते हैं। दूसरे विद्यार्थी पूर्वाह्ण या उत्तराह्णमें एक समय पाठ लिया करते थे, लेकिन श्रामणेर बननेके कुछ ही सप्ताहों बाद मैंने दोनों समय पाठ लेना शुरू किया। केवल सूत्र और विनयका अध्ययन छ महीने तक ही रहा। उसके बाद प्रमाण-शास्त्र की महिमा सुनकर मुझे उसके पढ़नेकी भी इच्छा हुई। हमारे गन्धारके वसुबन्धु और उनके शिष्य दक्षिणापथजन्मा दिग्नागके ग्रन्थोंकी इस समय बड़ी ख्याति थी। दिग्नागके "प्रमाणसमुच्चय" का अध्ययन अभी विरले स्थानों में होता था। हमारे नायक महास्थविर गुणवर्द्धनने प्रमाण-शास्त्र का विशेष तौर से अध्ययन किया था। उन्होंने इच्छा प्रकट करने पर मुझे स्वयं पढ़ाना शुरू किया। प्रमाण-समुच्चय की कुछ सौ कारिकायें (श्लोक) मैंने कुछ सप्ताहों में ही कंठस्थ कर डाले। महास्थविर के पढ़ाने का ढंग बड़ा सुन्दर था। आरम्भसे ही वह शिष्य के ऊपर ज्ञान का पहाड़ लाद देना नहीं चाहते थे, पहले उतना ही बतलाते थे, जितना शिष्य की बुद्धि ग्रहण कर सकती है। मातृचेटके "अध्यर्धशतक" को श्रामणेरोंकी अपनी पुस्तिका माना जाता है। इसमें तथागत की स्तुति के रूप में कवि मातृचेटने डेढ़ सौ श्लोकों में सारे सिद्धान्त को निचोड़ कर रख दिया है। इसे तथागत की देशना या त्रिपिटकका सार कहना चाहिये। मुझे मातृचेट की यह कृति वर्षों पहले से कंठस्थ थी, इसलिये प्रमाण-शास्त्रमें प्रवेश करने में सुगमता हुई इसमें कोई सन्देह नहीं।

दोसाल का समय कितनी जल्दी बीत गया ? वस्तुतः अधिक कार्यव्यासक्त होने पर आदमी को समय बीतने का पता नहीं लगता। मैंने अपने इन दो वर्षोंके २४ महीनोंके एक-एक दिनको काममें तेजीसे चलकर नहीं, बल्कि सरपट दौड़कर बिताया था। आचार्योंसे जब मालूम हुआ कि १८-१८, २०-२० वर्ष की अवस्थामें ही दिग्नाग तथा दूसरे कितनेही विद्वान् अगाध पांडित्य प्राप्त कर चुके थे, तो मुझे अपने ऊपर ग्लानि होने लगी। सचमुचही सात-आठ वर्षकी उमरमें श्रामणेर बननेसे वंचित रहने का फल मेरे लिये अच्छा नहीं हुआ। मुझे अपने सहपाठियोंके मुकाबिलेमें आगे नहीं बढ़ना, बल्कि वसुबन्धु, दिग्नाग और दूसरे आचार्यों के समान बनना था। इस बात का अफसोस आज भी मुझे है। यदि आरम्भ की जड़ मजबूत होती, तो स्मरण-शक्ति और बुद्धिका जो प्रसाद मुझे प्राप्त हुआ था, उससे मैं और आगे बढ़ सकता था। समय भी शायद बीत नहीं चुका था, लेकिन आगे मेरे पैरोंमें चक्का बँध गया और सुभूमि विहारके चार वर्षों के निरन्तर निवासके बाद मैं लगातार डटकर किसी एक स्थान पर वर्षों अध्ययन नहीं कर सका। तो भी, दूसरों की अपेक्षा अपनी प्रगति पर मैं असंतुष्ट नहीं था।

मैं २० वर्ष का हो गया (५३८ ई०)। वर्षा का पहला मास आया। बसन्त और ग्रीष्म के महीनों में विहार के कितने ही भिक्षु, जो बाहर चारिकाके लिये चले गये थे, वर्षा के तीन महीनों को बिताने के लिये विहार में लौट आये। कुछ अन्य देशीय भिक्षु भी वर्षावासके लिये आये, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, सुभूमि विहार में भिक्षुओं की सबसे अधिक संख्या जाड़ों में हुआ करती थी, जब कि कश्मीर, गन्धार, कपिशा, कम्बोज जैसे पड़ोसी देशों के ही नहीं, बल्कि कांस्य और महाचीन जैसे सुदूर देशोंके भी कुछ भिक्षु आ जाते थे। वर्षा कालमें भिक्षुओंके लिये यात्रा करना वर्जित है। इन तीन महीनों को एक जगह सांघिक जीवन बिताते परस्पर सहायता करते अपने शील, समाधि और प्रज्ञा बल को बढ़ाने के लिये कहा गया है। वर्षा के प्रथम मास का एक महत्व यह भी है, कि साल में सिर्फ इसी समय एक बार

संघ अपेक्षार्थियों का भिक्षु बनाता है। इस समय सुभूमि और सुवास्तु तट की छटा निराली होती थी। जाड़ोंसे जहाँ देवदार जैसे सदा हरित रहने वाले वृक्षों को छोड़कर केवल सफेद बर्फ ही चारों ओर देखने में आती, वहाँ अब सुवास्तु के पत्थर पर टकराकर चलती धारा के क्षीर-समान जल को छोड़कर सभी जगह हरियाली का राज्य होता।

पार का गाँव बिल्कुल आबाद था। यद्यपि उसके प्रायः सारे पशु और कुछ प्राणी पयारपर चले गये थे, लेकिन गांवोंमें चहल-पहल थी। रातको कितनेही समय तक लोगोंके गाने और बाजोंकी आवाज सुवास्तुके घर-घर ध्वनिसे दबकर क्षीण रूपमें हमारे पास कभी-कभी पहुँचती थी। वर्षोपनायिका (आषाढ़ पूर्णिमा) की महिमा हमारे उद्यानमें महा-प्रावारणा (आश्विन पूर्णिमा) की तरह ही है। उस दिनसे भिक्षु-संघका वर्षावास शुरू होता है। परले पारके गाँववाले उपासक-उपासिकायें ही नहीं, बल्कि नीचे दूर-दूरसे श्रद्धालु गृहस्थ भिक्षुओंको दान देनेके लिये आहार, वस्त्र, भैषज्य आदि चीजें लाते।

श्रावणके प्रथम पक्षकी पहली तिथि आई, जिस दिन कितने ही श्रामणेरोंको उपसम्पन्न बनाया गया, जिसमें मैं भी था। उस दिन सवेरे हमारे पीले काषाय चीवर हटा दिये गये। हमें उद्यानके राजकुमार जैसी पोशाक पहनाई गई। इसी कामके लिये बहुत सुन्दर और मुलायम चोगा, सुत्थन सुरक्षित थे। हमें उन्हें पहनाया गया, सिरपर सुवर्ण-मंडित मुकुट, बगलमें तलवार लटकाई गई। फिर चुनकर लाये हुये उद्यानके अच्छे-अच्छे सफेद घोड़ोंपर बैठाकर हमारी शोभायात्रा (जलूस) निकाली गई। सारी सुभूमिकी प्रदक्षिणा हुई। आगे-आगे वेणु, पटह और दूसरे बाजे बज रहे थे। बीच-बीचमें जलूस खड़ा हो जाता और नर नारी बड़े आनन्दके साथ नाचने लगते। लोग ऋतुमें सुलभ फूलोंकी वर्षा हमारे ऊपर कर रहे थे। मालूम होता था, राजकुमार ब्याह करनेके लिये जा रहे हैं। गृहस्थ जीवन को सदाके लिये छोड़ना था, इसीलिये एक बार उसकी पूरी झलक दिखलाने और उसका आनन्द लेनेके लिये ऐसी शोभा-यात्रा सभी देशोंमें

की जाती है। मूल विहारवाले महाचैत्यके समीप पहुँचकर हम घोड़ोंसे उतर गये। हथियार हमारे पहले हटा दिये गये। फिर विहारके द्वारके भीतर घुसनेके बाद हमें अलग प्रकोष्टकमें ले जाया गया और वहाँ हमारी पोशाक भिक्षुओंके चीवरमें बदल दी गई। मूल विहारकी-उपोसथागार बहुत विशाल शाला थी, जिसमें पाँच सौ भिक्षु आसानीसे पाँच पंक्तियोंमें बैठ सकते थे। वहाँ उपोसथ शालामें हममेंसे एक-एक बारी-बारीसे पहुँचाया गया। मैं पहला था। ऊपरकी ओर विशिष्ट आसन—धर्मासन था, जिसपर मेरे जानेके समयसे पहले ही महास्थविर गुणवर्द्धन बैठे हुये थे। तीन पंक्तियोंमें तीन सौके करीब भिक्षु अपने भिक्षु-आयु के क्रमसे बैठे थे। वहाँ २१ वर्षसे १०० वर्षकी उमर तकवाले पुरुषोंको देखा जा सकता था। क्रम आयुका नहीं, बल्कि भिक्षु बननेके समयका था, इसलिये सभीको नीचेसे ऊपर तक आयुके क्रमसे नहीं देखा जा सकता था। उपोसथशाला शान्त थी। उसके द्वारके बाहर बैठे या खड़े सैकड़ों नर-नारी भी बिल्कुल नीरव थे। ऐसी नीरवता जाड़ेके दिनोंमें ही यहाँ देखी जा सकती थी। दो भिक्षु मुझे द्वारसे भीतर ले गये। कैसे करना चाहिये, यह बात हमें पहलेसे सिखला दी गई थी, तो भी किसी बातमें कोई व्यतिक्रम न हो, इसके लिये वह हमें बतला रहे थे। उच्चतामें समान किन्तु महत्त्वमें बड़े धर्मासनके ऊपर बैठे स्थविर गुणवर्द्धनके सामने उकड़ूँ बैठ पंचप्रतिष्ठितसे अभिवादन करके मैंने संघसे उपसम्पदा प्राप्त करनेकी याचना की। २० वर्ष तुम्हारे पूरे हो गये हैं? माता-पिताने भिक्षु बननेके लिये तुम्हें अनुज्ञा दी है? कोई सांघातिक या पैतृक महारोग तो नहीं है? आदि-आदि बातें उसी तरह पूछी गईं, जिस तरह और देशोंमें भिक्षु-संघमें उपसम्पदा देते वक्त पूछा जाता है। मेरे उपाध्याय महास्थविर गुणवर्द्धन बने और आचार्य भदन्त जिनवर्मा। मैं उपसम्पन्न हो अब भिक्षु-संघका एक अभिन्न अंग था, श्रामणेर की तरह अब अपेक्षार्थी नहीं, बल्कि पूरा भिक्षु बन गया। सुभूमि विहारमें विनयके नियमोंका कड़ाईसे पालन होता है। वहाँ संघ और व्यक्ति उसी नियमके अनुसार आचरण करते हैं, जैसा कि तथागतने

विनयपिटकमें बतलाया है। दूसरे स्थानोंमें सोना-रूपाके न छूनेके नियमकी आम अवहेलना देखी जाती है, लेकिन सुभूमि विहार के भिक्षु उसमें हाथ भी नहीं लगाते। मूल विहारमें कुछ ऐसे भी भिक्षु हैं, जो नये कपड़ेका चीवर नहीं पहनते। यह भी कहा जाता है, कि विहार के संस्थापक मूल स्थविर काश्यप स्वयं इसी तरहका चीवर पहनते थे। मैं समझता हूँ यह धारणा तथागतके प्रधान शिष्य महाकाश्यप, और हैमवतोंके आचार्य काश्यपको एक करने पर निर्भर है। तथागतने अत्यन्त कमनीय अपने जैसे सुन्दर शरीवाले महाकाश्यपको सुन्दर चीवर पहने हुये देखकर समझा, कि इससे मेरे तरुण शिष्यके सौन्दर्यकी वृद्धि होगी, जिसके कारण लोलुप आँखें उसकी ओर देखने लगेंगी। इसलिये उन्होंने कहा था—"काश्यप, तेरे चीवर बड़े सुन्दर हैं।" पहले पहल सम्पर्क में आये महाकाश्यपने समझा, कि शायद भगवान् इस चीवरको पसन्द करते हैं। इसलिये उन्होंने देनेकी इच्छा प्रकट की। भगवानने कहा—लेकिन, फिर तू क्या पहनेगा?

महाकाश्यपने बड़ी नम्रताके साथ कहा—यदि भगवान्‌की कृपा हो, तो आपका यह चीवर मुझे पहनने के लिये मिल जाय।

तथागतके शरीरपर पाँसुकूलका चीवर था, अर्थात् बेकार समझकर फेंक दिये गये कूड़े-कर्कट पर पड़े चीथड़ोंको जोड़कर वह चीवर बनाया गया था। हजारों टुकड़ोंको बेढंगे, किन्तु चीवर की परम्पराके अनुसार सिले उस चीवरके बारेमें तथागतने कहा:—

—लेकिन, इस चीवरका पहनना तेरे लिये आसान नहीं होगा। फिर तो जीवन भर तुझे ऐसा ही चीवर पहनना पड़ेगा।

महाकाश्यपने स्वीकार किया और वह आजन्म पाँसुकूलिक रहे। कहा जाता है तथागतका दिया वही एक चीवर वह अपने जीवन भर पहनते रहे, और आज भी उसी चीवरको लिये आनेवाले मैत्रेय बुद्धको देनेके लिये वह वज्रासन (बोधगया) के पास किसी पहाड़की गुहामें अन्तर्धान वास

कर रहे हैं। मैं नहीं समझता, हेमवतोंके आचार्य काश्यप भी पाँसुकूलिक थे। मूल विहारवासी कुछ भिक्षु उसी परम्पराका अनुकरण करते पाँसुकूलिक हैं।

श्रामणेर बननेके साथ मेरा नया जीवन आरम्भ हुआ था, इसे तो मैं मानता हूँ, किन्तु भिक्षु बननेके साथ बिल्कुल नया जीवन आरम्भ हुआ हो, ऐसा नहीं मालूम होता था। फर्क इतना ही था, कि अब मैं भिक्षुओं और स्थविरोंके साथ एक आसन पर बैठ सकता था, एक साथ भोजनकर सकता था। उपोसथशालामें प्रतिपक्ष उपोसथ कर्म करनेके समय एकत्रित हुये भिक्षुओंकी मण्डलीमें सम्मिलित हो सकता था। नया भिक्षु होनेके कारण मैं पंक्तियोंमें नीचेकी ओर लेकिन समान तौरसे बैठ सकता था। संघ किसी छोटे-मोटे अपराध या साँघिक सम्पत्तिके बारेमें जब निर्णय करता, तो मुझे भी छन्द (राय) देनेका अधिकार था। यह ख्याल मुझे बार-बार आता था, कि अब मैं तथागत द्वारा संस्थापित हजार वर्षसे चले आते पवित्र भिक्षु-संघका एक सदस्य था। उसीके नाते मेरा मूल्य और मान और साथ ही मेरी जिम्मेदारी भी बढ़ गई थी।

सुभूमि विहारमें अनुशासन बहुत कड़ा था। उसके पालन करनेमें असमिर्थ भिक्षु यहाँ आनेकी हिम्मत ही नहीं करते थे। उस समय मेरे मनमें संकल्प होता, कि मैं भी पाँसुकूलिक बनूँ, महाकाश्यपकी तरह ही सदा पिंडपातिक रहूँ—निमन्त्रण न स्वीकार कर सदा भिक्षापर ही जीवन यापन करूँ, पैसा न छूऊँ। लेकिन जब अबाध गतिसे मेरा घुमक्कड़ी जीवन आरम्भ हुआ, तो मालूम हुआ, कि इन नियमोंका पालन करना मेरे लिये सम्भव नहीं। उस वक्त मैं उनके पालन करनेकी भरसक कोशिश करता था। भिक्षु बननेके बाद भी मेरी पढ़ाईकी धारा उसी तरह अविच्छिन्न चलती रही। उसके बाद चार वर्ष तक उपाध्याय और आचार्यके आश्रयमें रहनेका नियम था, किन्तु २२ वर्षके बाद अपने पैरों को रोकना मेरे लिये मुश्किल हो गया। तब तक

विहारमें पढ़ने लायक सारी विद्याओंको मैं समाप्त कर चुका था, यह तो नहीं कह सकता, लेकिन मैं विहारके तरुण विद्वानोंमें गिना जाने लगा था, कुछ श्रामणेरोंका अध्यापन भी करता था। मैंने बाकी दो सालोंको अभिधर्मकोष, अभिधर्मपिटक, प्रमाणशास्त्र और विभाषाओंके अध्ययनमें लगाया। विहारमें वर्षा या हेमन्त कालमें आकर वास करनेवाले अन्यदेशीय भिक्षुओंसे मैं घंटों बातें किया करता। वह अपने देशके बारेमें बहुत सी बातें बतलाते। तुषार देशके भिक्षुने बतलाया, कि कैसे दुर्गम पहाड़ी जोतोंको हमें एकके बाद एक कई बार पार करना पड़ता है। रास्तेमें कई दिनों तक किसी आदमीसे भेंट नहीं होती। कूचा और कांस्य देशके भिक्षुओंने बतलाया, कि हमारे देशमें हरियालीके लिये आँखें तरसती रहती हैं। उसकी जगह दूर तक बालूसे ढँकी निर्जन भूमि दिखाई पड़ती है। रास्तेमें खाद्य और जलका अभाव ही त्रासजनक नहीं होता, बल्कि भूत-प्रेत भी भारी बाधायें उपस्थित करते हैं। दक्षिणके देशोंमें घूम आये भिक्षु हमें वहाँकी भीषण गर्मीकी बातें सुनाते। तथागतकी जन्मभूमिको देखनेके लिये सभी भक्तोंकी तरह मेरी भी उत्कट इच्छा थी।

महास्थविर गुणवर्द्धनकी देशनाओंमें उसका अक्सर जिक्र आता था। अपने गुरुकी तरह वह भी परोक्ष वस्तुका साकार रूप खड़ा कर देनेमें सिद्धहस्त थे। वह तथागतकी जन्मभूमिमें गर्मियों में भी रहे थे। उन्हें कष्ट भी हुआ था। उस समय वह विहारके भीतर खिड़की-किवाड़ बन्दकर दिन भर पड़े रहते। शरीरपर सब जगह फुँसियाँ निकल आतीं। लेकिन, इन सभी यातनाओंको वह हल्का करके बतलाते थे "बुद्धोंकी भूमि बहुत सुन्दर है। वहाँ चार महीने कष्टके हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह तो परीक्षाके लिये हैं। वहाँका हेमन्त बहुत मधुर होता है न अति गरम और न हमारे उद्यानकी तरह अति शीतल। वहाँ तरह-तरहके भोजन और फल मिलते हैं। लोगों-में अपार श्रद्धा और विद्याके प्रति भारी अनुराग है। हरेक घरमें आगन्तुकका सत्कार होता है। संघारामोंमें किसी भी देशके भिक्षुके पहुँच जानेपर उसका वहाँ

घरकी तरह स्वागत होता है। विद्या हमारे कश्मीर और गन्धारमें भी है। बड़े-बड़े विद्वान् इस भूमिमें पैदा हुए, लेकिन तथागतने जिस भूमिमें अपने परिनिर्वाणके समय तक विहार किया, वहाँकी विद्याके बारेमें क्या कहना? विद्याके उस मधुर समुद्रके तटपर पहुँचे बिना आदमीकी ज्ञान-पिपासा पूरी तौरसे शान्त नहीं हो सकती। मैंने सोचा जहाँ फूल होता है, वहाँ काँटे भी होते हैं।

आदमी पहली बार किसी यात्राके लिये जब कदम उठाता है, तो उसे कहाँ मालूम होता है, कि इसका अन्त कहाँ होगा। सुभूमि विहारके अन्तिम वर्षमें यह तो पता था, कि मुझे तथागतकी जन्मभूमिका दर्शन करना है। अवदानों और जातकों के प्रभावने मुझे यह भी प्रेरणा दी थी, कि बोधिसत्वकी तरह ही मैं अपने जीवनको दूसरे प्राणियोंके दुःखोंको हल्का करनेमें लगाऊँ। रोग सबसे बड़े दुःखोंमें है। रोग-पीड़ित मनुष्यकी सान्त्वना केवल वचनमात्रसे नहीं हो सकती। उसे तो भैषज्य-गुरुकी आवश्यकता होती है। विनयपिटकके भैषज्यस्कन्धकको पढ़ते समय मैंने देखा, कि तथागत मनकी चिकित्सा ही नहीं, बल्कि शरीर की चिकित्साके भी भिषग् थे। हमारे एक विहार के प्रतिमागृह (मंदिर) में भैषज्य गुरुके रूपमें तथागतकी प्रतिमा भी स्थापित थी, जिनके एक हाथमें औषधि का प्रतीक हर्रा रक्खा हुआ था। मुझे अन्यदेशीय भिक्षुओंसे यह भी पता लगा, कि सभी देशोंमें भिक्षु चिकित्साशास्त्रका अध्ययन करते हैं। यात्रामें चिकित्सा-विद्या सबसे बड़ा सम्बल है, भाषा और रीति-रवाजसे अपरिचित किसी देशमें भी चले जाने पर चिकित्साका ज्ञान आदमीके लिये पाथेयका काम भी देता है। व्याधि से कराहते आदमीको सूखी सहानुभूतिकी जगह इस विद्या द्वारा अधिक सान्त्वना दी जा सकती है। हमारे कितने ही भिक्षु वर्षों लगाकर चिकित्सा के ग्रन्थोंको पढ़ते, औषधियोंको अपने हाथसे तैयार करने की विधि सीखते। मुझे विश्वास नहीं था, कि मैं केवल चिकित्सक भिक्षु बन सकता हूँ। लेकिन, साथ ही केवल "भैषज्य स्कन्धक" तकही अपने चिकित्साके ज्ञानको मैं उसी तरह सीमित

नहीं रखना चाहता था, जिस तरह अपने शास्त्रोंके ज्ञानको सूत्र, विनय और अभिधर्म के अध्ययन तक। जान जाने पर मेरे गुरु जिनवर्मा और महास्थविर गुणवर्द्धन नहीं चाहते, कि मैं अध्ययनमें लगने वाले समयको चिकित्सा सीखनेमें लगाऊँ। अपने किसी आचरणको छिपाना या किसी कामको उनकी अनुमतिके बिना करना मेरे स्वभाव में नहीं था, लेकिन, चिकित्सा सीखनेमें मैंने इस नियमका पालन नहीं किया।

सुभूमिके चार वर्षके निवासका अन्त आ रहा था। तीसरे वर्षके मध्यमें पहुँचनेके साथ ही मुझे बराबर यात्राके लिये बेकरारी होने लगी। चौथे वर्षके मध्य तक तो साफ मालूम होने लगा, कि अपने विहारमें मेरा यही अन्तिम हेमन्तवास होगा। अन्तिम छः महीनोंमें आँख बचाकर मैं मूल विहारसे सुभूमिके एक दूसरे विहारमें आया-जाया करता था, जिसमें उद्यानके एक प्रसिद्ध वैद्य भिक्षु रहा करते थे। उनसे मैंने कहा, कि नियमपूर्वक सारे चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करना मेरे लिये सम्भव नहीं। मैं चारिका (यात्रा) करनेवाले भिक्षुके लिये उपयुक्त चिकित्सा-ज्ञानको सीखना चाहता हूँ और वह भी अपने आचार्य-उपाध्यायकी आँख बचाकर। भिक्षु-वैद्य भी देशान्तरमें घूमे हुए थे, और अवस्था अधिक हो जानेके कारण ही अब उन्होंने चारिका करनी छोड़ दी थी। वह मेरी आवश्यकताओंको जानते थे। उन्होंने अधिक होने वाले रोगोंके पहचाननेका निदान मुझे बतलाया, फिर उपचार और कुछ औषधियोंको सिखलाया। यह कहते हुए कुछको तो मेरे हाथों से बनवाया—हर जगह बनी-बनाई औषधि या उसकी सामग्री सुलभ नहीं है, इसलिये तुम्हें उन्हें बनानेकी विधि सीख लेनी चाहिये। हर देशमें सभी तरहकी जड़ी-बूटियाँ सुलभ नहीं हैं। उद्यानकी कुछ जड़ी-बूटियोंका परिचय कराते हुये उन्होंने जम्बू द्वीप और कांस्य देश तककी अपनी विचरणभूमिकी औषधियोंके बारेमें कुछ बातें बतलाई। अन्तिम वर्षके बचाये हुये जिस समयको मैंने चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञानके अर्जन में लगाया था, और उसमें जितनी सफलता मिली थी, मैं उससे असंतुष्ट नहीं था।

अध्याय ५

गन्धार-कश्मीर (५४१-४२ ई०)

मैं २३ वर्षका हो गया था। यह तो नहीं कह सकता, कि मेरी ज्ञानवृद्धिके लिये उद्यानमें योग्य गुरु नहीं थे, किन्तु महासरोवर चाहे कितना ही बड़ा हो, वह समुद्र जैसा आकर्षण नहीं रखता। हमारे उद्यानमें जो बड़े-बड़े विद्वान् थे, उनमेंसे सभीने विद्याध्ययनके लिये अपना बहुत सा समय मध्यमंडल में बिताया था। यद्यपि हमारे पड़ोसी कपिशा, गन्धार और कश्मीर भी तथागतकी चरणधूलिसे पुनीत थे—जहाँ तक किंवदन्तियोंका सम्बन्ध था यही सुना जाता था, पर विनय और सूत्र-पिटकके देखने पर मालूम होता है, कि वहाँ कोई भी ऐसा वाक्य नहीं है, जिससे सिद्ध हो कि भगवान्ने मध्यमंडलसे बाहर विहार किया था। जो भी हो, हम उद्यानी भिक्षुओंको लिये अपने महापंडितों, विनयधरों और लक्षणशास्त्रियोंके लिये प्रसिद्ध गन्धार-कश्मीर घर सा मालूम होता था, और दूरके स्थान ज्यादा आकर्षक। मैं बचपनमें माँके साथ एक बार गन्धार-राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) देख आया था, किन्तु वह बाल्य-कालकी बात थी। उस समय ज्ञान परिमित होनेसे मैं उस पुनीत नगरीके दर्शनसे जो आनन्द या लाभ ले सकता था, वह नहीं ले पाया। अब मैं फिर उसके दर्शन करना चाहता था। गन्धार जानेसे पहले मैंने कपिशाको देखना चाहा। हम अत्यन्त सर्द मुल्कके आदमी थे। गरम मुल्कोंकी जो बातें सुननेमें आती हैं, उनसे दिल घबड़ा उठता:—वहाँ बहुत काले साँप होते हैं, जिनके छू भर देनेसे आदमीके प्राण निकल जाते। वहाँ मच्छर, बिच्छू और संताप देनेवाले क्या-क्या नहीं जन्तु रहते। गर्मियोंमें वहाँ रहकर कोई बिरला ही लौट पाता है इत्यादि-इत्यादि बहुत सी बातें मैंने सुन रक्खी थी, लेकिन मेरे

आचार्य वर्षों मध्यमंडलके अत्यन्त गरम स्थानोंमें रह आये थे, वह जीवित-जाग्रत मेरे सामने थे। यदि वह बचकर चले आये, तो पग-पग पर मैं क्यों मृत्युको ही देखूँ ?

बसन्तका समय था। गर्मियोंके दिन इसके बाद ही आरंभ होते हैं। यदि मध्यमंडलकी ओर जाना होता, तो हम जाड़ोंके समयमें प्रस्थान करते, लेकिन कपिशा पहाड़ी और ठंडी जगह है। हमारे गाँवों जितना नहीं, तो भी उसे ठंडा ही कहना होगा। विहारसे एक बड़े और दो छोटे-छोटे डाँड़ोंको पारकर हम सुवास्तुकी अहिन कुनर नदीके किनारे चले आये। यह बड़ी नदी है, इसकी भी उपत्यका हरी-भरी है। हमारे साथ तीर्थयात्रियोंकी एक मंडली चल रही थी। यद्यपि मैं चार-पाँचसे अधिक सहयात्री पसन्द नहीं करता, और सो भी उपासकोंको नहीं भिक्षुओंको ही। उपासकों (गृहस्थों) के घर-द्वार होते हैं, पुत्र-पौत्र होते हैं। उन्हें सब बातोंमें जल्दी पड़ी रहती है। वह झटपट अपनी तीर्थयात्रा समाप्त करके घर लौटना चाहते हैं। हम भिक्षु निर्द्वन्द्व होते हैं, हमें किसी चीजकी पर्वाह नहीं होती। जहाँ चाहा दो-चार दिन नहीं दो-चार महीने रुक गये, बस्ती और नगरमें ही नहीं, पशुपालोंके डेरोंमें, महावनोंमें भी। उद्यानकी भूमिने मेरे मन में पर्वतीय नदियों, देवदारु और दूसरे सदाहरित वृक्षोंसे ढँकी गिरिमालाओंके प्रति एक विशेष आकर्षण पैदा कर दिया था।

मनुष्यकी बाल्य-स्मृति सबसे मधुर होती है। उसकी बाल्य आँखें जिसके सौन्दर्य और सुषमाके पक्षमें अपना निर्णय दे देती हैं, वह जीवन भरके लिये पक्का हो जाता है। जाग्रत या स्वप्न अवस्थामें पुरानी स्मृतियाँ जग-जगकर आदमीको उधर खींचती हैं। कुनारका तट भी, विशेषकर उसका ऊपरी भाग, हमारी आँखोंमें बड़ा रमणीय जँच रहा था। हम दो ही तीन दिन बाद उसके किनारेके नगरमें पहुँचे। हमारे लोग किसी भी बड़े ग्राम-को, जहाँ दस-पाँच दूकानें, कोई अच्छा सा विहार और एक छोटा-मोटा राजा

हो, उसे नगर कह देते हैं। यह नगर नगरहारका पासंग भी नहीं था। खैर, अभी तो मैंने खुली आंखोंसे बड़े नगरोंको देखा ही नहीं था। हमारे सहयात्री, विशेषकर उपासिकायें तो इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं थकती थीं। उपासक-उपासिकाओंके साथ चलनेका एक लाभ जरूर था, कि हमें भिक्षाके लिये कोई तरद्दुद करना नहीं पड़ता था। सूर्योदय होते ही लघु आहार—जो हमारे एकाहारी भिक्षुओंके लिये पूर्ण आहार जैसा होता था--तैयार मिलता। उसके बाद हमारी मंडली चल पड़ती। नदीके नीचे हम जितना ही आगे बढ़ रहे थे, उतनी ही गर्मी भी बढ़ती जा रही थी, लेकिन अभी वसन्तकी सह्य गर्मी थी। तो भी हम सबेरे और शामको ही चलना पसन्द करते थे। अश्मर-की अच्छी खासी बस्ती नदीके बाँयें तट पर बसी हुई है। यहाँसे आगे हमें गर्मी अधिक लगने लगी। कुनार भी एक अच्छी खासी बस्ती है। शायद नदीका नाम इसीके कारण पड़ा। सुवास्तु भी तो इसी तरह नदी और प्रदेश दोनोंका नाम है। नगरहार तक हम इसी तरह अधिक गर्म और गरम स्थानमें बढ़ते गये। नगरहार पहुँचनेसे बहुत पहले ही पहाड़ नंगे क्या हो गये, उनकी श्री छिन गई। बिना वृक्ष-वनस्पतिका भी कोई पहाड़ हो सकता है, इसकी मुझे तो कल्पना नहीं थी। हमारे लोग थोड़ी देरके लिये नगरकी विशालता, तरह-तरहके पण्योंसे सजी उसकी दूकानों तथा सोनेकी छतोंवाले बिहारों और प्रतिमागृहोंको देखकर सब कुछ भूल गये। मैं नंगे पहाड़ोंको देखकर खिन्न हो रहा था। इसमें शक नहीं, नंगे होनेपर भी छोटी-छोटी कुल्याओंको लाकर यहाँ खेतीबारी और बागवानी बहुत होती है। हमारे यहाँ से भी अच्छे फल होते हैं। चावल भी बहुत अच्छे किसिमका होता है। यदि हम अधिक सर्द देशके रहनेवाले न होते, तो यहाँके जलवायुको सुखद कह सकते थे। लोग सौम्य स्वभावके थे, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं, कि वह समय पड़नेपर प्राणोंकी बाजी लगानेके लिए तैयार न होते। विद्याके प्रति, कलाके प्रति, प्रेम और सम्मान किसे कहते हैं इसे मैंने पहले-पहल यहाँ देखा।

नगरहार (जलालाबाद, १६६० फुट)

नगरहार हमारे लोगोंके लिये पुरुषपुर (पेशाँवर) जैसा ही पुनीत स्थान है। यहाँके विहार, चैत्य और प्रतिमागृह पुरुषपुर जितने विशाल और सम्पन्न न हों, तो भी यहाँ तथागतके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही पवित्र वस्तुयें हैं। जब पुरुषोत्तम पृथ्वीपर अपने उपदेशों द्वारा लोगोंको कृतार्थ करते विचर रहे थे, उस वक्त कोटि-कोटि लोगोंने उनका दर्शन किया होगा, उनकी कलविंक जैसी मधुर वाणीको सुना होगा और तृप्तिलाभ की होगी। लेकिन, वह तो अब हजार वर्ष पहलेकी बात हो गई। उन द्विपदोत्तमके दर्शनके लिये हमारी आँखें भी प्यासी हैं, हमारे कान भी उनकी जीवनदायिनी देशनाको सुनना चाहते हैं। देशनाका आनन्द हम तथागतकी सूक्तियों को पढ़कर कुछ ले लेते हैं। लेकिन, यहाँ नगरहारमें भगवानकी ग्रीवा-अस्थि मौजूद थी—"तीन अंगुल लंबी ढाई अंगुल मोटी पीताभ, देखनेमें मधुच्छत्र जैसी"। यही तो वह पुनीति अस्थि है, जो कभी तथागतके शरीरका अभिन्न अंग थी। फिर हमने उस विहारको भी देखा, जिसमें भगवान्की संघाटी (चीवर) रक्खी थी। भगवान्ने गृहस्थोंपर भार न देनेके लिए चाहा, कि भिक्षु नये कपड़े का ही चीवर नहीं बना रास्तेमें फेंके हुये चीथड़ोंको भी सीकर अपने शरीरको ढाँके। चीथड़ों और नये कपड़ोंकी संघाटीमें समानता रखनेके लिये उन्होंने जहाँ उन्हें काषायसे रंगनेका विधान किया, वहाँ मगधके धानकी क्यारियोंको दिखलाकर यह भी बतलाया, कि तुम्हारे चीवर इस तरहके होने चाहिये। नये कपड़ोंको भी काटकर क्यारियोंके रूपमें ही चीवर बनाये जाते हैं। तथागतकी इस संघाटीमें भी तेरह खंड जुड़े हुये हैं, चारों तरफ दशा (मगजी) लगी हुई है। संघाटीके साथ-साथ भगवान्का खक्खरदंड भी यहाँ मौजूद है। जो कभी उनके हाथमें रहकर चलने-फिरनेमें आश्रय देता था, आज वह निराश्रय हो यहाँ पड़ा हुआ है। ऐसी पवित्र वस्तुओंके प्रति लोगोंकी श्रद्धा जैसे अतिरंजनासे काम लेती है, वैसे

ही इस दंडके बारेमें भी है, वह एक सुवर्णमंडित काष्ठके आधार पर रखा हुआ है। कहते हैं, सैकड़ों आदमी लगकर भी यदि इसे उठाना चाहें, तो भी नहीं उठता और किसी समय एक साधारण बालक भी उसे उठा सकता है। एक विहारमें भगवान्‌का दन्त और केश भी रक्खा हुआ है। इन सभी पवित्र धातुओं की पूजा सवेरे-शाम होती है। उसी समय लोग उनका दर्शन कर सकते हैं। लोगोंकी श्रद्धासे लाभ उठाते हुये धर्मके व्यापारी उन्हें वंचित भी करते हैं, इसलिये जो भी परम्परायें सुननेमें आती हैं, उनमें सबपर विश्वास करना मेरे जैसे श्रद्धालुके लिये भी कठिन है। खासकर केशके बारेमें मुझे सन्देह है, क्योंकि अपने दीर्घकालीन अध्ययनमें मैंने कहीं नहीं देखा, कि भगवान्‌ने अपने केशोंको कटवाया हो। भिक्षुवेश धारण करते समय ही उन्होंने अपने केशोंको अपनी तलवारसे काट लिया था, जिसे देवेन्द्र शक्र देवलोकमें ले गये। कुसीनारामें जब भगवान्‌का शरीर अग्निको भेंट किया गया, उस समय भस्म तथा अस्थिके अवशेषोंको जमा करके बाँटा गया, पर केशोंके होनेकी कोई बात नहीं मालूम होती। आग में केशोंका जल जाना ही स्वाभाविक था। जो भी हो, जब चारों ओर श्रद्धालुओंकी मूढ़ मंडली हो, तो उस समय बुद्धिकी बात छेड़ना असमय की रागिनी है।

हमारी मंडली तीन-चार दिनके लिये नगरहारमें ठहरेगी, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हम भिक्षु जहाँ-कहीं भी विहार मिलते, उपासकोंको उनके लिये बने उपाश्रय, अतिथिगृह, या दूसरे स्थानोंमें रख विहारोंमें चले जाते। यही हमारे यहाँ शिष्टाचार था। नगरहारके भिक्षुओंमें मैंने एकसे एक विद्वान् देखे, और बाजवक्त मन करने लगा, कि यहीं क्यों न रहकर उनसे कुछ सीखें। लेकिन, नगरहार तो उद्यानका घर-आँगन है, अभी मुझे बहुत देश देखने थे। मेरा जो कुछ ज्ञान था, उससे नगरहारके नायक स्थविर मुझसे प्रसन्न हुये थे। वह स्वागत करते, यदि मैं उनके पास रहनेकी इच्छा प्रकट करता। एक ही दो दिन तक मैं डाँवाडोल स्थितिमें रहा, फिर यही निश्चय किया, कि मध्यमंडल छोड़ और कहीं रहना नहीं होगा।

नगरहारके आसपास कितने ही और विहार हैं, कुछ तो पहाड़ोंके भीतर और उनकी कन्दराओंमें भी हैं। यहाँकी गोपगुहाके दर्शन के लिये लोग बहुत जाते हैं। मैं भी वहाँ गया। कहा जाता है, तथागतने मनुष्यलोकमें विहार करते समय यहाँ पर अपनी छाया छोड़ दी, जो कि अब भी देखनेमें आती है। नगरसे आधा योजन दक्षिण यह गुहा अवस्थित है, जिसका मुँह पश्चिमकी ओर है। गुहासे कुछ दूर हटकर ध्यानपूर्वक देखनेसे तथागतका सुवर्णवर्ण रूप दिखलाई पड़ता है, जितना ही उसके पास जायें, उतनी ही छाया स्पष्ट होती जाती है। कहा जाता है, बहुतसे कुशल चित्रकारोंने इस छायाकी प्रतिच्छवि लेनी चाही, लेकिन वह इसमें सफल नहीं हुये।

नगरसे एक योजन उत्तर-पूर्व उपत्यकाके मुँहपर वह विहार है, जिसमें तथागतका चन्दनका छत्तरदण्ड रक्खा हुआ है। चन्दनोंमें सर्वश्रेष्ठ गोशीर्ष चन्दनकी बनी यह यष्टि १६-१७ हाथ लम्बे काष्टकी आधानीमें रक्खी हुई है। भगवान्‌की संघाटी पश्चिम की ओरके विहारमें है। लोगोंका विश्वास है, कि अना-वृष्टि होनेपर यदि संघाटीकी शोभा-यात्रा करके पूजाकी जाये, तो वृष्टि होने लगती है। छाया विहारसे ४०० हाथ पश्चिम जाने पर वह स्थान है, जिसके बारेमें कहा जाता है, कि तथागतने यहाँ अपने केश और नखका छेदन किया था और भविष्यका संकेत करते हुये ७०-८० हाथ ऊँचा एक स्तूप बन-वाया था। वही स्तूप आज भी वहाँ वर्तमान है। पासमें और छोटे-बड़े हजारों चैत्य हैं, जिनमें अनेक अर्हतोंकी धातुयें (हड्डियाँ) रक्खी हुई हैं।

तीन-चार दिनमें हमने नगरहार* और उसके आसपासके सभी पवित्र स्थानों को देख लिया।

एक योजन दक्षिण-पूर्व जाकर हम अस्थि (हड्डी-हड्डा) नामक नगरमें पहुँचे। यह नगर या बड़ी बस्ती एक कोसके घेरेमें पहाड़ीके ऊपरी भाग पर अवस्थित है। पहाड़के नंगे होने पर भी द्राक्षा, उदुम्बर (अंजीर) जैसे सुमधुर

* जलालाबाद (नगरहार) से ५ मील दक्षिण।

फलोंके बगीचों और कितनी ही पुष्करणियोंके कारण स्थान बड़ा रमणीय है। उद्यानके भीतर एक दुमंजिला भवन है, जिसमें तथागतकी उष्णीष-अस्थि, उनकी खोपड़ी, एक आँख, खक्खरदंड और संघाटी रक्खी हुई है। धातुगृहके उत्तरमें एक अद्भुत पाषाण-स्तूप है, जो अँगुलीके धक्केसे हिलने लगता है।

कपिशा

नगरहारके आसपासके पवित्र स्थानोंके दर्शनके बाद हम अब पश्चिम दिशाकी ओर बढ़े। नगरके पास ही कुभा (काबुल) नदीसे मिल जाती है। हमें मालूम था, कि कुभा कपिशासे आ रही है, लेकिन नदीके रास्ते हर जगह जाना सुगम नहीं था, इसलिये हमारा रास्ता अधिकतर छोटी-बड़ी पहाड़ियोंके ऊपर या किनारे-किनारे था। अब फिर हम गरम जगहसे ठण्डी जगहकी ओर बढ़ रहे थे। पहाड़ वैसे ही नंगे थे, कहीं कहीं गाँवोंमें जरूर खेत और बाग-बगीचे थे, लेकिन पहाड़ोंपर कहीं ही कहीं मूजके झुरमुट दिखाई पड़ते थे। मुझे लगा, शायद यही मुँजवान् पर्वत था। एक बड़े डाँड़ेको पार करनेके बाद हम अपेक्षाकृत ठंडी जगहमें पहुँच गये। अन्तमें हम कपिशाकी राजधानी (बेग्राम, कोहदामन) में पहुँच गये। कपिशाकी द्राक्षा अपने स्वाद और सौंदर्यमें अद्भुत मानी जाती है। सूखी द्राक्षा मैंने देखी और खाई थी, लेकिन ताजीको देखने का यहीं मौका मिला। यद्यपि अभी द्राक्षालताओंमें पत्तियाँ ही निकलने लगी थीं। यह उसके फलोंका मौसिम नहीं था, लेकिन कपिशावाले इन्हें सुरक्षित रखना जानते हैं। पकी हुई द्राक्षाको हाथसे तोड़कर बड़ी सावधानीसे कच्ची मिट्टीके डब्बोंमें रखकर ऊपरसे पिधान दे मिट्टीसे चारों ओर लेप देते हैं, फिर उसे साल भर तक खोलनेपर वैसे ही ताजा पाया जाता है। पांडुवर्ण, पारदर्शक दो-दो ढाई-ढाई अंगुलके द्राक्षाफल देखने हीमें सुन्दर नहीं, बल्कि खाने में भी बहुत मधुर थे।

नगरहार, कपिशाके राजाके अधीन है। कपिशाके उत्तर में हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियाँ हैं, जिसे पार कर बाह्लीकों (बलख) की

भूमिमें पहुँचा जा सकता है। कपिशा क्यों नाम पड़ा, कपि—वानरके लाल मिश्रित पीले रंगसे इस भूमिका क्या संबंध ? इस तरहकी बातें मेरे दिमागमें चक्कर काट रही थीं। लेकिन, जब मैंने कपिशावासी नरनारियोंको पिंगलवर्ण और पिंगलकेश देखा, तो मुझे विश्वास हो गया, कि शायद इसीके कारण लोगोंको कपि और उनकी भूमिको कपिशा कहा जाने लगा। कपिशा अधिक ठंडी—यद्यपि हमारे गाँव और विहार जितनी नहीं—तथा प्रशस्त उपत्यका है। बीचसे कुभा नदी बहती है, और चारों ओर पहाड़ चले गये हैं। राजधानी बहुत बड़ी नहीं है, शायद आधे योजनकी हो। मकान यहाँके बड़े सुन्दर हैं, जिनके बनानेमें लकड़ीका भी काफी इस्तेमाल हुआ है। आसपासके पहाड़ जंगलोंसे सूने हैं। कपिशा द्राक्षालताओंकी भूमि है। यहाँ गेहूँ, जौ और दूसरे बहुत प्रकारके अनाज पैदा होते हैं। अपनी केसर और घोड़ों के लिये भी कपिशा प्रसिद्ध है। लोग कुछ उद्दंड मालूम होते हैं। यहाँ के लोग उत्तरवाले हिमाच्छादित पर्वतोंके पारके निवासी तुखारोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। पोशाक यद्यपि इनका चुना हुआ सुत्थन (सलवार) और ऊपर सिरसे डालकर पहनने-वाला जामा है। सिरपर यह लोग पगड़ी बाँधते हैं, लेकिन इनके शासक येथोंकी पोशाक भिन्न है। जैसी पोशाक मैंने पीछे कूची और दूसरे प्रदेशोंमें देखी उसे देखनेपर मुझे विश्वास हुआ, कि आगन्तुक शायद कूचियोंके भाई-बन्द थे। सर्द मुल्क होनेसे हमारे उद्यानियोंकी तरह यहाँके लोग भी ऊनी कपड़ोंका अधिक व्यवहार करते हैं। कोमलता और सुन्दरताके लिये यहाँ के कंबल(दुशाले) दूर-दूर तक मशहूर हैं। कपिशामें सैकड़ों विहार हैं। गाँव-गाँवमें सुअलंकृत चैत्योंको देखकर पता लगता है, कि तथागतका धर्म यहाँ सर्वत्र सन्मानित है। लेकिन, यहाँ पाशुपत और दूसरे धर्मवाले भी रहते हैं, यह उनके मन्दिरोंके देखने से जान पड़ता है।

कपिशाकी राजधानी (बेग्राम) अब भी एक छोटे से राजाकी राजधानी है। उसके आसपासके उजड़े घरों और बीथियोंको देखनेसे मालूम होता है, कि पहले यह नगरी और भी विशाल रही होगी। बहुत सी दीवारोंके अब भी खड़े

रहनेसे यह मालूम होता है, कि उसकी यह अवस्था बहुत पुराने कालमें नहीं हुई। येथा (श्वेत हूण) लोगोंके आक्रमणके समय कपिशा राजधानीका भारी ध्वंस हुआ, यह अब भी पुराने लोगोंकी स्मृतिमें है। महाराज मिहिरकुलका शासन यहाँ भी माना जाता है, यद्यपि प्रतापके क्षीण होनेके कारण उसका उतना मान नहीं है। कपिशामें कई विहार हैं। महाराजा कनिष्ककी अनेक राजधानियोंमें कपिशा भी एक थी, इसलिये यहाँके राजविहारका आरम्भ उन्होंने किया होगा। उसके बारेमें एक और भी परम्परा है। कनिष्क केवल हमारे देशके ही शासक नहीं थे, बल्कि उनका राज्य सीताके तटसे पीत नदीके पास तक फैला हुआ था। किसी समय चीनसे उनकी लड़ाई हुई, जिसमें जमानत (प्रतिभू) के तौर पर चीनके सम्राटने अपने एक कुमारको कनिष्कके दरबारमें भेजा। कनिष्कने राजकुमारका बहुत सम्मान किया। ऋतुओंकी अनुकूलता देख राजकुमारको गर्मियोंमें कपिशा, शरदमें गन्धार और जाड़ोंमें भारतमें रहने के लिये महल बनवा दिये। खर्चके लिये एक प्रदेश दे दिया, जो कि आज भी चीनभुक्तिके नामसे प्रसिद्ध है। कपिशाके राजविहारको उसी राजकुमारका बनवाया बतलाया जाता है। राजकुमारने अपने हरेक निवास-स्थानमें एक-एक विहार बनवाये थे। कपिशाके राजविहारकी दीवारोंपर जो चित्र अंकित हैं, उनमें कुछ चीनी राजकुमारों जैसे मालूम होते हैं, उससे भी उस परंपरा की पुष्टि होती है। राजकुमारने विहारके लिये बहुत से वृत्ति-बंधान किये थे। आज भी वर्षोपनायिका (अषाढ़ पूर्णिमा) और महाप्रावारणा (आश्विन पूर्णिमा) के महापर्वोंके समय राजकुमारकी ओरसे भिक्षु-संघको दान सम्मान किया जाता है। उपोसथगारके पूर्वी दरवाजेके दक्षिण तरफ एक चहबच्चा खोदकर राजकुमारने बहुत सा धन यह लिखकर गाड़ दिया था, कि खंड-मुंड परिष्कार और मरम्मतके लिये इस धनका उपयोग किया जाये। कथा सुनानेवाले स्थानीय भिक्षुने अन्तमें यह भी बतलाया, कि कुछ समय पहले सीमान्तके एक राजाने इस खजानेके ऊपर लोभकी नजर डाली, और उसे लूटना चाहा। इसपर रक्षक देवताके मुकुट पर बनी तोतेकी तस्वीरने अपने

पंखोंको फड़फड़ाकर चिल्लाना शुरू किया, जिससे धरती भी काँप उठी, राजा और उसके सिपाही वहीं बेहोश होकर गिर पड़े। जब होश आया, उन्होंने अपराधके लिये क्षमा प्रार्थना की। फिर वह अपने देश लौट गये।

कपिशा पारस्य, बाह्लीक, तुखार, जम्बू द्वीप सभी देशोंके व्यापारियों और यात्रियोंके समागमका स्थान है। यहाँके राजविहारमें चारों दिशाके भिक्षु दिखाई पड़ते हैं। इस कथाके सुननेवालोंमें भिक्षु बुद्धिल भी थे। उनकी उमर मुझसे तीन ही चार वर्ष बड़ी थी, किन्तु देखनेमें वह मेरी उमरसे कम ही मालूम होते थे। वह कथा सुनते हुए मुस्कुरा रहे थे और अन्तमें उन्होंने कहा: राजा और उसके सैनिकोंको क्षमा माँगकर लौटने क्यों दिया? तोता मार देता, यही अच्छा होता। बुद्धिलकी चमकती आँखों और तेजस्वी चेहरेको देखने से ही मालूम होता था, कि उनमें असाधारण प्रतिभा है। उनके बात करने-का ढंग भी बड़ा आकर्षक था। उसके बाद ही हमने एक दूसरे बारेमें परिचय प्राप्त किया और फिर वह परिचय कपिशामें ही घनिष्ठताके रूपमें परिणत हो गया। जीवन में मुझे बहुतसे मित्र मिले, किन्तु बुद्धिल जैसा नहीं। वह कितने उदार और स्नेही पुरुष थे। अपने नामके अनुरूप ही बुद्धि उनमें कूट-कूटकर भरी थी, जो कभी-कभी मुझे उतनी प्रिय न नलगती थी। हमारे मतभेदके कितने ही स्थान थे, किन्तु मतभेद रखते हुये भी दो पुरुषोंमें ऐसा प्रेम हो सकता है, यदि बुद्धिलसे मेरा सम्पर्क न हुआ होता, तो मैं इसे माननेके लिये तैयार न होता। उसके बाद तो हम एक दूसरेकी छायाकी तरह रहने लगे। हम दोनों ही राजविहारके शालकमें रहते थे। उस विहारके उत्तरके पहाड़ोंमें कुछ गुफायें हैं, जहाँ चीन-राजकुमार ध्यान किया करते थे। वहाँपर भी एक यक्षकी रक्षामें उन्होंने खजाना गाड़ रक्खा था। बुद्धिल कहने लगे—तथागतके परिग्रह-रहित भिक्षु धनके पीछे कितने मर रहे हैं! स्वप्नमें भी किंवदन्तियोंमें भी उन्हें गड़ी हुई निधियाँ ही याद आती हैं। उन्होंने मेरे टोकनेपर कहा: सिंहलसे तुखार तक मैं घूमा हूँ। जहाँ देखो, यही कथा। यहाँ अमुक राजाने खजाना गाड़कर देवताको

बैठा दिया, वहाँ अमुक सेठने एक कोटि निधि रखकर किसी राक्षसको रखवाला बना दिया। कथा एक है, स्थान भिन्न-भिन्न हैं, और रखवालोंमें जरा-जरा परिवर्तन। बुद्धिलने जब अपनी उमर २६ साल बतलाई, तो मुझे उनकी यात्रा-पर आश्चर्य हुआ। इसपर उन्होंने कहा : मेरे गुरु धर्मलाभ बराबर घूमते ही रहते थे। वह अद्भुत विद्वान् थे, लेकिन कहीं छ महीनेसे वेसी ठहरना उनके लिये असंभव था। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ, कि मैं बारह वर्षकी उमरसे छायाकी तरह उनके साथ रहा। तुम समझते होगे, इस यात्रासे मेरे अध्ययनमें विघ्न पड़ा होगा। नहीं, मेरे उपाध्याय इसका बराबर ध्यान रखते थे, कि वैसा न होने पाये। उनके पास जो अपार विद्यानिधि थी, उस सबका अव-गाहन करना मेरी शक्ति के बाहर था, लेकिन उन्हींका प्रसाद है, जो मैं दो अक्षर पढ़ सका।

बुद्धिलको अपनी विद्याका अभिमान छू नहीं गया था, यह उनके दो अक्षरके कहने हीसे मालूम होगा, लेकिन उनके एक-एक अक्षरमें लाखों श्लोकों-का ज्ञान भरा हुआ था, यह मुझे उनके सहवाससे मालूम हुआ। उनके साथके सात वर्षके सहवासमें यद्यपि मैंने और आचार्यों से भी कुछ-कुछ पढ़ा, लेकिन मेरे असली आचार्य बुद्धिल ही थे। एक तरह कह सकता हूँ, कि मैंने घनिष्ठता बढ़ानेके लिये ही और विद्वानोंके पास पुस्तकके पन्ने उलटे, नहीं तो वह उन सभी विषयोंको मुझे पढ़ा सकते थे, जिन्हें मैं पढ़ना चाहता था। वैसे फक्कड़ और हर वक्त पैरमें चक्कर बाँधे हुये बुद्धिल जब किसी ऐसे बड़े विहारमें पहुँच जाते हैं, जहाँ दुर्लभ ग्रंथोंका संग्रह होता, तो वह महीनोंके लिये वहाँ डट जाते, और जब तक अपठित सारी पुस्तकें समाप्त नहीं कर लेते, वहाँसे हटनेका नाम न लेते। उनमें दिखावा बिल्कुल नहीं था, न अपनी विद्याका, न अपनी बुद्धिका। मैंने अनेक बार उन्हें बड़े-बड़े तार्किकोंको चुटकी बजाते-बजाते चुप करते देखा, लेकिन उसके बाद ही अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ वह इतने नम्र हो जाते, इतना विनय दिखलाते, कि मालूम होता वह उसके शिष्य हैं।

इस प्रकार पराजित होनेवालेको वह अपने स्नेहसूत्रसे हमेशाके लिये बाँध लेते।

कपिशामें जहाँ-जहाँ भी घूमना होता, अब हम दोनों साथ-साथ जाते। वर्षावासके लिये हम यहीं ठहर गये। हमारे उद्यानके तीर्थयात्री उपासक-उपासिका पहले ही लौट चुके थे। साथ आये भिक्षुओंमेंसे भी कोई नहीं रह गया था। एक दिन राजकुमारकी ध्यानगुफासे आध कोस पश्चिममें अवस्थित अवलोकितेश्वरकी मूर्तिके दर्शनके लिये गये। मूर्ति बड़ी सुन्दर है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। राजधानी से ५-६ कोस दक्षिण-पूर्वमें राहुल-विहार भी एक बड़ा विहार है, लेकिन यह बोधिसत्व सिद्धार्थके पुत्र राहुलके नामपर नहीं बना है, बल्कि इसका बनानेवाला राहुल नामक एक राजामात्य था। राजधानीसे ६ कोस दक्षिण स्फीतफल नामका एक नगर है। इसके बारेमें लोगोंका विश्वास है, कि जब सभी जगह भूकम्प और भूपात होता है, तब भी यहाँकी भूमिपर उसका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस नगर के दक्षिणमें ४-५ कोसपर बड़ा ही ऊँचा, तथा जबर्दस्त खड्डोंवाला अरुण पर्वत है, जिसके बारेमें कहावत है, कि वह शुनासीर पर्वतकी ओर झाँकता प्रतिवर्ष सैकड़ों हाथ ऊँचा उठते फिर एकाएक दब जाता है। कथा कहनेवालेने बतलाया, कि शुनासीर (शुनादेवता) एक बार कहींसे आ रहा था। वह इस पहाड़पर रुकना चाहता था। पहाड़के देवताने समझा, कहीं यह आगन्तुक हमारे ऊपर हाथ न साफ करे, इसलिये वह अपने शरीरको हिलाने लगा। इस पर शुनादेवताने कहा : "तुम यह हड़कम्प इसलिये मचा रहे हो, कि मैं यहाँ विश्राम न करूँ। यदि तुमने जरा सा भी मेरा आतिथ्य किया होता, तो मैं तुम्हें धनसे मालामाल कर देता। अब मैं चौकूट देशमें शुनाशिला पर्वतपर जाता हूँ, जहाँ राजा और राजामात्य प्रतिवर्ष मेरी पूजा करेंगे। उस समय मेरे अधीन हो दर्शक बनकर तुम वहाँ रहोगे।" कहते हैं इसीलिये अरुण पर्वत प्रतिवर्ष शुनादेवताकी पूजाके समय खड़ा होकर उसकी ओर देखता है और फिर दब जाता है।

बुद्धिल इस तरहकी कथाओंको बड़े चावसे सुनते थे। उस वक्त मालूम होता था, कि इन बातों पर उनका विश्वास है। वह कथाओंकी रोचकताको और बढ़ाते हुये कभी कभी दोहराते थे, यद्यपि उनका विश्वास जरा भर भी नहीं था। पहाड़ है, उसमें न कोई देवता है, और न घटने-बढ़नेकी शक्ति। जनसाधारणके लिये ऐसी कथायें प्रिय होती हैं, इसलिए उनके गढ़नेवालोंकी कमी नहीं होती। ये हमारे निर्लोभी कहे जानेवाले भिक्षु उन्हें दोहराकर भोले-भाले उपासकों और उपासिकाओंको मुग्ध कर उनसे कुछ लेनेकी कोशिश करते हैं। इन कथाओंके लिये बुद्धिलको यदि किसीके ऊपर क्रोध आता था, तो वह थे भिक्षु तथा पुरोहित। कपिशासे पश्चिमोत्तरमें वही महान् हिमवान् है, जो हमारे उद्यानके उत्तर दिखलाई पड़ता है और जिसे हमने तथागतकी जन्म-नगरी कपिलवस्तुके उत्तरमें देखा। कपिशाके उत्तर एक बड़ा सरोवर है। कहते हैं उस सरोवरमें एक नागराज रहता है। यह नागराज कनिष्क राजाके समय बड़ा उपद्रव करता था, यद्यपि पहले वह बड़ा भलेमानुस था। गन्धार देशमें किसी अर्हत् भिक्षुके एक श्रामणेर (शिष्यके) मनमें कामना हुई, कि मैं मर कर नागराज होऊँ। वह बड़ा क्रोधी स्वभावका तरुण था। मरनेके बाद नागयोनिमें उसका जन्म हुआ, और उसका क्रोधी स्वभाव उसके साथ-साथ था। वह इसी सरोवरमें जाकर पैदा हुआ। पहलेका नागराज उसे क्यों पसन्द आने लगा। वह उसे मारकर स्वयं लोगोंका राजा बन गया। अपने स्वभावके अनु-सार समय-समय पर उत्पात मचाता। कनिष्क राजाके समय भी उसने ऐसा ही किया। उसने इतना पानी बरसाया, कि बहुत से वृक्ष-वनस्पति उखड़कर बह गये, पहाड़की जड़में बना विहार ध्वस्त हो गया। खबर सुनकर कनिष्क राजाने कहा कि हम इस सरोवर को पाटकर सुखा देंगे। उसने इसके लिये लाखों आदमी लगा दिये। नागराजकी अक्ल अब ठिकाने आई। सरोवरके पानीके सूख जानेपर तो उसका घर ही उजड़ जाता। उसने बूढ़े ब्राह्मणका रूप ले राजाके पास जा हाथ जोड़कर बहुत प्रार्थना की, कि अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। कनिष्कने उससे प्रतिज्ञा करवाई, विहारको फिरसे बनवा वहाँ एक बड़ा

स्तूप स्थापित कर दिया। विहारमें कह दिया, कि एक आदमी बराबर सरोवरकी ओर देखता रहे। अगर वहाँ काले बादल उठते दिखाई पड़ें, तो घन्टा बजा दे। तबसे अब तक यही किया जाता है। अपने स्वाभाविक क्रोधके कारण जब कभी नागराज काले बादलोंको उठाता है, तो घन्टा बजा दिया जाता है और कनिष्कके साथ की हुई प्रतिज्ञाको याद करके उसका गुस्सा ठंडा हो जाता है। यहाँके स्तूपमें भी तथागतके मांस और अस्थिधातुके रखे होनेके बारेमें बतलाया जाता है।

एक दिन हम राजधानीसे पश्चिमोत्तर नदीके दक्षिणवाले किनारेपर अवस्थित पुराने राजविहारमें भी गये, जहाँ डेढ़ अंगुल लम्बा शाक्य मुनिका दूधका दाँत है। इससे दक्षिण-पूर्व एक और पुराना राजविहार है, जहाँपर डेढ़-अंगुल चौड़ी पाँडुवर्णकी तथागतकी उष्णीषकी अस्थिधातु है, जिसमें केशोंके छिद्र भी मौजूद हैं। यहीं डेढ़ बालिस्त लम्बा गहरे बैंगनी रंगका तथागतका एक केश भी है, जो घुँघराला होकर एक अंगुलसे भी कमका मालूम होता है। उपोसथके दिनोंमें राजा और राजामात्य भी उसकी पूजाके लिए आते हैं। इस विहारके दक्षिण-पश्चिममें पुराना रानीविहार है, जिसका ६० हाथ ऊँचा सोनेके मुलम्मेवाला ताँबेका शिखर है। उसमें भी बुद्धकी धातुओंके होनेकी बात कही जाती है। बुद्धिल कहीं भी जानेके लिये मुझसे ज्यादा उत्साह रखते थे, यद्यपि साथ ही यह भी कहते थे: अभी तो तथागतके निर्वाणको हजार ही वर्ष बीते हैं। हजार-डेढ़ हजार वर्ष और बीतने दीजिये, फिर सारी पृथ्वीपर सारे स्तूपोंमें इतने केश और अस्थिधातु जमा हो जायेंगे, कि मध्यमंडलीकी सारी भूमिको उनसे ढाँका जा सकता है।

राजधानीके दक्षिण-पश्चिम पीलुसार पहाड़ है। पहाड़ोंमें हाथी (पीलु) या दूसरी तरहकी आकृतियाँ बन ही जाती हैं, और उन्हींके अनुसार लोग उन्हें नाम दे देते हैं। कहते हैं, इस पहाड़के देवताका रूप हाथी जैसा है। जब लोकनायक पृथ्वीपर थे, तो इस पीलु देवताने उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया। भगवान् अपने बारह सौ अर्हतोंके साथ इस पहाड़पर आये। स्वागतकर

एक बड़ी चौरस शिलापर देवताने उनका स्वागत और भिक्षादान किया। इसी शिलाके ऊपर पीछे अशोक राजाने ६० हाथ ऊँचा स्तूप बनवाया। उसमें बुद्धधातु है। इस स्तूपके उत्तर और एक चट्टानकी जड़में एक नागनिर्झर है। यहीं तथागत और उनके बारह सौ श्रावकने दातवन कर देवताके भोजनको स्वीकार किया। दातुवनोंको उन्होंने इसी जगह फेंक दिया, जो पीछे वृक्ष होकर अब एक घने जङ्गलके रूपमें परिणत हो गईं।

वर्षाका अन्त आया। महाप्रावारणाके लिये राजधानी ही नहीं, सारी कपिशाके निवासियोंने उत्सव और दानका बड़ा आयोजन किया। राजविहार-में चीनी राजकुमारके पाँच शताब्दी पहलेवाले दानको भी दोहराया गया। उस दिन सबेरे हीसे बाजा-गाजा, नृत्य-गीतके साथ शोभायात्रा करते दूर-दूरके ग्रामों और नगरोंके नर-नारी तथा कपिशानिवासी राजविहारमें आये। मध्याह्न-को तरह-तरहके स्वादिष्ट भोजनोंसे भिक्षुओंको तृप्त किया गया। यह ऐसा समय है, जब कि कपिशामें खेतोंकी फसल कटकर घरोंमें आ जाती है, और द्राक्षा, उदुम्बर आदि तरह-तरहके मधुर फल ताजे पककर तैयार होते हैं। द्राक्षा-गुच्छकोंका विहारमें ढेर लग जाता है। गाँवों और शहरों में भी घरोंके ऊपर सछिद्र दीवारें खड़ी होती हैं, जिनमें इन गुच्छोंको सूखनेके लिये लटका दिया जाता है। कपिशाकी सूखी द्राक्षा (मुनक्का) की बहुत दूर-दूर तक माँग है। ताजी द्राक्षा दूर भेजना संभव नहीं है, नहीं तो उसकी भी माँग कम नहीं होती।

महाप्रावारणाके खतम होते ही हम दोनोंने यहाँसे गन्धार और कश्मीर जानेका निश्चय किया था।

❀ ❀ ❀

बुद्धिलका मिलना मेरे लिये बहुत अच्छा रहा। हो सकता है और भी ऐसे हों, किन्तु हम पहाड़के लोग तो सचमुच ही कूपमंडूक होते हैं। पीढ़ियोंसे हम गर्मीके मारे पहाड़के नीचे जानेसे डरते आये हैं। हमारे यहाँ ऐसे नर-नारियों-की संख्या बहुत मिलेगी, जो यह नहीं जान सकते, कि धरती पहाड़ोंके बिना बिल्कुल समतल भी हो सकती है। यात्राकी उमङ्ग, दूर-दूर देशोंके देखनेकी

लालसा मेरे भीतर उत्कट थी, तो भी मैं यह मानूँगा, कि बचपनसे ही जो बातें सुन रक्खी थीं, उनके कारण भीतरसे मेरा दिल बहुत हिचकिचाता था। क्या सचमुच अंगारे जैसी झुलस देनेवाली हवामें रहना पड़ेगा, बरसातके कीड़े-मकोड़ोंकी तरह विषैले साँप-बिच्छुओंके भीतरसे गुजरना पड़ेगा? मरनेका भय मुझे नहीं था, लेकिन मैं घुल-घुलके मरना नहीं चाहता था और साथ ही जीवनको इतना तुच्छ भी नहीं समझता था, कि उसे किसी तरह फेंकनेके लिये तैयार होता। बुद्धिल उज्जयिनीके रहनेवाले थे। उनसे बढ़कर मध्यमंडलके बारेमें कौन बतला सकता था? मध्यमंडलमें शायद ही कोई बड़ा नगर, बड़ा विहार हो, जहाँ वह अपने उपाध्यायके साथ न घूमे हों। पहले मुझे अपनी यात्रा अँधेरेमें कूदने जैसी थी, लेकिन अब मेरे ऐसे साथीके कारण वह बिल्कुल दिन जैसी प्रकाशमय मालूम होती थी। हम कपिशासे पासके देश गन्धारमें जानेवाले थे। वर्षाके तीन महीनोंमें एक साथ रहकर यात्राके बारेमें हमने बहुत सी बातें सोच डाली थीं। एक दूसरेके स्वभावसे इतने परिचित हो गये थे, कि हम अपनी अचल मित्रता पर विश्वास कर सकते थे। मैं बतला चुका हूँ, कि बुद्धिल अनेक शास्त्रोंके पारंगत पंडित थे। मैं उनके सामने अपनेको बिल्कुल तुच्छ समझता था। जो दूसरेके सामने भी अपनी विद्वत्ताको प्रकाशित नहीं करना चाहता, वह अपने सुहृद और वंशवद शिष्यके सामने क्यों ऐसा करने लगा?

कपिशासे फिर हम उसी रास्ते लौट कर नगरहार (जलालाबाद) पहुँचे। नगरहारसे हमारा रास्ता पूर्वकी ओर पहाड़ों पहाड़ था। वहाँसे २० योजन चलनेके बाद हम गन्धारकी सीमाके भीतर घुसे। इसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) उद्यानियोंके लिये अपरिचित नहीं है। वज्रासन (बोध गया) और जैतवन जाना सबके भाग्यकी बात नहीं, परन्तु पुरुषपुर जैसा पुनीत तीर्थ पड़ोसके देशमें होनेके कारण वहाँकी यात्रा करनेसे कोई अपनेको वंचित नहीं करना चाहता। नगरी किसी समय बहुत बड़ी थी, यह दूर-दूर तक गिरे हुये मकानों और उनकी ऊँची भूमिसे मालूम होता है। किसी समय जहाँ शतसहस्र

परिवार रहते होंगे, अब उनका दशांश भी नहीं रह गया। कनिष्क धर्मराज यही राजधानी थी। तथागतके शासनके लिये वह द्वितीय अशोक थे। अब भी उनके बनवाये अद्भुत विहार और चैत्य मौजूद हैं। पुरुषपुरके आस-पासकी जमीन समतल है, यद्यपि दूर-दूर पहाड़ दिखाई पड़ते हैं। नगरहारसे हम स्वयं एक पहाड़ी दर्रे (खैबर) से होकर आये, जिसमें कितने ही दुर्ग बने हुये हैं। शत्रुको रोकनेके लिये यह सँकरे पहाड़ी दर्रे बड़े सहायक होते हैं, लेकिन क्या केवल पहाड़ी दर्रों या कठिन दुर्गोंके बलपर कोई देश अपनी रक्षा कर सका है? आस-पासकी भूमि बहुत उर्वर है। यहाँ तरह-तरहके फल-फूल होते हैं, ऊख और अपनी शरकरा (सक्कर) के लिये पुरुषपुर बहुत मशहूर है।

हमारे लिये तो पुरुषपुर और भी ज्यादा श्रद्धाभाजन है। इसने एक से एक महाविद्वान् और महापुरुष पैदा किये। आर्य असंग यहीं पैदा हुये थे। उनके अनुज वसुबन्धुकी बाल्य-क्रीड़ाभूमि यही पुरुषपुर है। धर्मत्रात, मनोरथ, और पार्श्व जैसे महान् धर्मनायकको जन्म देनेका गौरव इसी पुरीको है। बुद्धिल वैसे तो मूढ़ श्रद्धा न रहते भी हरेक प्राचीन विहार और स्थानको देखनेके लिये लालायित रहते, किन्तु इन महान् आचार्योंके जन्मस्थानों, उनके पितृगृहोंके दर्शनके लिये जाते समय उनका हृदय श्रद्धासे परिपूर्ण हो जाता था। दिग्नाग और उनके गुरु वसुबन्धुके प्रति उनके हृदयमें अपार सम्मान था। दिग्नागके प्रमाणशास्त्र का अवगाहन करते समय ही उनके हृदयमें यह श्रद्धा पैदा हुई थी। जिस घरमें असंग, वसुबन्धु और विरिंचि तीनों सहोदर पैदा हुये थे, अब वह खंडहर पड़ा हुआ था। कुछ ब्राह्मण-परिवार अब भी अभिमानके साथ कहते थे: हमारे ही परिवारमें ये तीनों आचार्य पैदा हुये थे। गृहस्थोंके घरोंकी तरह बहुत से विहारों और चैत्योंकी भी वही अवस्था है। उनमें रहने वाले भिक्षुओंकी संख्या कम हो गई है, और उससे भी कम है उनकी आय, जिसके कारण वह धर्मस्थानोंको पहली अवस्थामें नहीं रख सकते। कनिष्कके समय नगर कितना भव्य रहा होगा?

राजधानीसे डेढ़ कोस दक्षिण-पूर्व ६० हाथके करीब ऊँचा और बहुत दूर

तक फैला एक पवित्र बोधि (पीपल) वृक्ष अपनी धानी छाया और हरीं पत्तियोंसे बतलाता है, कि उसको पुरुषपुरके भाग्यके बन्धनमें नहीं पड़ना पड़ा। लेकिन, उसके पासकी प्रतिमायें, वही बात नहीं कह सकतीं। बोधिवृक्ष चारों तरफ ध्यानावस्थित चार बुद्ध-मूर्त्तियाँ बैठी हुई हैं। कहते हैं, इस वृक्षने तथागतको अपनी शीतल छाया प्रदान की थी। इसी वृक्षके नीचे दक्षिणाभिमुख बैठकर तथागतने आनन्दसे कहा था—मेरे निर्वाणके चार सौ वर्ष बाद कनिष्क राजा होगा, जो इस जगहसे थोड़ा दक्षिण एक स्तूप बना उसमें मेरी धातुयें स्थापित करेगा। बुद्धिलका कहना था, कि तथागतने मध्यमंडलसे बाहर कहीं पैर नहीं रक्खा, और उनके उड़कर जानेकी बात कोरी गप्प है। वृक्षके दक्षिण तरफ कनिष्क द्वारा निर्मित महान् स्तूप है। कनिष्क सारे जम्बूद्वीपके चक्रवर्ती थे। उनका शकवंश बाहरसे अभी-अभी आया था, और बलमें अपरबल होनेपर भी शिक्षा-दीक्षामें बहुत पीछे था। कनिष्ककी पाषाण-मूर्त्तियाँ मैंने एकसे अधिक देखी हैं। हमारे समयमें भी उद्यान और दूसरी जगहोंमें शक मौजूद हैं। लेकिन, अब उनमें औरोंसे कोई भेद नहीं मालूम होता। बुद्धिल स्वयं उज्जयिनीके शकवंशमें पैदा हुये। वह भी बतलाते थे : रंगमें औरोंसे अधिक गोरा होनेके सिवाय हम दूसरे ब्राह्मण-क्षत्रियोंसे कोई भेद नहीं रखते। हमारे सामन्त वंशोंका तो सम्बन्ध अब क्षत्रियोंसे इतना हो गया है, कि उन्हें उसी वर्ण का कहा जा सकता है। कनिष्ककी प्रतिमाओंमें वही घुटने तकका बड़ा जूता है, जिसे सीताकी उपत्यकामें और पीछे घुमन्तुओंकेदेशमें भी मैंने देखा। पोशाक और टोपी भी उसी तरहकी है।

कनिष्क पहले तथागतके धर्मको नहीं मानते थे। एक बार वह यहीं जङ्गलमें शिकार करने आये। एक खरगोशको देखकर उसके पीछे उन्होंने घोड़ा डाल दिया। खरगोश अन्तर्धान हो गया। यहीं वृक्षोंके नीचे राजाने एक चरवाहे लड़केको देखा, जिसने दो हाथ ऊँचा एक छोटा सा स्तूप बना रक्खा था। राजाके पूछनेपर लड़केने तथागतकी भविष्यद्वाणीको दोहराकर कहा, कि तुम्हीं वह राजा हो। जब उस महान् स्तूपकी परिक्रम करते हुये मैंने यह कथा

सुनी, तो मेरे हृदयमें बड़ी श्रद्धा जाग उठी । चरवाहे लड़केका दो हाथका स्तूप पासके कितने सौ हाथ ऊँची चार मंजिलों का स्तूप ढाई सौ हाथसे भी ऊँचा द्-अ भुत शिल्पकलासे मंडित आज खड़ा है। लड़केके छोटे स्तूपके चारों ओर कनिष्कने अपने स्तूपको बनवा कर उसे उसके गर्भमें छिपा देना चाहा, लेकिन लड़केका स्तूप हमेशा उससे डेढ़ हाथ ऊपर निकला रहता था। पाँच सौ हाथके घेरेमें बना यह स्तूप चार मंजिल और ढाई सौ हाथ ऊँचा बन गया। तो भी दक्षिण-पूर्ववाले कोनेमें स्तूपकी जड़में आधा लघु स्तूप फिर प्रकट हो गया। राजाने नाराज होकर अपने स्तूपको हटवा दिया, छोटे स्तूपको ढाँकनेकी कोशिश छोड़ दी और उसके पास अपना बड़ा स्तूप* बनवाया। उसके ऊपर सुनहले तांबेके १५ छत्र और उसमें भगवानकी धातु स्थापित की। उसके महास्तूपके पूर्व तरफ पत्थरकी सीढ़ियोंकी दक्षिण ओर डेढ़ और तीन हाथ ऊँचे पत्थरमें महास्तूपके दो छोटे-छोटे नमूने कटे हुये हैं। यहाँ तथागतकी दो प्रतिमायें भी हैं, जिनमेंसे एक तीन हाथ और दूसरी चार हाथ ऊँची है। दोनों ही बोधि-वृक्षके नीचे वज्र आसन मारे बैठी हैं। महास्तूपके दक्षिणी पार्श्व पर १० हाथ ऊँची तथागतकी प्रतिमा चित्रित है। यह महास्तूप के दक्षिण-पूर्व सौ कदमपर १२ हाथ ऊँची सफेद पाषाणकी बुद्ध-प्रतिमा उत्तर की ओर मुँह किये खड़ी है। प्रतिमा अद्भुत है। महास्तूपके दोनों तरफ पास-पास सौके करीब छोटे-छोटे स्तूप तथा बुद्धकी कितनी ही सुन्दर मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। इस महास्तूपके कितने ही चमत्कार सुननेमें आते हैं। अर्धरात्रिमें गन्धर्व मधुर कंठसे स्तुति करते सुने जाते हैं, देवता पूजा और प्रदक्षिणा करते हैं। यह भी भविष्यद्वाणी सुनी जाती है, कि जब यह स्तूप सात बार जलकर फिर नया बनेगा, तो तथागतका धर्म लुप्त हो जायेगा। तीन बार स्तूपके जलने और बननेकी बात सुनकर बुद्धिलने कहा: "अब शायद तीन ही चार सौ वर्ष और तथागतका शासन रहेगा, लेकिन मैं भविष्यद्वाणी करता हूँ। कि जो तथागतका, शासन लुप्त होनेवाला है, वह यही मूढ़ोंका धर्म है।" तथागतने जो अनात्म-

* कनिष्क चैत्य पेशावरके वर्त्तमान हजार खत्री कारवाँ सराँय स्थान पर था।

वाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, सर्वानित्यतावादकी दृष्टि मानव को दी है, वह तभी लुप्त हो सकती है, जब संसारमें केवल मूढ़ ही मूढ़ रह जायँ और ज्ञान तथा बुद्धिका प्रकाश कहीं देखनेमें न आये।

महास्तूपके पश्चिम तरफ कनिष्कने कई मंजिलोंका एक विहार बनवाया था। विहारकी इमारत स्तूपकी तरह ठोस नहीं थी, इसलिये वह बड़ी भग्न-अवस्थामें है। अब भी उसमें कितने ही सर्वास्तिवादी भिक्षु रहते हैं। कनिष्कने अपने महाविहारको बनवाकर उसकी तीसरी मंजिलमें भदन्त पार्श्वका निवास-स्थान तैयार किया था, जो अब गिर गया है। पार्श्व कनिष्कके गुरु थे, उसी तरह, जिस तरह अशोक धर्मराजके मौद्‌गलिपुत्र तिष्य (उपगुप्त)। पार्श्वके रहनेके कोष्टकसे पूर्व ओर एक पुराना घर है, जिसमें रहते हुये आचार्य वसुबन्धु ने अपने "अभिधर्मकोश" को रचा था। इस कोष्टकके ऊपर विशेष चिन्ह बना दिया गया है, जिसमें लोगोंको मालूम हो, कि तथागतकी देशनाका शुद्ध संक्षेपभूत यह शास्त्र इसी पुनीत स्थानमें निर्मित हुआ था। वसुबन्धुके कोष्टकसे ५० कदम दक्षिण दो मंजिला एक दूसरा घर है, जिसमें रहते हुये आचार्य मनोरथने अपने ग्रंथ रचे थे। आचार्य मनोरथ आचार्य वसुबन्धुके गुरु थे। गुप्त राजा उनके बहुत भक्त थे। उन्हींके कारण वसुबन्धु भी उनकी राजधानीमें जाकर सम्मानित हुये थे। कनिष्क-विहारमें भगवान्‌का भिक्षापात्र रक्खा गया था। राजा मिहिरकुलके मनमें बुद्ध-शासनके प्रति द्रोह पैदा हो गया था। उसने बहुत से बौद्ध-विहार ध्वस्त कर दिये, इस भिक्षापात्रको भी तोड़ दिया। उसे फिर जोड़ दिया गया। राजा फिर न कहीं उसपर हाथ उठाये, इसलिये उसकी पहुँचसे बाहर रखनेके लिये उसे बाह्लीक देशमें ले जाया गया।

कनिष्कने अपने विशाल चैत्यके निर्माणमें सुन्दर कारुकार्यवाले काष्टोंका बहुत उपयोग किया। चैत्य (स्तूप) के ऊपर चढ़नेके लिये एक सीढ़ी बनवाई, जिसके ऊपर लकड़ीकी सुन्दर छत थी। सब मिलाकर यह चैत्य तेरह मंज़िलों-वाला है। इसका लोहस्तम्भ ५६ हाथ ऊँचा है, जिसमें १५ वृत्ताकार सुनहले

छत्र लगे हुये हैं। स्तम्भ लिये हुये सारे स्तूपकी ऊँचाई ५०० हाथके करीब है। स्तूपके ऊपर तीन बार बिजली पड़ी, लेकिन उसका फिरसे प्रतिसंस्कार कर दिया गया। स्तूपके चारों तरफ चार आसन बने हुये हैं, जिनपर पूजा की जाती है। छत्रोंसे जो क्षुद्र घंटिकायें लटकती हैं, उन पर प्रातःकालकी मन्द वायु जब लगती है, तो घंटियोंसे बड़ी मधुर ध्वनि निकलती है।

महाचैत्यके दक्षिण ५० कदमपर १८ हाथ ऊँचा एक गोलाकार पाषाण-चैत्य है। यह भी बड़ा सुन्दर है।

पुष्कलावती* —कनिष्क-चैत्यसे २ योजनपर कुभा नदीकेपार जानेपर हमें यह पुर मिला। यह पुरुषपुरसे भी पुराना नगर है। गन्धारके कितने ही नगरोंकी तरह इसकी स्थिति भी दयनीय है। पश्चिमी नगरद्वारके बाहर महेश्वरका एक विशाल मन्दिर है, जिसमें पशुपतिकी मुखलिंग प्रतिमा स्थापित है। नगरके पूर्व ओर अशोकका बनवाया धर्मराजिका स्तूप है। यहीं पर वसुमित्रने "अभिधर्म-प्रकरणपाद" शास्त्रको रचा था। नगरसे एक कोसपर एक पुराना विहार टूटी-फूटी अवस्थामें है, जिसमें कुछ सर्वास्तिवादी भिक्षु रहते हैं। यहींपर आचार्य धर्मत्रातने अपने अभिधर्म-सम्बन्धी ग्रंथका निर्माण किया था। इसके पासमें ६० हाथ ऊँचा अशोक-स्तूप है, जिसमें लकड़ी और पत्थरपर बड़ी ही सुन्दर मूर्तियाँ और फूल-पत्ते उत्कीर्ण हैं। कहा जाता है, पूर्व जन्ममें शाक्यमुनि हजार बार राजाके रूपमें यहाँ पैदा हुये थे, और प्रत्येक बार उन्होंने अपनी आँखोंका दान दिया था। इसके पास और भी तथागतके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही स्थान हैं। पूर्वमें दो पाषाण-स्तूप हैं। इससे ६ कोस उत्तर-पश्चिममें एक स्तूप है, जहाँ पर कि भगवान्‌ने यक्षिणी हारीतिका दमन किया था। आज भी यहाँ लोग हारीतिकी पूजा करते हैं। हारीति पहले मगधमें राजगृह नगरकी एक यक्षिणी थी, जिसका ब्याह गन्धारके यक्षसे हुआ था। पहले हारीतिकाका

---

* वर्त्तमान हस्त नगर (अष्टनगर) चारसद्दा, पेशावरसे १८ मील उत्तर स्वात-पंचकोशकी सम्मिलित धार लंडी और काबुल नदी के संगम के नजदीक अव-स्थित है।

नाम नन्दा था, लेकिन उसे बच्चोंको चुराकर खानेकी आदत पड़ गई। लोगोंको जब मालूम हुआ, तो उन्होंने नन्दाका नाम बदलकर हारीति (चोर) कर दिया। तथागतको जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अपने भिक्षापात्रमें हारीतिके ही एक छोटे बच्चे पिंगलको छिपा लिया और उसे उसके सामने रख दिया। यक्षिणी बेचारी अपने बच्चेको कैसे खाये? इसपर तथागतने उपदेश दिया: सबको अपने बच्चे इसी तरह प्यारे होते हैं। हारीतिने तबसे प्रतिज्ञा की, कि अब मैं फिर कभी बच्चोंको नहीं खाऊँगी। उसके बाद वह बच्चोंकी भक्षिका-की जगह रक्षिका बन गई।

जातकों और अवदानोंमें वर्णित कितनीही घटनाओंके स्थान गन्धारमें मौजूद हैं। मेरे मित्रका कहना था, कि गन्धार कनिष्कके पहलेसे ही बुद्धके शासनका एक जबर्दस्त गढ़ था, इसीलिये वहाँपर पुरानी कथाओंके हरेक स्थान-को निश्चित करनेकी कोशिश की गई। हारीतिचैत्यसे २ योजन उत्तर वह स्थान है, जहाँ तथागत पूर्वजन्ममें शामके रूपमें अपने अन्धे माता-पिताकी सेवा करते मृगके भ्रमसे एक राजाके बाणों द्वारा निहत हुये। दशरथने भी श्रवणकुमारको इसी तरह अपने अन्धे माता-पिताकी सेवा करते मारा था, लेकिन श्रवण मरे ही रह गये, जबकी शाम इन्द्रकी कृपासे पुनरुज्जीवित हो गये*।

शाम-स्तूपसे ८ योजन दक्षिण-पूर्व जाने पर हमें उरसा नगरी मिली। नगरके उत्तर ओरका स्तूप उसी जगह बना है, जहाँकि तथागतने अपने पूर्वजन्ममें सुदान वैश्वन्तर राजकुमारके रूपमें जन्म लिया था। इस स्तूपके पासवाले विहार में कितने ही सर्वास्तिवादी भिक्षु रहते हैं। आचार्य ईश्वरने यहाँ रहकर अपने शास्त्रकी रचना की थी। नगर के दक्षिणी द्वारके बाहर अशोक-स्तम्भ उस स्थान को बतलाता है, जहाँपर ब्राह्मणने सर्वस्वदायी वैश्वन्तरसे उसके पुत्र और पुत्रीको माँगकर बेंच दिया। वैश्वन्तरने जिस दन्तालोक पर्वतपर अपने प्रिय पुत्र और कन्याका महादान किया था, वहाँ अशोकने एक स्तूप बनवा दिया

*वैश्वन्तर जातक में यह करुण कहानी वर्णित है।

था। इसी स्तूपके पास ब्राह्मण, राजपुत्र और राजपुत्रीको बड़ी निष्ठुरतासे पीटता था। उनका रक्त इसी जगह बहा था। आज भी यहाँके वनस्पति लाल रंगके होते हैं। बगलकी चट्टानमें वह गुहा भी मौजूद है, जिनमें वैश्वन्तर और उनकी रानी ध्यान-पूजामें रत रहते थे। यहीं पासमें एक शृंग (ऋष्यशृंग) का आश्रम था, जिसे मोहकर उसके कन्धेपर चढ़ एक गणिका अपनी भारी विजयको दिखलाती नगर में गई थी।

पाणिनिके व्याकरणको मैंने भी पढ़ा था और बुद्धिलका तो उसपर विशेष अधिकार था। जब उन्होंने बतलाया, कि यहाँसे ६ योजनपर ही दाक्षी-पुत्र पाणिनिका जन्म-स्थान शलातुर है, तो मेरी उसे देखनेकी उत्कट इच्छा हुई। उरसासे २ योजन उत्तर-पूर्व हम एक बड़े पर्वतके पास गये, जहाँ महेश्वर की पत्नी (गौरी) का एक विशाल देवालय है। गन्धार, कपिशा और कश्मीरमें पाशुपत भी बड़ी संख्यामें रहते हैं। वह इस मंदिरको बहुत पवित्र मानते हैं। भस्मधारी पाशुपत परिव्राजकोंका यहाँ एक सुन्दर मठ है। देवीके मंदिरसे ६ योजन दक्षिण-पूर्व जानेपर उद्‌भांड (ओहिन्द) नगरी मिली, जिसके दक्षिण ओर सिन्धु नदी बहती है। गन्धारके नगरोंमें यही फला-फूला दिखाई पड़ता था। शायद इसका कारण सिन्धुके घाटपर, वणिक-सार्थोंके रास्तेमें होना होगा।

उद्‌भांड (ओहिन्द) से १ योजनसे कम ही उत्तर-पश्चिम शलातुर गाँव है। पाणिनिका व्याकरण आज हमारे लिये कल्पवृक्ष है। हमने उस स्थानको बड़े भक्तिभावसे देखा, जहाँ यह महान् आचार्य पैदा हुये थे। शलातुरसे लौटकर हम फिर उद्‌भांड चले आये। सिन्ध नदी यहाँपर एक कोसके करीब चौड़ी है। इसका पानी बड़ा ही शुद्ध और नीले रंगका है, यद्यपि वर्षामें उसका यही रंग नहीं होगा। सिन्धु नदी पार हो ३ दिन चलकर तक्षशिला (शाहजीदी-ढेरी) पहुँचे। हमारा रास्ता अधिकतर पूर्वकी ओर था। तक्षशिला पहले गन्धारका ही एक भाग थी। अब भी मिहिरकुलका शासन पुरुषपुर और तक्षशिला दोनोंपर था। यथा (श्वेत हूण) लोगोंके आक्रमणके पहले यह नगरी बड़ी

समृद्ध थी। भूमि बहुत उर्वर और लोग भी बहुत अच्छे हैं। येथोंने इसे लूटकर जो बरबाद किया, उससे फिर यह सँभल नहीं सकी।

यहाँ पर धर्मराज अशोक और धर्मराज कनिष्क दोनोंके बनवाये विशाल स्तूप और अनेक विहार हैं। नगरसे डेढ़ कोस उत्तर अशोकका महाचैत्य है, जिसकी अद्भुत शक्तिके बारेमें कितनी ही कथायें मशहूर हैं। इसी जगह तथागतने अपने पूर्वजन्ममें अपना सिर काट (तक्ष) कर हजार जन्मों तक दान दिया था, जिसके कारण इसका नाम तक्षशिरा या तक्षशिला पड़ा। अशोकके बनवाये पुराने विहारकी पहली स्थिति नहीं है। ध्वस्तप्राय दूसरे विहारोंमें कुछ थोड़े से भिक्षु रहते हैं। सौत्रांतिक आचार्य कुमारलातने यहीं पर रहकर अपने शास्त्रको रचा था। राजधानीके दक्षिण-पूर्व दक्षिणगिरिके उत्तर पार्श्वमें अशोकका बनवाया ६० हाथ ऊँचा एक स्तूप है। अशोक-पुत्र कुणालने अपनी कुटिल सौतेली माँके छलसे यहीं पर अपनी आखें निकालकर दे दी थीं। सौतेली माँ नहीं चाहती थी, कि अशोकके बाद कुणाल जम्बू-द्वीपका राजा बने। उसने राजमुद्राको चुराकर राजाकी ओरसे कुणालकी आँखोंको निकलवानेका शासन-पत्र भेजा। कुणालने बिना आनाकानी किये अपनी आँखोंको निकाल दिया। आज भी इस स्तूप पर अन्धे अपनी आँखोंको लौटा पानेके लिये पूजा करते हैं। अशोक नहीं हैं, कुणाल भी नहीं हैं, उनके वंशका वैभव भी कबका खतम हो गया, लेकिन आज भी लोग सम्मानसे इस स्थानके दर्शनके लिये आते हैं। कहते, हैं अर्हत् घोषके बरदानसे कुणालकी आँखें फिर ठीक हो गईं। तक्षशिलामें किसी समय सुदूर काशी-कोसल, मगध-विदेह तकके तरुण विद्या पढ़नेके लिये आया करते थे। लेकिन, आज उसकी अवस्था कितनी हीन थी यह देखकर मुझे बार-बार दुनियाकी असारताका ख्याल आता था। मेरे मित्रका कहना था—"दुनियाका ध्वंस इसलिये होता है, कि उसकी जगह नये संसार की उत्पत्ति हो। हमें केवल ध्वंस और विनाशकी ओर नहीं देखना चाहिये, बल्कि नव-निर्मित संसारकी ओर भी देखना चाहिये। यदि पतझड़ न हो, तो वसन्तश्रीको हम कैसे देख पायेंगे? यदि पुरानी पीढ़ी न जाये, तो नई पीढ़ीके वसुबन्धु और दिग्नाग हमें कैसे मिलेंगे?"

❀ ❀ ❀

कश्मीर—

तक्षशिलासे हम अपनी यात्रा सीधे पूर्वकी ओर जारी रखते मैदान ही मैदान शाकला होते मध्यमण्डलकी ओर जा सकते थे। आखिर हमें मध्यमंडलकी ग्रीष्मको बर्दाश्त करनेके लिये तैयार होना ही था। पर हमारी इच्छा कश्मीरके देख लेनेकी भी हुई, जहाँ हम गर्मियोंको भी अच्छी तरह बिता सकते थे, इसलिये हम वहाँसे पूर्वोत्तर दिशाकी ओर चलते पहाड़ोंको पारकर कश्मीरकी भूमिमें पहुँचे। कश्मीर-उपत्यका बहुत रमणीय है। चारों तरफ ऊँचे पहाड़ हैं। यद्यपि हमारे उद्यानकी वनश्रीका यह मुकाबिला नहीं कर सकती, तो भी यह सुन्दर भूमि है, नाना प्रकारके फलों और फूलोंसे हरी-भरी। कुमकुम (केसर), घोड़े और बहुत तरहकी जड़ी-बूटियाँ यहाँ होती हैं। लोगोंकी पोशाक उद्यानवालों जैसी है, लेकिन इनमें वैसी वीरता नहीं देखी जाती। विद्याका इनमें प्रेम है। बौद्ध और पाशुपत दोनों ही धर्मवाले यहाँ रहते हैं। उपत्यकाके सौ से अधिक विहार और कई हजार भिक्षु यह बतलाते हैं, कि मिहिरकुल वैसा खूनखार नहीं है, जैसा कि उसके बारेमें कहा जाता था। हो सकता है, जवानीमें वह वैसा रहा हो, लेकिन अब तो वह सूर्य, पशुपति और बुद्धको एक जैसा सम्मानकी दृष्टिसे देखता है। सभी अपने धर्मके अनुसार यहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक रहते हैं। मिहिरकुलकी राजधानीमें पहुँचकर मुझे पहले हलकी सी टीस मालूम हुई। मेरी तरुणाईकी प्रियतमा शायद अब भी उसके अन्तःपुरमें मौजूद थी। बुद्धिल ने मेरी बाल्य प्रेमकथाको बड़ी सहानुभूतिके साथ सुना और जब मैंने कहा, कि सूखे घावको फिर हरा नहीं करना चाहिये, तो उन्होंने भी इसका आग्रह नहीं किया, कि मैं अपनी भूली प्रियाको देखनेकी कोशिश करूं।

कश्मीर शास्त्रों और विद्वानोंकी भूमि आज भी है, और पहले भी रही है। इसलिये हमने अपना समय वहाँके भिन्न-भिन्न पवित्र स्थानोंको देखनेमें बिताया।

कश्मीर देशके भीतरघुसते ही हमें कनिष्क-पुत्रका बनवाया हुविष्क-विहार मिला, जहाँ पहलेसे भिक्षुओंकी संख्या कम हो गई थी। वहाँ हम दो दिनसे ज्यादा नहीं रहे। कश्मीरकी कथा भी उसी तरह रोचक और भयानक सुननेमें आई, जिस तरह दूसरे धार्मिक देशोंकी। पहले सारी कश्मीर-उपत्यका एक महासरोवर थी, जिसमें एक नागराज रहता था। इस नागराजको मध्यांतिक अर्हत्‌ने दमन करके इसे लोगोंके रहने लायक बनाया इत्यादि। बुद्धिलने बतलाया—"यह समझना आसान है, कि जिस भूमिके चारों तरफ पहाड़ हों और पानीके निकासका रास्ता आजकी तरह नीचा न हो, तो वहाँ किसी समय महान् जलाशय रहा होगा। लेकिन, अर्हतोंका काम सरोवरोंको सुखाना, पहाड़ोंको चूर-चूर करना नहीं है। मध्यान्तिक स्थविर अशोक राजाके समय मौजूद थे। जिस समय मौद्गलिपुत्र तिष्यने भिन्न-भिन्न देशोंमें धर्म-प्रचारके लिये धर्मदूत भेजे, उसी समय मध्यान्तिक स्थविरको उनके साथियोंके साथ हिमवान् (हिमालय) की भूमि में भेजा गया। उन्होंने कश्मीरमें पहले पहल तथागतके धर्मका सन्देश पहुँचाया। यहाँके लोग अपने प्रथम आचार्यके प्रति गौरव प्रदर्शित करें, यह स्वाभाविक है। जब हम जानते हैं, कि मध्यान्तिककी रोपी हुई इस वाटिकाने हमें कश्मीर जैसे विद्याके केन्द्रको प्रदान किये, तो मध्यान्तिकके कामोंके लिये हम क्यों न कृतज्ञ होवें।"

इसी कश्मीरमें कनिष्क राजाने तथागतकी देशनाओंके संग्रह और स्पष्टीकरणके लिये एक महासंगीति (महापरिषद्) बुलाई थी। अशोकके समय तथागतकी देशना जिस तरह लोगोंमें प्रचलित थी, उसमें बहुत परस्पर विरोधी बातें मालूम होने पर अशोक राजाने भिक्षु-संघकी एक महासंगीति बुलाकर मौद्गलि-पुत्र तिष्यके संचालनमें तथागतके उपदेशोंका संग्रह करवाया। कनिष्कने भी जब इस तरहके मतभेदोंको देखा, तो अपने गुरु भदन्त पार्श्वकी सम्मतिसे एक महापरिषद् बुलानेका निश्चय किया। कनिष्कके निमंत्रणपर पूर्व और पश्चिम, सारे गन्धारके बहुत से विद्वान् और विपश्यना-युक्ता भिक्षु आये। स्थानके वास्ते पहले गन्धारके लिये कहा गया, लेकिन वहाँ

गर्मियोंमें बहुत गर्मी पड़ती है, वर्षामें भी बहुत कष्ट होता है, इसलिये महासंगीतिको कश्मीरमें करनेका निश्चय किया गया। सारे विद्वानोंमेंसे ४६६ भिक्षु चुने गये, जो सभी त्रैविद्य और सभी षडभिज्ञ थे। भदन्त वसुमित्र अभी भी पृथक् जन थे, जब कि वह विहारके द्वारपर भिक्षु के भेसमें आये। बुद्धिलने बतलाया, कि तथागतके निर्वाण की पहली ही वर्षामें जो महासंगीति आयुष्मान् महाकाश्यपके नेतृत्वमें राजगृहकी सप्तपर्णी गुहामें हुई थी, उसमें आनन्दकोभी इसी तरह पृथग् जन बतला अन्तमें अर्हत बन संगीतमें शामिल होनेकी बात की जाती है। वही बात वसुमित्रके बारेमें भी यहाँ दोहराई गई है। जो भी हो वसुमित्र इस महासंगीतिके नायक स्थविर थे। बहुत महीनों तक बैठकर परिषद् ने बुद्धके उपदेशित सूत्रों, विनयों और अभिधर्म तीनों पिटकोंका संग्रह किया, फिर एक-एकके ऊपर शतसहस्र श्लोकोंके बराबर एक-एक विभाषायें तैयार की, जिनमें सूत्रों, फिर विनयों और अभिधर्मके तत्वोंकी व्याख्या की गई है। संगीतिके समाप्त होनेके बाद कनिष्कने विभाषाओं और त्रिपिटकको ताँबेके पत्रोंपर लिखवाकर पत्थरकी पेटियोंमें रख एक स्तूपके भीतर डाल दिया। मैं सोचता था, कहीं वह ताम्रपत्रके ग्रंथ पढ़नेको मिलते ? लेकिन अब तो यह भी बतलाना मुश्किल है, कि वे ताम्रपत्र किस स्तूपमें रक्खे गये। यद्यपि यह असंभव नहीं है, लेकिन बुद्धिलका इसपर कम ही विश्वास है। कहते हैं कनिष्कने संगीतिके बाद सारे कश्मीरको भिक्षु-संघको अर्पित कर दिया। जगह-जगह अस्थिधातु, दन्तधातु, केशधातु, पात्रधातु, चीवरधातुको देखते-देखते और बुद्धिलकी बातों को सुनते-सुनते मुझपर भी उसका प्रभाव पड़ने लगा था, यद्यपि मैं ऐसे किसी भी पवित्र और पुरातन स्थानको छोड़ना नहीं चाहता था। लेकिन जब कश्मीरमें तथागतके दन्तधातुके स्तूपके बारेमें बतलाया गया, तो मुझे उसपर पूरा विश्वास नहीं हुआ। दन्त-विहारसे दो-ढाई कोस दक्षिण एक छोटेसे विहारमें बोधिसत्व-अवलोकितेश्वरकी खड़ी मूर्ति है, जिसकी भी कितनी ही अद्भुत महिमायें बतलाई जाती हैं। इससे दक्षिण-पूर्व एक योजनसे कुछ ऊपर (६ मील पर) एक बड़ा सुन्दर पुराना विहार बड़ी टूटी-फूटी अवस्थामें

है, जिसके एक कोनेमें एक दुमंजिला मकान है। कहते हैं इसी विहारमें रहकर आचार्य संघभद्रने अभिधर्मके ऊपर अपने "अभिधर्मन्यायानुसार शास्त्र" की रचना की, जिसमें उन्होंने वैभाषिक परम्पराके सिद्धान्तसे कुछ विरुद्ध होनेके कारण वसुबन्धुके "अभिधर्मकोश" का बड़े विस्तारके साथ खंडन किया। विहारके आस-पास सैकड़ों छोटे-बड़े स्तूप हैं, जिनमें यहाँ के पुराने स्थविरों और विद्वानोंकी अस्थियाँ रक्खी हुई हैं। दन्त-विहारसे डेढ़ कोससे कुछ ऊपर (२ मील) पूर्व-उत्तरी पहाड़की ढलानमें एक छोटा सा विहार है, जिसमें आचार्य स्कंदिलने अपने ग्रंथ "विभाषा प्रकरणपाद" अभिधर्मावतारशास्त्र को रचा था।

राजधानीसे उत्तर-पश्चिम ८ योजनपर वणिक्वन विहार है, जहाँपर आचार्य पूर्णने विभाषाकी व्याख्या लिखी थी। राजधानीसे ५-६ योजन पश्चिम महानदीके उत्तर तरफ पहाड़के दक्षिण पार्श्वमें महासांघिकोंका एक विहार है, जिसमें महासांघिक आचार्य बोधिलने रहकर अपने ग्रंथ रचे थे।

गन्धारकी तरह कश्मीरने कितनेही बड़े-बड़े विद्वान् पैदा किये। उसकी रमणीय उपत्यकामें जगह-जगह विहार और स्तूप बने हुये हैं। विभाषा और वैभाषिक दर्शनकी भूमि होनेके कारण दूर-दूरके लोग यहाँ अध्ययनके लिये आया करते हैं। आज इन विहारोंकी कितनी हीन अवस्था है? कितने तो खंड-स्फुटित और परित्यक्त हो गये हैं, दीवारें गिर पड़ी हैं या आधी खड़ी हैं, छतोंपर घास जम आई है। वह कुछ समयकी मेहमान मालूम होती हैं। इतनी जीर्णता क्यों? "अनित्या वत संस्काराः" (सभी बने बिगड़नेवाले) की तथागतकी उक्ति आखिर सबके ऊपर घटने वाली है। इसका दोष केवल मिहिरकुलको नहीं देना चाहिये। आखिर लोगोंमें यदि उत्कट श्रद्धा होती, तो गिरे या टूटे-फूटे विहारोंको फिरसे तैयार कर देनेमें क्या देर लगती? वैभाषिकों (सर्वास्तिवादियों) को हम हीनयानी कहते हैं, और अपनेको महायानी। लंकाको छोड़ सभी जगह महायानका पल्ला भारी हो रहा है। वह हीनयानके अठारहों निकायोंको अपने पेटमें हजम करता दिखाई पड़ता है। महायानका दर्शन मुझे बहुत पसन्द है, लेकिन हीनयानका

विनय, उनके भिक्षुओंका विनयानुपालन, और सरल वेष-भूषा, सीधी-सादी पाठ-पूजा तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परायें मुझे बहुत आकृष्ट करती हैं। जब मैं ख्याल करता हूँ, कि यह एक दिन नाममात्र शेष रह जायेंगी, तो हृदयमें बड़ी टीस लगती है। लेकिन, पुरानेको जीर्ण होना ही पड़ता है, उसे नवीनके लिये अपना स्थान खाली करना ही पड़ता है? धर्मों के ऊपर भी यही नियम लागू होता है? हजार वर्ष बाद तथागतके धर्म-विनयके लुप्त होने की भविष्यद्वाणी क्या सच होकर रहेगी? क्या सचमुच तथागतका शासन लुप्त हो जायेगा? भारी परिमाणमें विहारों और चैत्योंको शून्य तथा जीर्ण-शीर्ण देखकर मेरे हृदयमें यह प्रश्न उठते। मैं मानता हूँ, कि मैं श्रद्धाप्रधान हूँ, बुद्धिलकी तरह बुद्धिप्रधान नहीं। तथागत और उनके श्रावकोंके किसी प्राचीन स्थानको अच्छी अवस्थामें न देखकर मैं अपने आँसुओंको नहीं रोक सकता था। बुद्धिलका कहना था : पुरानी पीढ़ीका हाँड़-माँस नहीं, बल्कि उसका अर्जित ज्ञान और अनुभव अधिक नहीं तो वासनाके रूपमें आगे चलता रहता है, वह आनेवाली पीढ़ियोंका पथ-प्रदर्शक करता है। मैं श्रद्धाको प्रधान स्थान देना चाहता था और बुद्धिल बुद्धि अर्थात् प्रज्ञाको। वह प्रज्ञाको अमर मानते थे, और मैं श्रद्धाको अमरत्व दिलाना चाहता था।

पुणच्च—आश्विन पूर्णिमा पूरा करके कश्मीरसे हम लोग निकले। वर्षामें पहाड़ या मैदान में यात्रा करना सुखकर नहीं होता। रास्ते टूटे रहते हैं, पुल कितने ही भग्न होते हैं, पहाड़ोंके टूटनेका भी डर होता है, इसलिये वर्षामें भिक्षुओंको यात्रा नहीं करनी चाहिये, यह नियम बनाकर तथागतने अपनी करुणाका परिचय दिया। कश्मीरकी उपत्यका चारों ओर पहाड़ोंसे घिरी, केवल उसी तरफ खुली है, जिधर वहाँकी नदी पहाड़ फोड़कर निकलती है। हमें कुछ दूर तक उसीके किनारे नीचेकी ओर जा फिर पहाड़को लाँघना पड़ा। यदि और देर करके आते, तो हो सकता है, इन पहाड़ोंके ऊपरी भागोंमें बर्फ भी मिलती। हम दुर्लंघ्य पहाड़ोंको पार कर कश्मीर राजधानीके दक्षिण-पश्चिममें अवस्थित इस

छोटे से प्रदेशमें पहुँचे। अपने सौन्दर्य तथा फल-फूलोंकी समृद्धिमें यह कश्मीर का मुकाबला नहीं कर सकता, लेकिन द्राक्षा छोड़ करके कितने ही फल यहाँ पैदा होते हैं। अनाज भी होता है। उदुम्बर, कदलीकी बगिया लोगोंने अपने-अपने घरोंके पास लगा रक्खी है। आम भी यहाँ पैदा होता है, जिससे सिद्ध है, कि यहाँकी जलवायु गरम है। लोग अधिकतर सूती कपड़े पहिनते हैं। तथागतके शासन का यहाँ बहुत प्रसार और प्रचार है, भिक्षुओंके बहुतसे संघाराम हैं, जिनमेंसे कुछ ध्वस्तप्राय हैं और भिक्षुओंकी संख्या भी कम है। लोग बड़े साहसी तथा सरल हैं।

पुणचमें हम रहना भी नहीं चाहते थे, और वहाँ हमारे लिये आकर्षण रखनेवाली कोई चीज भी नहीं थी। हम तो अब मध्यमंडलकी ओर बढ़नेके लिये उतावले थे।

पुणचसे हम नीचेकी ओर बढ़ते राजपुरी (राजौरी) में पहुँचे। यह भी एक पहाड़ी प्रदेश है। इसके बाद ही पहाड़ समाप्त होकर नया संसार सामने आ जाता है:—समतल भूमि, दूर तक फैले खेत या जंगल, लोगोंकी वेष-भूष और रीति रवाजमें भी अन्तर। कपिशासे राजपुर तकके लोग जिस तरह पहाड़ोंके निवासी हैं, उसी तरह उनके स्वभावमें भी समानता मिलती है। वह सीधे-साधे और कहीं-कहीं कुछ रूखे, लड़ने-भिड़नेमें बहुत आगे, विद्यामें पिछड़े हुये, लेकिन साथ ही उनमें कृत्रिमता नहीं दिखाई पड़ती। ये सीधे-सादे लोग चाहे नागरिकतामें पीछे हों, लेकिन अपनी बातके पक्के होते हैं। अतिथि-सत्कारमें वह सबसे आगे बढ़े हुये हैं।

अध्याय ६

कान्यकुब्जको (५४२-४३ ई०)

राजपुरीसे पहाड़ उतरकर अब हमारा रास्ता दक्षिण-पूर्वकी ओर था। दो-तीन दिन चलनेके बाद चन्द्रभागा नदी आई, जिसे पार कर हम शाकलाकी ओर बढ़े। शाकला मिहिरकुलकी राजधानी थी, जहाँ वह जाड़ोंमें आकर रहता था। किसी समय यह नगरी और भी बड़ी थी, जब कि मिहिरकुलका राज्य जमुना और नर्मदाके किनारे तक फैला हुआ था। पराजयके बाद प्राण लेकर उसे भागना पड़ा। तबसे उसने अधिकतर अपना निवास कश्मीरको बनाया। कहते हैं, शाकला में रहते ही भिक्षुओंके किसी बर्तावसे रुष्ट होकर मिहिरने तथागतके धर्मके उच्छेद करनेका निश्चय कर लिया, और उसने अनेकों विहार और स्तूप नष्ट कर दिये। जो भिक्षु उसके हाथ मरनेसे बचे, उन्हें देश छोड़ जाना पड़ा। लेकिन मैं समझता हूँ, बौद्धों पर नाराज होनेका असली कारण यह नहीं था, बल्कि अपने पिताके दिग्विजयोंको दोहरानेके लिये जब वह मध्यमंडलकी तरफ बढ़ा, तो उसका मुकाबिला नरसिंहबालादित्यसे हुआ। पहले उसे कुछ सफलता मिली, किन्तु अन्तमें हारकर बालादित्यके हाथमें बन्दी बनना पड़ा। बालादित्यकी माँ को दया आ गई। उसने बेटेसे कहकर उसे छुड़वा दिया, नहीं तो मिहिर-कुलको इतना अत्याचार करनेका मौका न मिलता। मध्यमंडल के स्वामी राजा बालादित्यके साथ मुकाबिला करते समय वहाँके बौद्धोंने युद्धमें जो वीरता दिखलाई थी, और मध्यमंडलके साथ गन्धार, कश्मीर और कपिशाके लोग भी जो भक्ति रखते थे, वह मिहिरकुलको बहुत खटकी। उसका विश्वास अपने यहाँके भिक्षुओं पर से भी उठ गया, जिसपर उसने इतना सँहार किया। मिहिर-कुल जब पूर्वसे हारकर राजधानी शाकला (स्यालकोट) में पहुँचा, तो देखा,

उसके बन्दी होनेकी खबर पाकर छोटे भाईने गद्दी संभाल ली है। लड़कर सिंहासनको हाथमें लेनेकी जगह उसने कश्मीरमें शरण लेना ही अच्छा समझा। वहाँके राजाने अपने महाप्रभुका बड़ा स्वागत किया, जिसका बदला कृतघ्न मिहिरकुलने उसे मारकर स्वयं राजा घोषित करके दिया। इसी समय उसने भिक्षुओंके खूनसे खुलकर हाथ रंगना शुरू किया। कहते हैं, उसने १६०० स्तूप और संघाराम तोड़वाये। मेरे देश छोड़नेसे पहले ही (५४७ ई०) मिहिरकुलने मरकर नर्कका रास्ता ले लिया था।

शाकलाको देखते वहाँके प्राचीन इतिहासकी कितनी ही मधुर स्मृतियाँ सुनने में आईं। मिहिरकुलने अन्तिम (२३ वें) संघस्थविर सिंहको मरवाया था, यह अभी कुछ ही वर्षों पहलेकी बात थी। लेकिन, शाकला किसी समय मिहिरकुलसे भी बड़े शक्तिशाली राजा मिलिन्द (मिनान्दर) की राजधानी थी, जो यवन (यूनानी) होते भी तथागतके शासनपर बहुत भक्ति रखता था, और जिसे लोग अशोक और कनिष्कको तरह धर्मराज कहते हैं। अर्हत् नागसेनने मिलिन्दको जो धर्मोपदेश दिये थे, उस 'मिलिन्दप्रश्न' को बुद्धिलकी कृपासे मैंने अभी-अभी कश्मीरमें पढ़ा था। यवनोंकी उसी महान् राजधानी शाकलाको मैं अपनी आँखों देख रहा था। अब भी वहाँ एक बड़ा संघाराम था, जिसमें आचार्य वसुबन्धुने "परमार्थ सत्य शास्त्र" की रचना की थी। नागसेन भी इसी विहारमें रहे थे। भद्रकल्पके चार बुद्धोंने यहाँसे उपदेश किये थे। उनके पदचिन्ह भी मौजूद हैं।

पहाड़से उतरते ही हमारा रास्ता निरापद नहीं था। बड़े-बड़े जङ्गल थे जिनके भीतर सिंह और व्याघ्र घूमा करते। पशुशत्रुसे भी भयंकर मानवशत्रुओंका वहाँ डर रहता था, और सौ-दो-सौके हथियारबन्द बड़े-बड़े सार्थके साथ ही यात्रा की जा सकती थी। कभी-कभी तो जङ्गल कई दिन चलनेपर खतम होते। सुरक्षित बाहर निकलनेपर लोग आरामकी साँस लेते थे, मानो वह कालके मुखसे निकले हों। केवल नगरों में ही व्यापारी और यात्री अपनेको सुरक्षित समझते थे। हम दोनोंको न कभी सिंह-व्याघ्र का सामना करना पड़ा, और न दस्युओं

का लेकिन इसे संयोग ही कहना चाहिये। शाकलासे आगे बढ़ते हुये हम चीन भुक्तिमें पहुँचे। उस समय मुझे क्या मालूम था, कि मुझे अपना अन्तिम जीवन महाचीन देशमें बिताना पड़ेगा। मुझे यह नाम कुछ विचित्रसा मालूम हुआ। लोग यहाँके समृद्ध हैं, खूब अनाज होता है, मैदानी वृक्ष भी बहुत हैं, शिल्प और कलामें भी वह निष्णात हैं। तथागतके श्रावक और तीर्थिकोंके भी अनुयायी हैं। चीनभुक्ति नाम पड़नेके बारेमें मैं बतला चुका हूँ, महाचीनके राजाके पुत्रको राजा कनिष्क पकड़ लाये। अपने यहाँ लाकर उसके साथ उन्होंने बहुत सम्मान और स्नेह दिखलाया। उसी राजकुमारके खर्चके लिये यह भुक्ति (जिला) दे। इसीसे इसका नाम चीनभुक्ति पड़ा। जाड़ोंमें चीन-राजकुमार यहीं रहा करता था। नासपाती और दूसरे कितने ही फूल-फल चीनसे मँगवाकर इसी राजकुमारने यहाँ लगवाये। नासपातीको इसीके कारण चीन-राजपुत्र भी कहा जाता है। चीनका नाम यहाँ पहलेपहल मुझे सुननेमें नहीं आया था। उद्यानमें कभी-कभी चीनी भिक्षु आया करते थे, जिनको मैं भी देख चुका था। किन्तु एक भुक्ति (जिला) का नाम चीन पड़ जाना सुनकर मेरे हृदयमें अवश्य कौतूहल पैदा हुआ। मैं सोचने लगा—जब चीन राजपुत्र सारे कष्टोंको सहकर अपने देशसे यहाँ रह सकता था, तो मैं तो भिक्षु हूँ, चारिका और घूमते रहना ही मेरा काम है। शायद मैं भी कभी चीन देशमें जाऊँ। लेकिन वह उस समय दूरका स्वप्न मालूम होता था।

चीनभुक्तिके मुख्य नगरसे दक्षिण-पूर्व २० योजन जानेके बाद हम पहाड़ोंके भीतर तमसावन संघाराममें पहुँचे। यह प्रसिद्ध और अत्यन्त प्राचीन विहार है। अब भी यहाँ कई सौ सर्वास्तिवादी भिक्षु रहते हैं, जो अपनी विद्या और विनयके पालन लिये बहुत प्रसिद्ध हैं।। कात्यायनी-पुत्रने तथागतके निर्वाणके ३०० वर्ष बाद इसी जगह अपने शास्त्रका निर्माण किया था। अशोक धर्मराजने ६० हाथ ऊँचा एक स्तूप इन्हीं पहाड़ोंमें बनवाया था।

तमसावनसे ६ योजन उत्तर-पूर्व जलन्धर देश है। जलवायु गरम होते

यह बड़ा धनधान्य-सम्पन्न देश है। यहाँ पचासों संघाराम तथा हजारों भिक्षु रहते हैं, जो हीनयान और महायान दोनों हीके माननेवाले हैं। इनके अतिरिक्त पाशुपत (शैव) धर्म के भी अनुयायी बहुत हैं। जलन्धर नगरमें तीन देवालय हैं, जिनमें सैकड़ों साधु रहते हैं। जलन्धर क्यों नाम पड़ा? जलन्धर तो कश्मीर और केदारखंडके बीचकी हिमालय की भूमिका नाम है, जहाँसे शतद्रु (सतलज), विपाशा (व्यास), इरावती (रावी) और चन्द्रभागा (चनाब) जैसी महानदियाँ निकलतीं हैं, इसलिये यथा नाम तथा गुण इस पर्वत-भागको जलन्धर कहा जा सकता है। नीचेकी भूमि भी किसी समय जलन्धरके राजाके अधीन थी, जिसके कारण इसका यह नाम पड़ गया।

जलन्धरसे हम पूर्व-दक्षिणकी ओर बढ़ते जमुनाके किनारे पहुँचे। अब हम मध्यमंडलमें प्रविष्ट हो श्रुघ्न (सुघ) नगरमें पहुँचे, जो जमुनाके पश्चिमी किनारे पर बसा है, लेकिन इसका राज्य (सहारनपुर) पूर्वमें गंगाके किनारे तक फैला हुआ है। उत्तरकी ओर पहाड़ है। श्रुघ्नमें पाशुपत और दूसरे धर्मोंका बहुत प्रसार है। भिक्षु संघाराम बहुत थोड़े से हैं, जो सभी हीनयानी हैं। यहाँके भिक्षुओंकी विद्याकी ख्याति दूर-दूर तक है। अभिधर्म और दर्शनके उनमें कितने ही अच्छे-अच्छे पंडित हैं, जिनके पास पढ़नेके लिये लोग दूर-दूरसे आते हैं। राजधानीके दक्षिण-पूर्व नगरके पूर्व-द्वारके बाहर जमुनाके पास अशोकका बनवाया स्तूप है। तथागतने चारिका करते हुए यहाँ आकर उपदेश दिया था। इस स्तूपके पास और भी कितने ही स्तूप हैं, जिनमें अग्रश्रावक सारिपुत्र और मौद्गल्यायनकी अस्थि-धातुयें हैं। यहाँ भी तथागतके केश और नख-धातु रक्खी हुई हैं। श्रुघ्नसे ३२ योजन गंगा है। गंगा यहाँ पर्वत से नीचे उतरती है। स्नानसे धर्म माननेवाले लोग यहाँ स्नान करने आते हैं, कितने ही अपने अनेक जन्मोंके पापोंको धोनेके लिए गङ्गामें डूबकर प्राण दे देते हैं। जिनको वह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, उनकी हड्डियाँ लाकर यहाँ गङ्गामें डाल दी जाती हैं। कनखल (मायापुरी) के नामसे प्रसिद्ध यह स्थान पाशुपतोंके लिये परम पवित्र है।

शतद्रुके पूर्व आने पर ही मेरी श्रद्धा जाग उठी। मुझे बार-बार ख्याल आता था : मैं मध्यमंडलकी उस पुण्य भूमिमें चल रहा हूँ, जहाँ लोकनायक शरीरसें रहते हुये प्रायः विचरा करते थे। उनकी चरण-धूलि अब भी यहाँ मौजूद है। यहीं जमुना और गङ्गाके बीच कुरुओंकी भूमि है, जिसमें तथागतने अनेक गम्भीर उपदेश दिये थे। "प्रतीत्य समुत्पाद" और "महानिदान" जैसे तथागतके दर्शन-सारभूत सूत्र यहींपर उपदिष्ट हुए थे। कुरुकी भूमिसे तथागत-की जन्मभूमि काफी दूर है। यहाँसे श्रावस्ती, वैशाली, राजगृह और वाराणसी पहुँचनेमें महीनों लगते हैं। लेकिन, सबसे गम्भीर उपदेशोंको तथागतने कुरु-भूमिमें दिया था, इससे इस भूमिका महत्व मालूम होता है। बुद्धिल हीनयान और महायान दोनोंके सूत्रों और विनयके ज्ञाता थे। वह बतलाते थे : पुराने आचार्योंने इन सूत्रोंकी व्याख्या करते हुये लिखा है, कि कुरुदेशकी भूमि इतनी सुन्दर, वहाँका जलवायु इतना अनुकूल है, जिसके कारण यहाँके लोग बड़े बुद्धिमान और विद्याव्यसनी होते हैं। यहाँकी पनहारिनियाँ भी पनघटपर पहुँचकर गम्भीर धर्म और दर्शनकी चर्चा करती हैं। उन्होंने यह भी बतलाया, कि जिस भूमिमें भगवान्‌ने अपने अनात्मवादके गम्भीर दर्शनका उपदेश दिया, उसी भूमिमें उनसे कुछ ही शताब्दियों पहले प्रवाहण और याज्ञवल्क्यने आत्म-वादका उपदेश दिया था। आत्मवाद (उपनिषद्‌का तत्वज्ञान) जहाँसे निकला, उसी भूमिमें आकर तथागतने अनात्मवादका सिंहनाद किया।

हम लोगोंका ज्ञान एकांगी होता है, क्योंकि हम अपने ही शास्त्रों और बौद्ध-परम्पराओंको जानते हैं। बौद्ध-परम्पराओंमें भी बल्कि हम केवल महायान तथा सर्वास्तिवादका ही परिचय रखते हैं। बुद्धिलका ज्ञान बहुत व्यापक था। ब्राह्मण कुलमें पैदा होनेसे ब्राह्मण-शास्त्रों और परम्पराओंका उनका अच्छा ज्ञान था। हीनयानके अनेक निकायोंके ग्रंथोंका उन्होंने अवलोकन किया था। यद्यपि वह बहुत बातोंमें अविश्वासी थे, बहुत सी पवित्र धारणाओंको वह मूढ़ विश्वास कहकर हँस देते थे, लेकिन प्रत्येक व्यक्तिके प्रति उनका बर्ताव बड़ा ही कोमल और मधुर होता था। वह जिस तरहका पथ लोगोंको ग्रहण करनेके

लिये कहना चाहते थे, उसके बारेमें तो मुझे निराशा ही निराशा थी, किन्तु बुद्धिलको निराशावाद छू नहीं गया था। वह कहते थे—सत्ययुग पीछे नहीं बीता, वह आगे आनेवाला है। ज्ञानके प्रकाशसे लोगोंकी आँखें खुलती जा रही हैं। अज्ञान-अन्धकार दूर जितना-जितना होता जायेगा, उतना ही उतना जनहितके लिये रास्ता प्रकाशमान होता जायेगा। इतिहासके बीते कालोंके अध्ययन और संवादमें उनका मन बड़ा लगता था। मैं अपनेको इसके लिये सौभाग्यशाली समझता हूँ, कि ऐसे मित्रका सम्पर्क मेरा कई सालों तक रहा।

श्रुघ्न का राज्य कुरुका राज्य भूमिमें फैला हुआ था, यद्यपि उसकी राजधानी जमुनाके बाँये तट पर न हो कर दाहिने तट पर थी। गङ्गा पार पंचाल देश था। पंचालका नाम हमने सूत्रोंमें पढ़ा था। बुद्धिलने उसके बारेमें हमें और भी बातें बतलाईं: कुरु-पंचाल जोड़े नाम हैं, जिसका अर्थ है दोनों जनपदोंके जन कभी एक कुलसे सम्बन्ध रखते थे, अथवा साथ-साथ रहते थे। दोनोंमें युद्ध भी होते रहे। इसके नामके बारेमें कहावत है: भूम्यश्व राजाके पाँच पुत्र थे, जिनमें उसने अपने राज्यको बाँट दिया था। पाँच पुत्रोंका आलय होनेसे इसका नाम पंचाल पड़ा। सबसे बड़े लड़केका प्रपौत्र दिवोदास था, जिसका पुत्र सुदास्। इन्हीं राजाओंके समय वशिष्ट, विश्वामित्र और भरद्वाज जैसे ऋषि पैदा हुये, जिन्होंने वेदोंके सबसे पुराने मन्त्रोंकी रचना की। सुदास्ने दस राजाओंसे युद्ध करके अपने राज्य और प्रतापका विस्तार किया। किन्तु बुद्धिलका कहना था, सुदास् इरावती (परुष्णी) तटका राजा था। किसी समय कुरु और पंचाल विद्या और समृद्धिमें जम्बू-द्वीपमें अद्वितीय थे। आज भी यहाँकी भूमि बड़ी हरी-भरी है, यहाँ बहुत से ग्राम और नगर हैं। पर आजके प्रतापी राजा मध्यमंडलके पूर्वमें रहते हैं, उनका केन्द्र मगध और कोसल है। वहीं नन्द, मौर्य, शुंग और गुप्त जैसे प्रतापी राजवंश हुये। अब फिर समयने पलटा खाया और एक बार पंचाल लक्ष्मी और सरस्वतीका केन्द्र बना, यहीं उसकी राजधानी कान्यकुब्ज (कनौज) है।

बुद्धिलने बतलाया, कि पहले पंचाल उत्तरमें हिमालयसे लेकर दक्षिणमें जमुना तक गङ्गाके दोनों तरफ बसा हुआ था, लेकिन पाँडवोंके समय उनके गुरु द्रोणाचार्यने पंचालराज द्रुपदको हराया, और उसके पास केवल दक्षिण-पंचाल रहने दिया। उत्तर-पंचालको द्रोणाचार्यने ले लिया। तबसे पंचाल उत्तर और दक्षिण दो भागोंमें बँट गया और दोनोंकी राजधानियाँ अहिच्छत्रा और काम्पिल्य हुईं। पीछे काम्पिल्यका महत्त्व भी घट गया और अब तो कान्यकुब्ज केवल दक्षिण-पंचाल या सारे पंचालका ही नहीं, बल्कि प्रायः सारे मध्यमंडलकी राजधानी है। कुरु, पंचाल, कोसल, काशी, बज्जी, विदेह, वत्स और चेदी, सूरसेन (ब्रज) और दशार्ण (बुंदेलखंड) आदि कान्यकुब्जके राजा मौखरी ईश्वर वर्मा के अधीन हैं।

गङ्गा पार हो हम उत्तर-पंचाल (रुहेलखंड) की समृद्ध, सस्यश्यामला भूमिमें चलने लगे। हमारा रास्ता कणखलसे प्रायः दक्षिणकी ओर था। भूमि सारी समतल थी। जाड़ेके दिनोंमें जौ और गेहूँके हरे-हरे खेतोंका समुद्र दिखाई पड़ता था, जिसके साथ क्रीड़ा करती हवा छोटी-छोटी लहरें उठाती थी। अहिच्छत्रमें अब भी एक छोटा-सा राजा रहता था, जो अपनेको कान्यकुब्जके अधीन समझता था। नगर अब भी अस्तित्व रखता है, लेकिन उसका पहलेका वैभव कहाँ? यहाँ पाशुपत और बौद्ध दोनों धर्मोंके लोग रहते हैं। सम्मितीय निकायके दसियों संघाराम हैं, जिनमें हजारसे ऊपर भिक्षु रहते हैं। पशुपतिके कितने ही मन्दिर हैं, जिनमें बहुतसे पाशुपत-साधु रहते हैं। राजधानीके बाहर नागसरोवर है, जिसके किनारे अशोकका बनवाया एक स्तूप है। कहते हैं, तथागतने यहाँ नागराजाको सात दिन तक उपदेश दिया था। पास ही भद्र-कल्पके चारों बुद्धोंके आगमनकी स्मृतिमें चार स्तूप हैं। विहारोंमें शक-क्षत्रप फरगुलका बनवाया एक विहार भी है, जिसमें पीछे भी लोग दान करते थे। बुद्धिलने एक पाषाण-मूर्तिपर "भिक्षुस्य धर्मघोषस्य फरगुलविहारो अहिच्छत्राया।" पढ़कर कहा—तथागतने भिक्षुओंको अपरिग्रही बननेके लिये कहा था, उन्हें सोना-चाँदी छूना मना था और शरीरकी आठ चीजोंके अतिरिक्त किसी सम्पत्ति-

के रखनेका अधिकार नहीं था। लेकिन, भिक्षु धर्मघोष तथागतकी शिक्षाको पानीमें बहाकर अपने सोने-चाँदीका प्रदर्शन फरगुल विहारमें एक कुटिया बनाकर करते हैं। हम फरगुल विहारमें ही ठहरे। यहाँके भिक्षुओंमें विद्याका मान ज्यादा है, इसलिये हमारे तरुण साथीकी उन्होंने बड़ी आवभगत की। यद्यपि हम महायानके अनुयायी थे, लेकिन भिक्षुओंके लिये महायानका कोई अपना विनय-पिटक नहीं है, इसलिये वह विनयमें किसी न किसी हीनयानी निकायको मानते हैं। हम लोग मूल-सर्वास्तिवादके विनयके अनुयायी थे। वैसे होता, तो निकाय-सम्बन्धी संकीर्णताका हमें सामना करना पड़ता, लेकिन महायानकी उदार शिक्षा तथा और उससे भी अधिक वसुबन्धु और दिगनागका प्रमाणशास्त्र लोगोंकी संकीर्णताको दूर करता जा रहा है, जिसके कारण कमसे कम विद्वानोंमें अधिक समदर्शिता और स्नेहका भाव दिखाई पड़ता है। फरगुल विहारके पुराने स्तूप, प्रतिमा-गृह तथा प्रतिमायें भी लाल पत्थरकी हैं, और बादकी चीजें मटमैले पत्थरकी। बुद्धिल कह रहे थे: शक-क्षत्रपोंकी राजधानी मथुरा थी, जिसके पास लाल पत्थर बहुत मिलते हैं, इसीलिये उन्होंने उसी पत्थरको इस्तेमाल किया। कितनी ही मूर्तियाँ वहीं मथुराके ही प्रस्तरशिल्पी बनाते थे, जिन्हें नावोंसे दूर-दूर तक पहुँचाया जाता। गुप्त राजवंशकी राजधानी पाटलिपुत्र और साकेत (अयोध्या) थी। उनके समयमें गङ्गाके दक्षिणवाले विंध्यपर्वतके पत्थरोंका काम ज्यादा बढ़ा। पुराने नगरों और राजधानियों, पुराने विहारों और स्तूपोंकी हीन दशा देखकर मुझे बहुत दुःख होता था। अहिच्छत्रामें भी चारों तरफ उदासी सी छाई थी। बुद्धिलका तो कहना था—"विनाशके बिना उत्पादन कहाँ? सँहारके बिना सृजन कहाँ?" मैं कभी-कभी खीजकर कहता—"तुम्हें तो संहारवादी कहना चाहिये?" वह हँसकर कहते—"सँहारवाद, क्षणिकवाद, सर्वानित्यवाद एक ही चीज है, जिससे बौद्ध होनेके नाते आप इन्कार नहीं कर सकते। लेकिन, केवल संहारवाद आदमीको निराशवादी बनाता है। तथागतने दुःखको माना है, लेकिन वह केवल दुःखवादी नहीं थे, क्योंकि उन्होंने दुःखको लक्ष्य नहीं, बल्कि दुःखसे निकलनेके मार्गको लक्ष्य माना।

उसी तरह सँहार नहीं, बल्कि उसके अनन्तर ही होनेवाला सृजन हमारे लिये इष्ट वस्तु है।"

अहिच्छत्रामें हम दोनों कितनी ही बार पाशुपत परिव्राजकोंके मठोंमें भी गये। बुद्धिलको प्रतिष्ठा और सम्मानकी कोई भूख नहीं थी, लेकिन वह जहाँ भी जाते, प्रतिष्ठा उनके पैरोंके नीचे पाँवड़े बिछाती, फूलमालासे उनका सत्कार करती। उनकी विद्या, वय और उससे भी बढ़कर मधुर बर्तावके कारण विरुद्ध मत रखनेवाले पाशुपत परिव्राजक भी उनका सम्मान करते। घण्टों सत्संग चलता। परिव्राजक या भिक्षु, चाहे तथागतके सामने सिर झुकानेवाले हों, या पशुपतिके सामने, सभी पर्यटक होते हैं, भिन्न-भिन्न देशोंमें घूमे रहते हैं। पर्यटन उनको एक दूसरेका भाई बना देता और धार्मिक मतभेद उनके बीच भेद डालनेमें असमर्थ होता है। पाशुपत परिव्राजक सफेद भस्म धारण किये बड़ी-बड़ी जटाओंके साथ अपनी तितिक्षा और व्रतमें रत रहते हैं। वर्णाश्रम धर्मके माननेवाले होनेसे उनका उच्च वर्णोंमें मान भी अधिक है। अपने साम्प्रदायिक भावनाओंके अनुसार वह हम बौद्धोंको हीन जातिवाले समझकर तुच्छ निगाहसे देख सकते थे। पर, वह जानते हैं, कि बौद्ध बड़े विद्वान् होते हैं, प्रमाण और युक्ति उनके सामने हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। कभी-कभी कोई मनचला पाशुपत पंडित बुद्धिलसे शास्त्रार्थ करनेके लिये भी तैयार हो जाता। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि बुद्धिलके विशाल ज्ञान और अद्भुत तर्क-शक्तिके कारण उसे जल्दी ही चुप हो जाना पड़ता। लेकिन बुद्धिलको कभी इससे संतोष नहीं होता। वह अपनी विद्वत्ताका दिखावा नहीं करना चाहते थे। वह तो हरेकके भीतर गुणोंको ग्रहण करते थे। "दोषोंका ग्रहण करनेवाला हमेशा अपने हृदयको जलाता घाटेमें रहता है" वह प्रायः कहा करते थे। "शास्त्र पढ़नेसे आदमीकी आँखें खुलती हैं, लेकिन उसकी कूपमंडूकता दूर करनेके लिये देशाटन भी आवश्यक है। देश और कालसे परिचित होकर ही हम जान सकते हैं, कि संसारमें किस तरह परिवर्तन हुआ करते हैं।"

फग्गुल कोई शक था, जिसके नामसे अहिच्छत्राका यह विहार बना।

सभी प्राचीन पवित्र स्थानोंमें शकोंके बनवाये विहार मिलते हैं। शक और उनसे कुछ समय पहले यवन जब हमारे देशकी भूमिमें आये, तो उन्होंने तथागतके धर्ममें ही समानता और समदर्शिताका भाव पाया। वह यहाँ लाखोंकी संख्यामें बस गये, लेकिन ब्राह्मण अपनी वर्ण-मर्यादा या वर्ण-संकीर्णताके कारण उनके साथ शासकके तौरपर दण्डके भयसे सिर झुकानेके लिये तो तैयार थे, किन्तु, उन्हें दिलसे समान मानना नहीं चाहते थे। तथागतने वर्ण, जाति और कुलके भेदको मिटाकर मानवमात्रको समान बतला सबमें भाईचारेका भाव भरा, जिसके कारण बौद्ध-विहारों और बौद्ध-कुलोंमें ही शकों, यवनोंने आत्मीयता पाई। इसी कारण फरगुल विहार जैसे सैकड़ों विहार शकोंने बनवाये। राजदण्ड जिसके हाथमें हो, वह इच्छा रखनेपर उच्च कुलकी क्षत्रिय-ब्राह्मण-कन्याओंसे व्याह कर सकता है। समय बीतता गया, और वर्ण-धर्मके पक्षपातियोंको भी अपनी मूर्खता-का पता लगा। आज तो मालूम होता है, शक और यवन अब हमारे देशमें हैं ही नहीं। हैं क्यों नहीं, लेकिन अब उनमेंसे बहुतेरे क्षत्रिय हो गये, कितने ही ब्राह्मण भी बन गये—सूर्यके अर्चक बनकर स्वयं पूजे जा रहे हैं। आज भी उनके सूर्य घुटनों तक जूता पहने मन्दिरोंमें पूजे जा रहे हैं। यह वही जूते हैं, जिनको पहनकर शक लोग अपने ठंडे देशसे भारत में आये थे। कितनी पीढ़ियों तक वह हर समय नहीं, तो विशेष अवसरोंपर गरम देशोंके अननुकूल होनेपर भी इन्हीं जूतोंको पहना करते थे। आज इन जूतोंको देखनेके लिये तुखार और कम्बोज देशकी यात्रा करनी होगी। हमारा कोई देवता मन्दिरमें जूता पहनकर भला बैठ सकता है? यह सूर्य-पूजक शक-ब्राह्मण आज क्या अपने देवताके सामने जूता पहनकर जा सकते हैं, या किसीको जाने दे सकते हैं? लेकिन, इनके पूर्वजोंने जब पहले-पहल जूताधारी सूर्यकी पूजा इस देशमें आरम्भ करवाई, तो वह जूतोंके साथ अपने मन्दिरोंमें जा सकते थे। अत्यन्त शीतल देशमें, जहाँ क्षण भर नंगा रखने पर पैर हिमजड़ हो जाते है, नंगे पैर देवालयमें जानेकी व्यवस्था निरी मूढ़ता होती। हाँ, देश-कालके अनुसार व्यवस्थामें परिवर्तन करना आदमीके लिए आवश्यक हो जाता है। शक-यवन और येथा (श्वेत हूण)

बहुत गोरे थे। उनको जैसा कपिलवर्ण और पिंगल केश पतंजलिके*
समय (ईसा पूर्व दूसरी सदी) ब्राह्मणोंमें बतलाया जाता है। चार-चार पाँच-पाँच शताब्दियों तक हमारे देशमें रहते अब उनके रूप पर भी देश का रंग चढ़ने लगा है।

बुद्धिलने बतलाया: "हमारा वंश शक-ब्राह्मणोंका है। मथुराकी तरह उनको उज्जयिनी नगरी भी शताब्दियों तक शक-क्षत्रपों और महाक्षत्रपोंकी राजधानी रही। वहाँके ब्राह्मणोंने उन्हें सबसे पहले उच्चकुलीन मानना शुरू किया। आज उनके वंशवाले विशुद्ध ब्राह्मण हैं और उनके पुराने यजमान विशुद्ध क्षत्रिय। जिस समय वह इस देशमें आये थे, उस समय शकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका भेद नहीं था। इच्छानुसार कोई भी देवताओंकी पूजाका काम हाथमें ले सकता था। सभी युद्धमें खड्ग धारण करते, और शान्तिके समय पशुपालन करते। वह उसी तरह घुमन्तू थे, जैसे उद्यान और कपिशाके येथा आज हैं। हाँ, उनमें सामन्त और साधारण जनका भेद अवश्य था। मैं तो कहूँगा, कि जो शक ब्राह्मण या क्षत्रिय बने, वह इन्हीं सामन्त-कुलोंके थे। उनके बहुसंख्यक लोग गाय-भैंस या घोड़ा चराते इधर-उधर घूमते रहे, फिर वह किसान बन गये। आज राज्यशक्ति निकल जानेपर उनका प्रताप और धन क्षीण हो गया। अब उन्हें साधारण वैश्य या शूद्र-सा समझा जाता है। उनके भीतर आज भी तथागतके धर्मका मान ज्यादा है, लेकिन उच्च वर्गके लोग अब अधिकतर तथागतके धर्मको छोड़ ब्राह्मणोंके अनुयायी बन गये हैं, क्योंकि हमारा धर्म मनुष्य-मनुष्यको समान कहकर समानताका अधिकार दिला सकता था, किसीको ऊँची जाति और किसीको हीन जाति कहना उसके लिये संभव नहीं था। मेरा ही कुल अब जो ब्राह्मण बनकर सर्वत्र आदर-सम्मान पाता है, क्या तथागतके धर्मको पकड़े रहनेपर वह यहाँ पहुँच सकता था? क्षत्रियों, विशेषकर राजाओंमें तो अब सबसे अधिक संख्या

* "गौरः शुच्याचारः कपिलः पिंगलकेश इत्येमादि अभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति" (महाभाष्य २।२६)

शक-संतानोंकी होती जा रही है। इसे उलटी गङ्गा कह सकते हैं। मनुष्य-मनुष्य-में समानताका प्रचार करके अब फिर वर्ण और जातिकी विषमता फैलाई जा रही है।"

अहिच्छत्रमें हम कुछ अधिक ठहरे। हमें यह भूमि और लोग भी पसन्द आये। परिव्राजक और गृहस्थ दोनोंमें शालीनता, सहानुभूति और विद्या-प्रेम दिखाई देता था। अहिच्छत्रसे हम गङ्गा पार हो पश्चिमकी ओर उस भूमिमें पहुँचे, जो बुद्धिलके अनुसार दक्षिण-पंचाल थी। काम्पिल्य अब एक गाँव रह गया था, जिसके आसपास पुराने नगरके ध्वंस दूर तक फैले हुये थे। बुद्धिलके कथनानुसार तथागत यहाँ आये थे। उस समय इसे किम्बिला कहा जाता था। वहाँसे आगे बढ़ते हम संकास्य गये। यह भी अपने अतीतके वैभव-को खो चुका है। काम्पिल्य, संकास्य (संकिसा), अहिच्छत्रा जैसे कितने ही प्राचीन नगरोंके वैभवको छीनकर कान्यकुब्ज आज समृद्ध बना हुआ है। संकास्य गंगासे दूर एक छोटी सी नदीके किनारे बसा हुआ है। यह छोटी नदी कान्य-कुब्जके पास गंगामें मिल जाती है। इसमें बरसात छोड़कर और समय बड़ी-बड़ी नावें नहीं आ सकतीं, इसलिये बारहों महीने नदी द्वारा व्यापार नहीं हो सकता था। कान्यकुब्ज गंगाके किनारे होनेसे इस बारेमें अधिक भाग्यशाली है, जैसा कि काम्पिल्य नगरी किसी समय थी। संकास्य बौद्धोंके लिये एक पुनीत भूमि है : तथागत स्वर्गलोकमें अपनी माता मायादेवीको उपदेश देनेके लिये जाकर एक वर्षावास बसे, फिर देवलोकसे दाहिने और बाँये ब्रह्मा तथा इन्द्र द्वारा छत्र-चामर धारण किये इसी संकास्यमें उतरे। बुद्धिलके अनुसार यह सारी गप्प है, यद्यपि वह इसे कहकर संकास्यके भिक्षुओंको अपना शत्रु बनानेके लिये तैयार नहीं थे। अहिच्छत्रकी तरह यहाँ भी सम्मितीय निकायके भिक्षु रहते, और उसी तरह यहाँ भी पाशुपतोंके कितने ही मठ और देवालय हैं। संकास्यका मुख्य विहार बड़ा ही सुन्दर है। यहाँ वह तीन सीढ़ियाँ भी पाँतीसे दक्षिणसे उत्तरकी ओर चली गई हैं, जिनसे, तथागत त्रयस्त्रिंश देवलोकसे उतरे थे। "सुधर्मा देवसभा और त्रयस्त्रिंश देवलोक जिस भूगोलपर अवस्थित थे, उस

भूगोलको ही आर्यभट्टने तोड़ फेंका" यह बुद्धिलका कथन था। हाँ, वहाँ वृषभारूढ़ अशोक-शिलास्तम्भ दर्पणकी तरह चमकता यह जरूर बतलाता है, कि अशोकके समय भी देवावतरणकी कथा मानी जाती थी।

कान्यकुब्ज—संकास्यसे हम नदीके किनारे-किनारे कान्यकुब्ज नगरीकी ओर चले। पंचाल उत्तरका हो या दक्षिणका, दोनों ही धनधान्य-सम्पन्न देश हैं। रास्तेमें जंगल शायद ही कहीं दिखाई पड़ा, सब जगह गाँव ही गाँव और खेत थे। जौ-गेहूँके खेत दूर-दूर तक और गाँवोंके पास आमकी अमराइयाँ हैं। राजधानीके निवासियोंने दूर-दूर तक अपने बगीचे लगा रक्खे हैं। ।राजा, राजकुमार, रानियोंके उद्यान और उनके भीतर छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर प्रासाद नगरीसे कोसों दूर तक मिलते हैं। राजधानी लक्ष्मीका आवास होती है, लेकिन साथ ही शत्रु-राजा जब चढ़ दौड़ता है, तब मृत्युकी लीला और संहार सबसे अधिक यहीं दिखाई पड़ता है। कान्यकुब्ज एक नगरके तौरपर पहले भी गङ्गाके पश्चिमी तट पर मौजूद था, लेकिन उसे राजधानी बननेका सौभाग्य मौखरियों द्वारा ही प्राप्त हुआ। पाटलिपुत्र या साकेत छोड़कर मौखरी क्यों यहाँ राजधानी बनाने आये? वाराणसी, कौशाम्बी जैसे और भी प्राचीन और भव्य नगर मौजूद थे। बुद्धिलसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया: मध्यमण्डलके सबसे प्रचण्ड शत्रु (पश्चिममें) थे, जिनके साथ मुकाबिला करनेके लिये सबसे अधिक तैयारी राज्यके पश्चिमी भागमें करनी पड़ती थी। यवन और शक इधर हीसे आये थे, उनसे लोहा लेनेके लिये पाटलिपुत्र बहुत दूर पड़ता था, और गंगाके किनारे तथा पश्चिमी सीमान्तके नजदीक होनेसे कान्यकुब्ज एक बड़ा स्कन्धावार बनने योग्य था। स्कन्धावार (सैनिक-छावनी) के रूपमें ही इस नगरका आरम्भ हुआ, जो शताब्दियों तक स्थायी हो कर एक बड़ी नगरीमें परिणत हो गया। येथा मध्यमण्डलमें संहार करनेवाले अभी हालके शत्रु हैं, जिनका सामना स्थाण्वी- श्वरके राजा करते रहे। मौखरियोंने भी अपने वंशकी स्थापना करते हुये इसीको अपनी नगरी बनाया।

—तो तुम्हारे विचारमें मध्यमण्डलके प्रचंड शत्रु पश्चिमसे आते हैं,

इसीलिये राजधानी पश्चिमकी ओर खिसकती आई। तबतो पूर्वको मध्यमण्डलकी राजधानी बननेका सौभाग्य नहीं प्राप्त होगा और कान्यकुब्ज गंगा जैसी महानदीके किनारे बसनेके कारण सदाके लिये मध्यमण्डलकी राजधानी रहेगा।

—सदाके लिये किसीको राजधानी या किसी और बातका ठेका नियतिने नहीं दे रक्खा है। हम इतना ही कह सकते हैं, कि यह सेना और व्यापार दोनोंकी दृष्टिसे बड़े अनुकूल स्थानपर अवस्थित है। मौखरियोंके सैनिक-बलको देखकर पश्चिमसे कोई शत्रु कान्यकुब्जकी ओर लोभ भरी दृष्टिसे देखनेकी हिम्मत सहसा नहीं करेगा। राजधानी केवल धन और सम्पत्तिकी खान नहीं होती। यदि ऐसी होती, तो उसे शत्रुकी बाँहोंसे बहुत दूर रखनेकी कोशिश की जाती। वह हथियारबन्द प्रचण्ड बलका स्कन्धावार भी होती है, इसलिये उसे निर्णायक युद्ध-क्षेत्रके समीप रखनेकी आवश्यकता होती है। ऐसा निर्णायक युद्धक्षेत्र पश्चिमी शत्रुओंके लिये स्थाण्वीश्वरके आसपासकी भूमि है, इसलिये जब तक महा-नदियाँ सभी तरहके यातायातके सबसे सुगम साधन हैं, तब तकके लिये कान्य-कुब्जको मध्यमण्डलकी राजधानी रहना पड़ेगा।

गुप्तोंने जब अपने पश्चिमी स्कन्धावारका मुख्य सेनापति बनाकर हरिवर्मा॰को कान्यकुब्जमें बैठाया था, उस समय किसको पता था, कि यह मौखरी स्कन्धा॰वार राजधानीका रूप लेगा। शक्तिशाली सामन्त और सेनापति राजवंशके दुर्बल होनेपर उसका स्थान लेते हैं, यह कोई अनोखी बात नहीं है। सामन्त और परमभट्टारक महाराजाधिराज एक ही वर्गके हैं, इसीलिये हरिवर्माके पुत्र आदि-त्यवर्माकी रानी गुप्तवंशजा थी। इन दोनोंका पुत्र ईश्वरवर्मा (५२४—५० ई०) तो गुप्तोंका दौहित्र था। मिहिरकुलको परास्त करनेमें मालवराज यशोवर्माके साथ-साथ मौखरी ईश्वरवर्माका भी खास हाथ था। हूणोंकी पराजयमें ईश्वर-वर्माका सहभागी होना कन्नौजके उत्कर्षका कारण हुआ। मगधमें अवस्थित गुप्तवंशी कुमारगुप्त iii का अबभी दावा है, कि ईश्वरवर्मा मेरा सामन्त है, लेकिन सामन्त जबानसे कोई नहीं होता। इसका फैसला तो तलवार करती है। यशो-

वर्माके अवसानके बाद ईश्वरवर्माकी शक्ति और बढ़ गई। कुमारगुप्तसे उसकी झड़प हो चुकी है। कान्यकुब्जवाले अपने नगरके इतिहासको बहुत प्राचीनकाल तक ले जा सकते हैं, लेकिन उसके वैभव का आरम्भ मौखरी-सेनापति हरिवर्माके समयसे होता है, इसमें सन्देह नहीं।

नगर बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है। गंगाके किनारे कोसों दूर तक वह फैल चुका है, समयके बीतते-बीतते और भी बढ़ेगा। उसके चारों तरफ ऊँचे नगर-प्राकार हैं, सैकड़ों सौध और प्रासाद खड़े हैं और नये खड़े होते जा रहे हैं; जिनके देखने हीसे मालूम होता है, कि नगर नया है। उपनगरके पुराने बाग अब सेठों और सामन्तोंके महलोंके रूपमें परिणत होते जा रहे हैं, और उद्यान दूर तक लगते जा रहे हैं। बागोंमें छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर मकान, स्वच्छ सरोवर, और पुष्पवाटिकायें हैं। हम लोग अपने पहाड़के प्रकृतिके हाथों सँवारे निराले सौंदर्य-को आसपास देखनेके अभ्यस्त हैं। मैदानी लोग भी सौंदर्यसे प्रेम करते हैं और उसके बनानेमें प्रकृतिकी अपेक्षा वह अपने हाथोंका अधिक भरोसा रखते हैं। देवालय और विहार भी नगरकी शोभा हैं, इसलिये उनकी संख्या भी बढ़ती जा रही है। यहाँ निर्ग्रन्थ (जैन) और पाशुपत देवालय तथा मठ जहाँ हैं, वहाँ हीनयान और महायान दोनोंके अनेक विहार हैं, जिनमें सैकड़ों भिक्षु रहते हैं। कान्यकुब्जकी स्थापनाके बारेमें भिक्षुओंने बतलाया : प्राचीनकाल-में पंचालराज ब्रह्मदत्तके पास कोई ऋषि आया, जिसे राजाने अपनी कन्यायें प्रदान की। राजकन्याओंने ऐसे कुरूप ऋषिसे व्याह करना पसन्द नहीं किया, केवल सबसे छोटी कन्याने पिताके अमंगलके डरसे विवाह स्वीकार किया। ऋषिको जब यह बात मालूम हुई, तो उसने इन्कार करनेवाली राजकन्याओंको शाप दे दिया और वह कुब्जा (कुबड़ी) हो गई। कन्या-कुब्जाके सम्बन्धसे नगरका नाम कान्यकुब्ज पड़ा। ब्राह्मण इस नगरका पुराना नाम महोदय बतलाते हैं। पञ्चालराज ब्रह्मदत्तकी जगह राजा कुशनाभकी सौ कन्याओंको दुर्व्यवहारके कारण वायु ऋषिने शाप दिया, जिससे कन्यायें कुब्जा हो गईं। इसीके कारण महोदयका नाम कान्यकुब्ज पड़ गया। तथागतके जीवनकालमें

नगरका नाम कान्यकुब्ज ही था, बुद्धिलने विनय पिटकका उद्धरण देते हुये बतलाया।

नगरके पश्चिमोत्तर अशोक-स्तूप है। यहींपर तथागतने धर्मोपदेश किया था। यहाँ एक छोटे स्तूपके भीतर तथागतके केश और नख-धातु रक्खी हुई हैं। कान्यकुब्जका वैभव आज भी स्पृहणीय है, यद्यपि प्राचीन होते हुये भी इसको एक मुख्य नगरबननेका अवसर मिले एक शताब्दी से अधिक नहीं हुआ। मैंने कपिशा और कश्मीरके नगरोंको भी देखा, जम्बू द्वीप (भारत) के भी पाटलिपुत्र, उज्जयिनी आदि पुरियोंको देखा। इनके राजपथ गगनचुम्बी अट्टालिकाओंकी पाँतियोंके बीचसे अवश्य जाते हैं। अन्तःपुरके राजभवनों को देखकर आँखोंमें चकाचौंध हो जाती है। नगरोंपान्तमें उद्यान-प्रासाद भी स्वर्गके टुकड़े मालूम होते हैं। उच्च-वर्गकी शालीनता, स्वच्छता, साहित्य, कला, धर्म-प्रेम भर अद्‌भुत है। शायद मेरी नजरें इन्हींको देखतीं और दीपकके नीचे काली छाया है, इसकी ओर मेरा ध्यान न जाता; किन्तु बुद्धिल दूसरी ही प्रकृतिके थे। वह बुद्धिका पदानुसरण करते थे, तो भी उनका हृदय अपार करुणासे भरा था अपरिचित होनेपर भी उनके शांत सुन्दर मुख और तरुणाईके कारण अपेक्षासे अधिक उन्हें भिक्षा मिल जाती। भोजन करके उसमेंसे कितना ही बच जाता, जिसे वह अपने लोहेके भिक्षा-पात्रमें लिए चलते। जहाँ भी कोई भूखा, विशेषकर बालक उन्हें मिलता, उसे खिलाये बिना न रहते। वह कहते—दुनियामें अपार दुःख है, यह सत्य है। बुद्धने इसे स्वीकार किया है। लेकिन, दुःख अकारण अर्थात् निसर्गसे नहीं होता, किन्हीं कारणों (समुदयों) से ही वह अस्तित्वमें आता है, तथागतका कहा हुआ यह दूसरा सत्य भी निभ्रन्ति है, जो मनुष्यके हृदयमें आशाका संचार करता है। अगर दुःख अकारण होता, तो उसे हटानेके लिये प्रयत्न करना बेकार होता। दुःख किन्हीं कारणोंसे होता है। इसके साथ भगवान्‌ने यह भी कहा, कि दुनियामें कोई चीज नित्य नहीं है। दुःखके कारण भी नित्य नहीं हैं, इसलिये इन कारणकरका नाश (निरोध) होन संभव है। तीसरा यह सत्य भी यथार्थ है। दुःखके नाशका मार्ग भी है, उपाय

भी है। तथागतने अपने उपदेशित धर्मको बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय कहा, लेकिन संसारमें हम क्या देखते हैं। सौमेंसे सत्तर लोग दुःखमें पड़े हुये हैं। यदि हमें दुनियामें बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय कुछ करना है, तो सबसे अधिक कष्टमें पड़े लोगोंके दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। थोड़ेसे लोग अपार वैभवमें पल रहे हैं। उनके लिये दुनिया स्वर्ग है। कहा जाता है, इस स्वर्गको पाना उनके अपने पुरबिले कर्मका फल है। यदि दस आदमियोंके सुख-वैभवको जुटानेके लिये ९० आदमियोंको पशुवत् काम करना है, जिनमें २० आदमियोंका पशुकी तरह ही मालिकके हाथों क्रय-विक्रय होना है, यदि कर्मके विधानके लिये यह भीषण विषमता आवश्यक है, तो तथागत-कथित दुःखके नाश करनेका मार्ग गलत हो जायेगा। तथागतने सबसे अधिक दुःखाभिभूत मनुष्यों ही नहीं प्राणियों तककी सेवाको सबसे बड़ा धर्म कहा। जातकोंमें हम इसीका सब जगह उदाहरण पाते हैं।"

बुद्धिलको ही इसका श्रेय देना चाहिये, जो मेरी आँखें भव्य अट्टालिकाओं-की तरफ नहीं, बल्कि टूटी झोपड़ियोंकी तरफ आकृष्ट होतीं। मेरा ध्यान हृष्ट-पुष्ट, सुभूषित और सुपरिधानित गुलाबी मुखोंकी तरफ नहीं जाता था, बल्कि बाल्य और तारुण्यमें ही वृद्ध हो गये, चर्म और अस्थि-कंकाल मात्र रह गये नंगे-भूखे, जीर्ण-शीर्ण लोगोंकी ओर अधिक जाता। मैं अपने दोषोंको जानता हूँ। मैं बिल्कुल स्वार्थशून्य रहा, यह नहीं मानता, और जिन धर्मव्रतोंको मैंने स्वीकार किया, उनका सदा अनुपालन किया, यह भी बात नहीं है। परन्तु, मेरा हृदय सदा किसीके दुःखको सहनेमें असमर्थ रहा, इसे मेरा गुण समझें या निर्बलता। कितनी ही बार मेरा मन करता, यदि मेरे जीवनका एक-एक क्षण, मेरे शरीरका एक-एक अंग संसारके इन दुःखोंके एक थोड़ेसे अंशको भी दूर कर सकता, तो मैं बड़ी प्रसन्नतासे उन्हें अर्पण कर देता। लेकिन, तथागतके धर्म द्वारा आलोकित पथपर चलते हुये भी मैं सर्वत्र अन्धकार देखता हूँ। दुःख-के रास्तेको छोड़कर बहुजन कैसे सुखको अपनी आँखोंके सामने देखेंगे? अट्टा-लिकायें इन्हीं भूखे मरते हाथोंने बनाई हैं। देवेन्द्र शक्रका वैभव, जिसे मैंने

कान्यकुब्जके राज-प्रासादमें राजमहिषीका निमंत्रण पानेके समय जाकर देखा था, उसके सृजन करनेवाले इन्हीं भूखे-नंगोंके हाथ हैं। गाँवोंमें हम पास ही पास गड्ढा और ऊँचे मकान देखते हैं। इन ऊँचे मकानोंके उठानेके लिये गड्ढोंको खनना पड़ा। वैभव, सुख, निरोगता सब जगह होनी चाहिये। वह कुछ मुट्ठी भर लोगोंके कर्ममें लिखी नहीं होना चाहिये।

तथागतने बिना अपवादके दुनियाकी हरेक वस्तुको अनित्य बतलाया है:: सभी क्षणिक हैं। मनुष्यके पास बुद्धि है, वीर्य और पराक्रम है। वह अपने इन साधनों द्वारा भवितव्यताको बदल सकता है। तथागतने बदला, उन्होंने दुःखके सागरमें शान्ति, उत्सर्गका द्वीप स्थापित किया। जब भी कोई मनुष्य अपने स्वार्थोंसे ऊपर उठकर सोचता है, तो उसे सबके सुखमें ही सुख मिलता है। बोधिसत्त्वने जिस वक्त भूखी व्याघ्रीको अपने शरीरको देनेका संकल्प किया, और व्याघ्रीने अपने तीक्ष्ण दाढ़ोंको उनकी तरफ बढ़ाया, तो उन्हें भय और दुःख नहीं, बल्कि परमशान्ति और परमसुख मिला था। इसीलिये तो इसे पारमिता (पराकाष्ठा) कहा गया। यदि तथागतने दुःखके नाशकी सम्भावना बतलाई, उसका मार्ग भी है, इसे प्रकट किया; तो अवश्य वह उस मार्गपर चलनेवाले पुरुष पैदा होंगे। वह समय कभी आवेगा, जब कि यह जगती सुखावती बनेगी, यहाँके मानव दिव्य और समान होंगे। हमारे उद्यानमें भी विषमता है, दुःख है, लेकिन यहाँ जिस विषमताको विशाल प्रासादों और जीर्ण-शीर्ण झोपड़ोंके बीचमें, आढ्यों-कुलीनों और अन्त्यजों-अकिंचनोंके रूपमें मैं देख रहा था, उसका हमारे यहाँ कोई पता नहीं था। एक ओर धनी और निर्धनका भेद था, तो दूसरी ओर जाति-भेद भी वहाँ भीषण था। ब्राह्मण-क्षत्रिय, राजा-पुरोहित अपनेको पृथिवीका स्वामी समझते, दिव्य भोग भोगना अपना अधिकार मानते, जब कि शूद्र और चांडाल मनुष्य कहलानेके भी अधिकारी नहीं हैं। तथागतने इस विषमताका विरोध करते बतलाया, कि जातिसे न कोई ब्राह्मण होता, न कोई कुलीन। यह शील और सदाचार ही है, जो आदमीको बड़ा बनाता है।

कभी-कभी इन बातोंपर हम दोनोंने आपसमें चर्चा की, कभी-कभी जाति-पाँतके पक्षपाती ब्राह्मणोंसे भी हमारा वाद हुआ। वह सिद्ध करना चाहते थे, कि ऊँच-नीचका भेद निसर्गतः है। वह कहते, इसीलिये तो उच्च कुलवाले गोरे होते हैं, और नीच कुलवाले काले। यह ठीक है, कि उच्च वर्णवाले जम्बू-द्वीपमें गोरे होते हैं, लेकिन कभी-कभी उनमें कोई-कोई साँवले और काले भी दिखाई पड़ते हैं। पशुकी तरह बिकनेवाले दास-दासियोंमें तो कितने ही गोरे होते हैं। गोरे दास-दासियोंको दूर-दूरके देशोंसे बड़े मूल्यपर खरीदकर लाया जाता है। फिर उद्यान और कपिशाकी तरह भी दुनियामें देश हैं, जहाँके सभी लोग गोरे होते हैं और मध्यमंडलवालोंसे बहुत अधिक गोरे। हमारे लोगों जैसे सुनहली या नीली आँखों और भूरे बालोंवाले नर-नारी यहाँ बहुत कम मिलते हैं। फिर मैंने अवारों और तुर्कोंमें देखा, वहाँ निसर्गतः कोई रंग-भेद या आकृति-भेद नहीं, महाचीनमें भी दास-दासी होते हैं, गरीब-अमीर होते हैं, लेकिन उनमें वर्ण और आकृतिका वैसा भेद नहीं। यह सच है, कि जम्बू-द्वीपमें अधिकांश दास-दासी काले या साँवले होते हैं। लेकिन, इसके कारण यह कहना ठीक नहीं मालूम होता, कि सभी काले लोग दास-दासी और शूद्र-चाँडाल बननेके लिये हैं।

जब मैं तथागतकी चरणधूलिसे पवित्र स्थानोंमें जाता, वहाँ रक्खी हुई पवित्र धातुओंमें सबके सच्ची होनेपर विश्वास न करनेपर भी उन्हें देख मेरा हृदय गद्गद् हो जाता : तथागत यहाँ आये थे, यहाँ घूमे थे, यहाँ बैठे थे, यहाँ उन्होंने दुःखी प्राणियोंको आदिकल्याण, मध्यकल्याण, पर्यवसान-कल्याणवाले उपदेश दिये थे। कितनोंने उस उपदेशको सुनकर अपनी स्वार्थकी मात्रा कम की, और दूसरोंके लिये वैद्य और औषधि बने। इस ख्यालके आनेपर मैं कुछ समयके लिये आसपासकी पीड़ाजनक बातों और दृश्योंको भूल जाता। जन्मभूमि छोड़नेके बाद पहली बार मैंने एक सबसे वैभवशाली नगर—कान्यकुब्ज—को देखा, और उसी समय मेरे मनमें इस तरहके भाव जाग्रत हुये।

अध्याय ७

मगधकी ओर (५४४—४५ ई०)

कान्यकुब्जसे हम दोनों आगे बढ़े। गर्मियोंके दिन थे, लेकिन हम दो-तीन घड़ी दिन रहने हीपर चलते और कोशिश करते, कि अन्धेरा होनेसे पहले आगे किसी बिहारमें पहुँच जायें। कश्मीर, कपिशा, तक्षशिला, स्रुघ्न, कान्यकुब्ज, संकास्यमें जगह-जगहके इतने भिक्षु मिले थे, कि हम चाहते तो रास्तेके बिहारोंकी सूची बना सकते थे। मोटे-मोटे गंतव्य स्थानोंका पता हमने जरूर कर लिया था, लेकिन आगेके रास्तेको वहाँ पहुँचनेके बादके लिये छोड़ रक्खा था। कान्यकुब्जसे हमारा लक्ष्य कौशाम्बी थी। कान्यकुब्ज, काम्पिल्य, संकास्य, आलविका (आलंभिका) पंचाल देश हीमें पड़ते हैं। अगला दर्शनीय स्थान हमारे लिये आलविका था। बुद्धिल ने बतलाया, कि यहाँका यक्ष (देवता) आलवक पंचालचंडके नामसे प्रसिद्ध था, वह बड़ा ही क्रोधी था। उसने अपने क्रोधको एक बार बुद्धपर भी प्रयोग करना चाहा, लेकिन उसे परास्त होना पड़ा। कश्मीर छोड़नेके बाद हमें अब समतलभूमिसे ही गुजरना पड़ता था। स्रुघ्न, कणखल (कनखल) तथा कुछ आगे तक उत्तरमें हिमालय कभी-कभी दिखाई पड़ता था, लेकिन अब हम उससे बहुत दूर हो चुके थे। हमारे रास्तेमें और आसपास जहाँ-तहाँ गाँव मिलते थे, जिनके पास आम और दूसरे वृक्ष पाये जाते। बड़े नगरोंके क्रीड़ोद्यानोंमें नारंगी, सेब, अंगूर जैसे मेरे चिर-परिचित फलोंके वृक्ष भी थे, लेकिन उनमें वह स्वाद कहाँ? विहारोंके उद्यानोंको भी सुन्दर और सुफल रखनेकी कोशिश की जाती थी। गर्मियोंमें हरियाली केवल बड़े-बड़े वृक्षोंके रूपमें अथवा ऊख और कुछ साग-सब्जीके खेतोंकी शकलमें ही देखनेको मिलती थी। इनके अतिरिक्त गाँवोंके खेतोंके बाहर पलाश, करौंदे

और दूसरी तरहके वृक्ष मिलते थे। जंगल काफी थे, लेकिन हाथी, बाघ, सिंह और चीता जैसे भयंकर जन्तुओंका रहना बड़े-बड़े जंगलोंमें ही होता था, जो अधिकतर हिमालय और विन्ध्यपर्वतके नजदीक थे। इन जंगलोंमें पचासों-सैकड़ों आदमियोंके सार्थके साथ जाना पड़ता था, इसलिये अधिक डर नहीं था।

हम अब तक बराबर स्थल-पथसे आये थे। कान्यकुब्जमें सलाह हुई, कि आगे जमुनाके तटपर पहुँचकर वहाँसे कुछ जल-यात्रा भी पूरी की जाये, इसलिये आलविका (अरवल) से हमने जमुनाका रास्ता लिया। गंगासे जानेपर प्रयाग पहुँच फिर जमुनाके ऊपरकी ओर जाना पड़ता। यद्यपि सभी मनुष्योंके बारेमें वैसा नहीं कहा जा सकता, लेकिन, तो भी मध्यमंडलके लोग भिक्षुओंके प्रति बड़ा सम्मान दिखलाते हैं। वणिजसार्थ चाहे जल-पथसे जाते हों या स्थल-पथसे, प्रव्रजितों (साधुओं) की हर तरहसे सहायता करनेके लिये तैयार रहते हैं। आलविकासे हमारा रास्ता अधिकतर दक्षिण-पूर्वकी तरफ था। यहाँ गंगा और जमुनाके बीचकी भूमि बड़ी सुहावनी है। यह दोनों नदियाँ पुण्यतोया समझी जाती हैं, उनके कारण यदि यहाँके निवासियोंको अपने देशका अभिमान हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वस्तुतः अपनी जन्मभूमिके प्रति प्रेम और अभिमान मनुष्यके लिये स्वाभाविक है। जब अपने ही जन्मग्रामके आसपास आदमी रहता है, तो उसका यह प्रेम अपने ग्राममें केन्द्रित होता है। दूर हटनेपर अपना जनपद मधुर मालूम होता है। जिस वक्त हम जमुना-गंगाके बीच (अन्तर्वेद) में पर्यटन कर रहे थे, उस समय न जाने कितनी बार उद्यान मुझे याद आता था। वह सीधे खड़े सदा हरे रहनेवाले देवदार, और वह घर-घर और कल-कल करके चलनेवाली शीघ्रगामिनी नदियाँ। लेकिन, मध्यमंडलके लोग भी अपनी विशाल और शान्ततोया नदियोंका अभिमान कर सकते हैं। वहाँकी गर्मी हमारे लिये अप्रियकर हो सकती थी, लेकिन जो ऐसे ही देशमें बराबरसे रहते चले आये हैं, उनके लिये वह वैसी नहीं हो सकती थी। गर्मीके दो अन्तिम मास मेरे

लिये असह्य हो जाते, और भरसक मैं इस समय यात्रा नहीं करना चाहता था। गरम हवा लग जानेसे बीमार क्या, मरनेका भी डर था। आज महा-चीनमें जब मैं इन बातोंको लिखने बैठा हूँ, तो मुझे सारा उद्यान, कपिशा, मगध—अर्थात् सारा जम्बू-द्वीप—एक समान प्रिय मालूम होता है। कितनी ही बार उत्कट इच्छा हो आती है, कि एक बार फिर उन स्थानोंको देखूँ, जहाँ मैंने अपने बाल्य और तारुण्यमें विचरण किया था। लेकिन, अब तो वह स्वप्नमें ही खंडित रूपसे जब-तब हो सकता है। न पैरोंमें उतनी शक्ति है, न आयु उतनी अवशिष्ट है, न हृदयमें उतना साहस और उत्साह है। फिर आयुके साथ आदमी के इष्ट स्थानोंकी संख्या भी बहुत बढ़ जाती है, जिसके कारण यह निश्चय करना मुश्किल हो जाता है, कि कहाँ जायें और किसे छोड़ें। मनुष्यकी स्मृति भी कितनी मधुर और बहुमूल्य होती है। लेकिन, वह कितने भंगुर पात्रमें रक्खी हुई है। हरेक शरीरके नाशके साथ ऐसी असंख्य मधुर स्मृतियाँ हमेशाके लिये लुप्त हो जाती हैं। चीनी पुरुषोंको मैं इसके लिये साधुवाद दूँगा, कि वह ऐसी स्मृतियोंकी कदर करते हैं, उन्हें सुरक्षित रखते हैं। मेरे जन्मसे १८-२० वर्ष पहले फा-शीन (फा-हियान्) ने अपनी अद्भुत और विशाल यात्रा कर उसे लेखबद्ध करके रख दिया। यदि उन जैसे चीनी परिव्राजकों की यात्रायें मैंने न पढ़ी होतीं, तो मुझे अपनी यात्राओंके लिख छोड़नेका ख्याल नहीं होता। फा-शीन अभी ही विस्मृत होने लगे। समय आयेगा, उस वक्त लोगों-को यह भी पता नहीं होगा, कि फा-शीन किस जगह रहते थे। लेकिन, उन्होंने जो विवरण लिख छोड़ा है, वह चिरस्थायी रहेगा।

हम एक सप्ताह थोड़ा-थोड़ा चलकर जमुनाके तटपर पहुँचे। मनुष्यको एक जगहसे दूसरी जगह जानेकी सुविधाओंका ध्यान होता है। हम भिक्षु स्थल-मार्गमें घोड़े, गाड़ी, पालकी या दूसरे तरहके वाहनका इस्तेमाल नहीं कर सकते, और यदि इस्तेमाल करनेकी अनुज्ञा होती, तो भी मैं तो उसे कभी नहीं पसन्द करता। पादचारिकामें आदमी पृथ्वीको अपने पैरोंसे नापता कितने भिन्न-भिन्न दृश्योंको एकान्त मनसे देखता, उनके सौन्दर्यका आनन्द लेता है,

यह बात सवार चलनेसे नहीं ह सकती । वस्तुतः यह भी एक लालच था, जिसके कारण हमने नदी-पथसे चलना नहीं पसन्द किया था । जब दो सहयात्री यात्राके सम्बन्धमें कमसे कम बिल्कुल एक जैसा विचार रखते हो दोनोंकी रुचियाँ एक सी हों, तो यात्रामें कितना आनन्द आता है, इसे वही जानते हैं, जिनको कभी इसका तजर्बा हुआ हो । हम दोनों ऐसे ही साथी थे । यदि चाहते तो स्रुघ्नसे ही हम जमुनाकी नावोंसे कौशाम्बी चले आते, लेकिन, तब हम बहुतसे स्थानोंको देखनेसे वंचित हो जाते । शायद जमुनाके किनारे जिस स्थान पर हम पहुँचे, उसका नाम चन्द्रपुर था । जमुना कुछ कुछ गंगाकी तरह ही विशाल है, लेकिन इस जगह उसके किनारेके घाट कुछ अधिक ऊँचे हैं । चन्द्रपुर एक अच्छा खासा बाजार है, जिसके घाट पर व्यापारियोंकी नौकायें बराबर आती-जाती रहती हैं, इसलिये वहाँ पहुँचनेपर हम इस बातसे निश्चिन्त थे, कि नीचेकी ओर कौशाम्बी जानेवाली नावके मिलनेमें दिक्कत नहीं होगी । आखिरी दिन हमें बहुत सी गाड़ियाँ भी मिलीं, जिन पर लदा हुआ कितना ही माल चन्द्रपुरकी नौकाओंके लिये ही था ।

जहाँ बड़े-बड़े व्यापारी रहते हों, या कोई अच्छा धनी सामन्त हो, वहाँ अच्छे खासे विहार या परिव्राजकारामका होना आवश्यक है । चन्द्रपुरमें एक अच्छा विहार था, जिसके भिक्षु कुछ स्मृति-चिन्होंको दिखलाकर यह बतलाना चाहते थे, कि शाक्य मुनि ही नहीं, बल्कि भद्रकल्पके और भी कितने ही बुद्ध यहाँ आये थे । यही बातें हर जगह दोहराई जातीं, फिर बुद्धिलका सत्संग था, जिसके कारण मैं ऐसी बातों पर सहसा विश्वास नहीं कर सकता था ।

आवासिक भिक्षुओंने हमारा बड़ा स्वागत किया । बुद्धिल जहाँ भी पहुँच जायें, नये दोस्तोंके बनानेमें उन्हें देरी नहीं लगती थी, और दोस्ती भी ऐसी, जो जितना ही अधिक सहवास हो, उतनी ही बढ़ती जाती थी । आखिर मनुष्यको जो वाणी मिली है, उसमें यदि मधु घोल दी जाये, तो वह किसको

वस नहीं कर सकती ? बुद्धिलके मुखमंडलपर हर वक्त मुस्कराहट खेला करती थी, वह सचमुच अजात-क्रोध थे। उन्होंने यद्यपि मुझे पढ़ाया था, लेकिन वह बराबर मुझे अपने वयस्क मित्रके समान ही मानते थे। उन्होंने कभी मुझे उपदेश देनेकी कोशिश नहीं की, लेकिन उनके आचार-व्यवहारको देखकर मैंने न जाने कितनी बातें सीखीं। उन्होंने मुझे अपने आचरणों द्वारा बतलाया, कि पर्यटकको किस तरहका होना चाहिये।

चन्द्रपुरके आवासिक भिक्षुओंने इस बातका प्रयत्न किया, कि हम ऐसे सार्थवाहकी नावसे जायें, जिसमें हमें कोई कष्ट न हो। कौशाम्बीके बड़े श्रेष्ठियोंमें सुफल श्रेष्ठी भी थे, जनकी पण्यद्रव्योंसे लदी नौकायें पूर्व-समुद्र (बंगालकी खाड़ी) से गंगा, जमुना, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और मही (गंडक) से होकर उनके उन घाटों तक जाती थीं, जहाँ पहाड़ आकर उनका रास्ता नहीं रोक देता। उसके कार्यकर्त्ता, सभी बड़े-बड़े नगरोंमें मौजूद थे। यदि हम चाहते, तो कान्य-कुब्जमें भी उससे बातचीत कर लिये होते, लेकिन उस वक्त हमें इसकी जरूरत नहीं थी। चन्द्रपुर विहारके स्थविर (महन्त) ने बतलाया, कि सुफल श्रेष्ठी मथुरासे लौटकर आजकल चन्द्रपुरमें आये हुये हैं। स्थविरने बढ़ा-चढ़ाकर हम दोनोंका गुण-गान सुफल श्रेष्ठीके सामने किया। श्रेष्ठी वैसे भी बुद्धश्रावकोंका भक्त था। उसे यह अभिमान था, कि वह घोषित श्रेष्ठीका वंशज है, जिसने तथागतका कौशाम्बीमें कितनी ही बार आतिथ्य किया था, और घोषितांराम बनाकर भिक्षु-संघको अर्पित किया था। स्थविरसे हमारे बारेमें सुनकर उसने अगले दिन हमें भोजनका निमंत्रण दिया, और इस बातकी बड़ी इच्छा प्रकट की, कि हम श्रेष्ठीके साथ उसीकी नावमें चलें। श्रेष्ठीके साथ एक सप्ताहकी यात्रा सुखपूर्वक हुई, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। साथ ही वह बड़ी ज्ञानवर्द्धक भी थी। जिस तरह भिक्षु और परिव्राजक अपना जीवन विचरण करनेमें बिताते हैं, श्रेष्ठी लोग भी अपनी सफलताके लिये वैसा करते रहते हैं। विश्वासपात्र कर्मियों द्वारा अपने वाणिज्यको वह चला सकते हैं, लेकिन उसे और सफलता-पूर्वक चलानेके लिये आवश्यक है, कि श्रेष्ठी

स्वयं भी उन-उन राजाओं और सामन्तोंका दर्शन और भेंट-पूजा करे, जिनके राज्यसे उसे व्यापार करना है। यद्यपि वाराणसीसे स्रुघ्न तक मौखरी परमभट्टारक महाराजाधिराज ईश्वर वर्माका ही राज्य है, और उनके साथ सुफल श्रेष्ठीका बहुत परिचय नहीं, बल्कि बन्धुत्व है, लेकिन केवल परमभट्टारकके साथका ऐसा सम्बन्ध पर्याप्त नहीं है, उपरिकों (प्रदेशपतियों), कुमारामात्यों (विषयपतियों, जिलाधीशों) को यदि प्रसन्न न रक्खा जाये, तो बना काम भी बिगड़ सकता है। इसीलिए श्रेष्ठिको हर साल किसी न किसी ओरकी यात्रा करनी पड़ती है। श्रेष्ठीका व्यापार मगध और अवन्तीके राज्योंमें भी होता, इसलिए वह वहाँ भी जाता था।

सूर्योदयसे पहले ही उस दिन हमारी नौका जमुनापर चल पड़ी। रास्ता प्रवाहकी ओर था। पतवारोंके चलानेका मतलब यही था, कि वह और द्रुतगतिसे चले। लेकिन, उसकी आवश्यकता हमें नहीं पड़ी, क्योंकि उस ऋतुमें चलनेवाली पछुआ हवा अपने आप पालको उड़ाये लिये जा रही थी। जलमें रहते भी गर्मीका मध्याह्न सुलकर नहीं होता, किन्तु श्रेष्ठीकी अपनी नाव एक छोटे-मोटे प्रासाद जैसी थी, जिसमें हर तरहके आरामका प्रबन्ध था। गर्मी बढ़नेपर चँदवा टँगनेवाली छतपर खस बिछाकर पानीका छिड़काव होता रहता, खिड़कियाँ और दरवाजोंमें भी उसका प्रबन्ध था। यह सामान्य माल ढोनेवाली नौका नहीं, बल्कि बिलास नौका थी, जिसमें आरामके साथ हरेक चीजको बड़े कलापूर्ण रूपसे सजाया गया था। श्रेष्ठी ५० वर्षके करीब के थे, उनकी पत्नी उनसे पाँच-सात वर्ष छोटी होंगी। घरका काम ज्येष्ठ पुत्रने सँभाल लिया था, इसलिये उनको उतनी चिन्ता नहीं थी। श्रेष्ठी-पत्नी तो अब सारा समय पूजा-पाठ और कथा-उपदेशमें बिताती थी। यात्रामें जहाँ भी मालूम होता, कि यहाँपर तथागतका कोई पदचिन्ह है, तो वह वहाँ दर्शनके लिये अवश्य जाती और भिक्षुओंको दान तथा सहाय्य देनेमें बड़ी उदारता दिखलाती। श्रेष्ठीकी नावके साथ चार और नौकायें चल रही थीं, जिनमें उनके रक्षी और परिचारक थे। जहाँ सम्पत्ति हो, वहाँ भय

होना भी स्वाभाविक है। यद्यपि मौखरी ईश्वरवर्माका शासन बड़ा दृढ़ और शान्तिपूर्ण है, लेकिन जब तक सुख और सम्पत्ति थोड़ेसे मनुष्योंके भाग्यमें बदी है, तब तक चोर और दस्यु बिल्कुल नष्ट कैसे हो सकते हैं ? फिर वाणिज्य सार्थों की तो अपनी परम्परा होती है, जो शान्त और अशान्त हर तरहके शासनमें चलती ही रहती है। जल-सार्थ हो या स्थल-सार्थ, सार्थवाह इस बातकी पूरी तैयारी करके यात्रा करते हैं, कि रास्तेमें दस्युओं-से मुकाबिला होनेपर अपनी रक्षा कर सकें। वाणिज्य नौकायें भी इसीलिये एक-दो नहीं बल्कि बीसियों एक साथ चलती हैं, जिनमें अवश्यकतानुसार कुछ सशस्त्र योद्धा तथा सभी लोग हथियारबन्द होते हैं। श्रेष्ठीकी नौकाके साथ भी पचाससे ऊपर लड़नेवाले आदमी थे, और जहाँ भी भय होता, वह रातकी यात्रा नहीं करते।

वर्षाकालमें नदियों में पानी बहुत बढ़ जाता है, उनकी धार भी तीव्र और कहीं-कहीं भयानक हो जाती है। अधिक बाढ़में कितने ही वृक्ष उखड़कर नदीमें बह चलते हैं, जिनसे सावधानीके साथ नौकाओंको चलाना पड़ता है। पूछनेपर श्रेष्ठीने बतलाया—"जाड़ों और गर्मियों-की अपेक्षा वर्षामें नौका-यात्रा विपद्ग्रस्त हो जाती है, लेकिन मनुष्यका जीवन कब ऐसा है, जब कि उसमें किसी तरहकी विपद्का भय न हो। वर्षा-कालमें तो वाणिज्यके लिये हमें अधिक दूर तक नौका-यात्राकी सुविधा मिलती है। कितनी ही क्षुद्र नदियोंमें भी इतना पानी हो जाता है कि हमारी बड़ी-बड़ी नावें उनसे होकर बहुतसे स्थानोंमें पहुँच सकती हैं। बड़ी नदियोंकी अपेक्षा क्षुद्र नदियाँ ही अधिक हैं। यदि वर्षामें उनकी सहायता न ली जाये, तो हमें बहुत सी जगहोंपर केवल शकटों या बैलोंसे ही पण्यका क्रय-विक्रय करना पड़े। स्थल-पथकी अपेक्षा जल-पथ कम खर्चका है, और कितनी ही बार उसमें समय भी कम लगता है, इसीलिये वर्षामें हमारी नावोंकी सरगर्मी ज्यादा बढ़ जाती है।"

जहाँ कोई काम न हो, वहाँ श्रेष्ठीको नावोंके ठहरानेकी आवश्यकता

नहीं थी। चन्द्रपुरसे कौशाम्बीके बीचमें ठहरनेकी जगहें कम ही थीं। तो भी शाम-सबेरे कुछ समयके लिये हमारी नाव किनारे पर खड़ी होती। ऐसी कम ही जगहें थीं, जहाँ श्रेष्ठीके अपने कर्मी या परिचित न होते। पहले जानेवाली नौकाओंसे उन्हें खबर मिल जाती, और वह ठीक समयपर घाटपर उपस्थित रहते। नौयात्रीको गर्मियोंके धूपसे त्राण पानेके लिये किसी वृक्षकी छाया नहीं मिल सकती थी। इसलिये हम अपने नौकागृहकी कृत्रिम शीतल छायामें ही पड़े पड़े आगे बढ़ते रहते। भोजनोपरान्त मध्याह्नका समय विश्रामका था। हम दोनों भिक्षुओंके लिये श्रेष्ठीने अपनी दो कोठरियोंमेंसे एकको दे रक्खा था। कभी हम वहाँ सो जाते और कभी वार्तालाप करते। इसके बादके समयोंमें कभी श्रेष्ठी और श्रेष्ठी-पत्नी दोनों मेरे या बुद्धिलके उपदेशोंको सुनते, या किसी बातके बारेमें पूछते। श्रेष्ठी-पत्नीको तथागतकी जीवनी और सूक्तियोंके सुननेका बड़ा शौक था। इसके लिए उन्होंने अलग समय निर्धारित करा लिया था, जो अपराह्नमें फल-पान करानेके बाद होता था। श्रेष्ठी-पत्नी स्वयं भी सूत्रों और जातकों का नियमपूर्वक पारायण करती थीं। लेकिन, जब बुद्धिलके कहनेपर महाकवि अश्वघोषके बुद्धचरितका अर्थ सहित पाठ किया, तो वह इतनी प्रसन्न हुई, कि बिना नागा हर रोज समय से पहले ही उसके लिये तैयार हो जातीं। मैंने भी बुद्धचरितके अनेक पारायण किये हैं। कविका चमत्कार ही समझिये, जो वह हर बार अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहा। लेकिन बुद्धिकके कथा करनेका ढंग ही दूसरा था। वह मूल संस्कृतको बड़े मधुर स्वरमें पढ़ते, उसके बाद भाषा (प्राकृत) में उसका ठीक-ठीक अर्थ करते इतना अच्छे ढंगसे समझाते, कि मालूम होता तथागत जिस दुनियामें चल रहे थे, वह हमारे सामने सजीव खड़ी है।

यह मैं कहूँगा, कि बुद्धिलकी सारी बातें हमारी आजकी परम्पराके अनुसार नहीं होती थीं। जब मैं पूछता, तो बुद्धिल कहते—यह जमुना जहाँ सनातन हिमानीसे निकलकर पहाड़ोंमें हहास करती चलती है, उस समय यह वैसी ही

होती है, जैसी तुम्हारी सुवास्तु अपने उद्गम स्थानके पास, लेकिन आगे उसमें भिन्न-भिन्न तरहकी नदियाँ आकर मिलती जाती हैं, जिनके कारण उसके रूप और आकारमें कितने ही परिवर्तन होते जाते हैं। परम्पराकी भी बात यही है। वह भी काल बीतनेके साथ-साथ नई गढ़ी हुई परम्पराओंसे मिलकर परिवर्तित रूप स्वीकार करती है। सिंहलकी महाविहारकी मौखिक नहीं, लिखित परम्पराको ही ले लें। वह कश्मीर-गन्धारकी सर्वास्तिवादी परम्परासे भिन्नता रखती है, और इन दोनोंका यदि महायान-परम्परासे तुलना करें, तो परिवर्तन और भी अधिक दीख पड़ता है। सभी परम्पराओंमें कुछ समानतायें भी हैं। मानना पड़ेगा, वही सबसे प्राचीन परम्परा है। बुद्धिलने महाविहार (स्थविरवाद) और सर्वास्तिवाद के ही पिटकों और अर्थकथाओं-त्रिभाषाओंका पारायण नहीं किया था, बल्कि सम्मितीय, महासाँघिक आदि निकायोंके पिटकोंका भी अवलोकन किया था। महायानके तो वह पण्डित थे। लेकिन, वह किसी बातके लिये दुराग्रह नहीं रखते थे। अपने ही धर्मवालोंके प्रति नहीं, बल्कि बाह्यधर्मियोंके सम्बन्धमें भी वह तटस्थता और सहज सहानुभूति रखते थे, इसलिये सभी उनका बड़ा सम्मान करते थे। उन्हें मूर्त्तिकला, चित्रकला और काव्यकलाका भी अच्छा ज्ञान तथा अभ्यास था, यद्यपि उनको सबसे अधिक पसन्द प्रमाणशास्त्र था, दिग्नागके वह अनन्य भक्त थे। कहते थे: हमें पोथियों और परम्पराओंका अन्धानुसरण न करके विवेक-बुद्धिका पथ-प्रदर्शन स्वीकार करना चाहिये।

बुद्धचरितकी कथा करनेके समय वह कभी अतिलौकिक घटनाओं और असंभव कथानकोंका सहारा नहीं लेते थे। इसके कारण तथागतके मुखमंडल के चारों तरफ फैला प्रभामंडल जरूर लुप्त हो जाता था, लेकिन उसकी वजहसे तथागत खर्व नहीं मालूम होते थे, बल्कि उनका पुरुषोत्तम रूप शतगुण भव्य हो जाता था। श्रद्धावती सेठानीको और भिक्षुओंकी कथाओंसे बुद्धिल की कथामें विचित्रता मालूम होती थी, लेकिन वह उसके लिये कम आकर्षक नहीं थी। कथामें जहाँ बुद्धिल कपिलवस्तु और वैशालीका वर्णन करते हुये

वहाँके राजा-विहीन गणराज्योंका वर्णन करते, वहाँ साथ ही वह अपनी यात्रा के विशाल अनुभवोंका भी उपयोग किये बिना नहीं रहते। सेठानीको और सेठको भी यह सुनकर आश्चर्य हुआ, कि उनके बुद्धकालीन पूर्वज दादा-दादी वेश-भूषा भाषा-रुचिमें आजकी अपनी सन्तानोंसे बहुत भेद रखते थे। बुद्धिलने विदिशा (साँची) के चैत्य स्तूप और दूसरे प्राचीन बिहार चैत्यों (भरहूत, श्रीपर्वत आदि) की मूर्त्तियोंकी प्रतिकृति बनाकर जब उन्हें दिखलाया, तो उन्हें विश्वास हो गया, कि तरुण भिक्षु का कहना बिल्कुल ठीक है। बुद्धिलने बारीक मिट्टी लेकर कुछ मूर्त्तियोंको आँखोंके देखते-देखते जरा देरमें हाथोंके चमत्कारसे इतना सुन्दर रूप दे दिया, कि सचमुच लोग चकित हो जाते थे।

हमारी सात दिनकी नौका-यात्रा हम दोनोंको छोड़कर सभीके लिए अतृप्तकर थी। श्रेष्ठी और उनकी पत्नीके आग्रहके कारण कौशाम्बी के घोषिताराममें हमें एक सप्ताहकी जगह दो सप्ताह रहना पड़ा। कौशाम्बी कितनी प्रसिद्ध और पुरानी नगरी है! अनेक सुन्दर कथानकोंका नायक वत्सराज उदयन यहीं रहता था। तथागतके जीवनकालमें यह एक बड़ी समृद्ध नगरी थी, लेकिन आज वह बहुत कुछ उजाड़ सी हो गई है। प्रयागने इसकी समृद्धिको कुछ-कुछ छीना, कान्यकुब्ज और उससे पहले पाटिलपुत्रके पास यहाँकी लक्ष्मी रूठकर चली गई। अब भी एक बड़े जल-पथपर होनेके कारण इसमें कुछ-कुछ प्राण दिखाई पड़ता है, नहीं तो कबकी मर कर विस्मृत हो गई होती। जब नगरकी यह अवस्था हो, तो यहाँके दसियों संघारामोंको खंडहरके रूपमें हम देखें, तो इसमें आश्चर्य क्या? जहाँ कभी उदयनका अन्तःपुर था, वहाँ भी सब जगह कालकी ध्वंस-लीला दिखाई देती है। एक बौद्ध-मन्दिर ४० फुट ऊँचा अब भी मौजूद है, जिसके भीतर स्थापित चन्दनकाष्ठकी बुद्ध-मूर्त्तिके बारेमें बतलाया जाता था : इसे राजा उदयनने तथागतके जीवनकालमें उनके रूपको देखकर शिल्पियों द्वारा बनवाया था। बुद्धिल इसपर विश्वास नहीं करते थे। वह कहते थे, कि वैदिशगिरि और

दूसरे प्राचीन चैत्योंमें बुद्ध-मूर्त्ति बनानेका कहीं भी पता नहीं लगता। इसकी जगह वहाँ पीठासन या चरणके रूपमें भगवान्‌को उपस्थित किया जाता है, इसलिये उदयन या तथागतके जीवनके समय ऐसी मूर्त्तिका बनाया जाना असंभव है। श्रद्धालुओंको वंचित करनेके लिए किसीने यह दन्तकथा गढ़ी है। नगरके दक्षिण-पूर्व कोनेमें श्रेष्ठी घोषितका घर था, जहाँ खंडहरोंके बीच एक बुद्ध-मन्दिरमें केश और नख-धातुकी पूजा होती है। घोषित श्रेष्ठीने जिस घोषिता-रामको बनवाया था, वह नगरके बाहर दक्षिण-पूर्व कोनेपर है। उसके पास डेढ़ सौ हाथके करीब ऊँचा अशोक-स्तूप है। तथागत अनेक बार आकर इस आराममें ठहरे थे, इसमें सन्देह नहीं। यहाँपर भी एक स्तूपमें केश-नख धातु रक्खी हुई है। घोषितारामके दक्षिण-पूर्वमें एक दोमंजिला ईंटका मकान है, जिसके कोठेपर वह कोठरी अब भी मौजूद थी, जिसमें रहते आचार्य वसुबन्धुने अपनी "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" (विंशिका, त्रिंशिका) की रचनाकी थी। घोषितारामसे पूर्व एक आम्रवनमें वह मकान है, जिसमें आर्य असंगने अपने महान् ग्रंथ "योगाचार भूमि" का निर्माण किया था। नगरसे एक कोस उत्तर-पश्चिम छोटा सा पहाड़ है, जिसकी प्लक्षगुहामें तथागतका आना-जाना होता था। इसीके पास देवकृत-श्वभ्र (प्राकृतिक कुंड) है। हिमालयके बाद जमुना और गङ्गाके बीचमें यही एक छोटी सी पहाड़ी देखनेमें आती है। यहाँ सभी धर्मोंके संघाराम और मठ हैं, जो किसी समय बड़ी अच्छी अवस्थामें होंगे, लेकिन उनका अवलम्ब कौशाम्बी नगरी जब सूख गई, तो भिक्षु और परिव्राजक यहाँ कैसे अधिक रह सकते थे ?

कौशाम्बी नगरी और उसके आस-पासके प्राचीन स्थान उजड़ेसे थे। यद्यपि हमारे श्रेष्ठी बड़ी उदारतासे संघारामोंका पोषण और संवर्द्धन करते थे, लेकिन एक श्रेष्ठी कहाँ तक कर सकता है, जब कि उसका भी एक पैर कान्यकुब्ज में जम रहा हो।

कौशाम्बीसे ७ योजन (३८ मील दूर) प्रयाग हम नौका द्वारा भी जा सकते थे, लेकिन हमने उसकी जगह स्थल-मार्गसे जाना ही पसन्द किया। रास्तेमें घना

जंगल है, जिसमें हाथी और सिंह-व्याघ्र रहते हैं। किसी समय इस जंगलमें ग्राम-निगम रहे होंगे, जो कौशाम्बीके वैभवके छिन जाने पर नष्ट हो गये। धरतीके भाग्यमें यही बदा हुआ है : कभी वहाँ हँसती नगरी और प्रफुल्लित ग्राम बसें, और कभी उजड़ कर वहाँ ऐसे जंगल तैयार हो गये जहाँ जाना भी आदमीके लिये प्राण-संकटका कारण बन सकता है। प्रयाग किसी समय जंगलों-वाला एक छोटा सा गाँव रहा, यह रामायण (बाल्मीकि) के वर्णनसे मालूम होता है। उसके पास जमुना-गंगा पार प्रतिष्ठान (झूँसी) अवश्य कुछ महत्व रखता था, और अब भी उसकी स्थिति उतनी गिरी हुई नहीं है, जैसी कि कौशाम्बीकी। लेकिन, अब तो जान पड़ता है, प्रयागका भाग्य चमकनेवाला है। यहाँ गंगा-जमुनाके संगमपर स्नानसे धर्म माननेवाले हजारों नर-नारी आते हैं। दो-तीन बौद्ध-संघाराम हैं, लेकिन ब्राह्मणोंके देवालय उनसे कहीं अधिक हैं। वह सबसे अधिक वहाँके एक वटवृक्षको पवित्र मानते हैं, जो एक देवालयके सामने संगमसे नातिदूर है। लोग वटके ऊपर चढ़ कर कूद कर आत्महत्या करते हैं। समझते हैं कि इस तरह उनके सारे पाप धुल जायँगे, और स्वर्गसे उनको लेनेके लिये विमान आयेगा। मरे हुये लोगोंकी कितनी ही हड्डियाँ इस वृक्षके नीचे पड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। गंगा-जमुनाके संगममें डूबकर मरनेको भी भारी पुण्यका काम समझा जाता है। बुद्धिलने खीझकर उस समय कहा था—"कैसी ध्वस्तप्रज्ञता है : मनुष्य आत्म हननको पुण्य मान रहा है, और कैसा वह धर्म है, जो लोगोंको इस तरह मूर्ख बनाता है।" नगरके दक्षिण-पश्चिममें अशोकका बनवाया एक पुराना स्तूप है, जिसके पास भी केश-नख धातुका एक छोटा सा चैत्य है। इसी स्तूपके पासके एक पुराने संघाराममें आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेवने अपने 'चतुःशतक शास्त्र"की रचना की थी।

अब हमारा आगेका लक्ष्य वाराणसी थी। तथागतके जीवनसे सम्बन्ध रखने-वाले चार प्रधान स्थानोंमें यह एक है। हमारा रास्ता पूर्वकी ओर था। राज्यपथ होनेसे इसके दोनों तरफ आमके वृक्ष लगे हुए थे। आमके फल काफी बड़े हो

चुके थे, जो बतला रहे थे, कि वर्षाका समय बहुत दूर नहीं है। वर्षावासके लिए हमें अपनी यात्रा स्थगित करनी पड़ती। हम चाहते थे, कि वर्षाके दो महीनोंको जेतवन-श्रावस्तीमें बिताया जाये। इसलिए अब हम सबेरे और शाम दोनों वक्त चलकर रोज तीन योजनकी मंजिलपूरा करना चाहते थे। वाराणसी (बनारस) भी प्राचीन और विशाल नगरी है। एक नगरकी भाग्य-लक्ष्मीके बननेका मतलब ही है दूसरे नगरका नाश। वाराणसी यद्यपि कोई राजधानी नहीं है, लेकिन उसकी अवस्था वैसी दीन-हीन नहीं है, जैसी कि कौशाम्बीकी। इसका कारण एक तो यह है, कि वाराणसी अब भी एक अच्छा वाणिज्य-केन्द्र है, दूसरे बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्मियोंका यह बहुत पवित्र स्थान है। नगरमें पशुपतिके अनेक देवालय हैं, जिनमें एकको बहुत पवित्र माना जाता है। वाराणसीके शिल्पी अपने सुन्दर वस्त्रों तथा दूसरी चीजोंके बनानेमें अद्वितीय माने जाते हैं। पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज तथा दूसरे नगर अपने वैभवको उतना चिरस्थायी नहीं बना सके, जितना कि वाराणसी।

हम वाराणसीसे उत्तर धर्मचक्रप्रवर्त्तन विहार (सारनाथ) में ठहरे। यही पुराना ऋषि-पतन मृगदाव है, जहाँ तथागतने अपने आदिकल्याण, मध्यकल्याण, पर्य-वसानकल्याण धर्मका सबसे पहले उपदेश दिया। सुदूर महाचीन और द्वीप-द्वीपां-तरोंके निवासी तथागत-श्रावक कितनी लालसा रखते हैं, इस पुनीत स्थान के दर्शन करनेकी? तथागतने बुद्ध होकर अपनी पहली वर्षा यहीं बिताई, यहीं उन्होंने पाँच भिक्षुओंको सबसे पहले अपने धर्ममें दीक्षित करके भिक्षु-संघकी नींव डाली। जिस स्थानपर पाँचों भिक्षुओंको उन्होंने अपने धर्मका उपदेश दिया, उस जगह अशोक राजाने एक विशाल स्तूप बनवा दिया। उसके पास ही भगवान्के निवासकी गन्धकुटी थी, जिसके पास उसी राजाने शिलास्तम्भ गाड़ दिया। अशोकको गुजरे अभी हजार वर्ष भी नहीं हुए, लेकिन इस शिलास्तम्भपर उत्कीर्ण लिपिको अभीसे लोग पढ़नेमें असमर्थ हैं। ऋषिपतन-में अनेक संघाराम हैं, इसे संघारामोंका नगर कहा जा सकता है। बुद्धिलने बतलाया: यहाँ की सबसे पुरानी मूर्त्तियाँ लाल पत्थरकी हैं, जिन्हें राजा कनिष्क-

के समयमें बनवाया गया था। आज भी यहाँ नई मूर्त्तियाँ बनती तथा स्थापित होती हैं। मैं कहूँगा, कि आजके शिल्पी अपनी कला और सौन्दर्य-सृष्टिमें अपने पूर्वजोंसे आगे बढ़े हुए हैं।

वाराणसीसे हमने साकेत (अयोध्या) का रास्ता लिया, जहाँ पहुँचनेमें हमें सात या आठ दिन लगे। रास्तेमें यहाँ भी श्वापदोंसे आकीर्ण कितने ही जङ्गलोंको पार करना पड़ा। कई छोटी-बड़ी नदियाँ उतरनी पड़ीं। आखिर हम साकेत पहुँचे। इसे बाल्मीकि अपने रामायणमें अयोध्या कहते हैं। यह कोई वैभवशाली नगरी नहीं है, यद्यपि आसपासके खँडहरोंसे मालूम होता है, कि किसी समय यहाँकी समृद्धि आजसे अच्छी रही होगी। साकेत महाकवि अश्वघोषकी जन्मभूमि है। उन्हें अपनी माता और मातृभूमिसे अपार प्रेम था, इसीलिये वह अपने नामके साथ "साकेतक आर्यसुवर्णाक्षी-पुत्र" लिखा करते थे। तथागतके समय यह नगरी बहुत समृद्ध थी, तभी तो विशाखाके पिता अर्जुन श्रेष्ठीने श्रावस्ती न जाकर इसीको अपना निवास-स्थान बनाया था, यद्यपि उस समय कोसल देशकी राजधानी साकेत नहीं श्रावस्ती थी। यहाँसे श्रावस्ती (सहेट-मेहेट) ७ योजन रह गई थी, इसलिये हमें विश्वास हो गया, कि वर्षोपनायिका (आषाढ़ पूर्णिमा) तक हम अवश्य वहाँ पहुँच जायँगे।

अब परिपक्व आम मिलने लगे थे। साकेतके पास सरयूको पारकर हम उत्तरकी तरफ श्रावस्ती के रास्तेपर चले। यह रास्ता ऐसे प्रदेशसे जा रहा था, जहाँ जङ्गल कम, और ग्राम-निगम अधिक थे। बुद्धिलके लिये वह कोई नई चीज नहीं थी, लेकिन मेरे लिये तो आम परम दुर्लभ और प्रिय फल था। भिक्षुओंको मध्याह्नके बाद भोजन करना वर्जित है, लेकिन फलरस वह ले सकते हैं, इसलिए मुझे भोजनके बाद भी शामको आमके रसको पीनेमें बड़ी प्रसन्नता होती थी। साकेतसे श्रावस्तीको जानेवाला राजपथ बराबर जनाकीर्ण रहता है। शकटों (बैलगाड़ियों) और बैलोंपर जहाँ व्यापारी अपने पण्यको ले जा रहे थे वहाँ कितने ही सवार और पैदल पथिक भी चल रहे थे। श्रावस्तीका वैभव कौशाम्बीकी तरह ही यद्यपि क्षीण हो गया है, तो भी

हिमालयके चरण तक फैले हुये देशों तक पहुँचनेके लिये अभी भी श्रावस्ती-का कुछ महत्त्व है, यह राजरथपर चलनेसे मालूम होता था। हमें आशा थी, कि श्रावस्तीको कौशाम्बीसे बेहतर हालतमें पायेंगे, लेकिन विशाल नगरीके कुछ ही अंश आबाद हैं, पूर्वाराम और जेतवन जैसे अत्यन्त पवित्र और प्रसिद्ध विहार भी अधिकतर ध्वस्तप्राय हैं। नगरसे दूर-दूर तक टूटे-फूटे संघारामोंको देखा जा सकता है। नगर-प्रकार अधिकतर ध्वस्त हो चुका है। उसके उत्तर-पूर्व और दक्षिण के प्रसिद्ध दरवाजे अब नाममात्र रह गये हैं। दक्षिण दरवाजेके बाहर कुछ हटकर जेतवन है, और पूर्व द्वारके बाहर विशाखा का बनवाया पूर्वाराम। नगरीके भीतरके राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथपिंडक और विशाखाके घरोंका पता अब संकेतचिन्होंसे ही मिलता है। हमने अपना निवास जेतवनमें रक्खा। तथागतके समय "जेतवन रम्य" था। हमारी भावनाओंमें वह अब भी वह रम्य था। बुद्ध होनेके बाद उन्होंने अपने जीवनके ४६ वर्षावासोंमें २६ यहीं बिताये। सैकड़ों उपदेश उन्होंने यहीं दिये। अब भी वह गन्धकुटी हमारे सामने मौजूद थी, जिसमें तथागतने इतनी वर्षाओंको बिताया था। पासमें वह स्नानकोष्ठक भी था, जिसमें वह स्नान किया करते थे। जिस जगह भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका शामके वक्त तथागतके मुखसे धर्मोपदेश सुननेके लिये एकत्रित हुआ करते थे, वह जगह भी मौजूद थी। जेतवनमें घूमते-घूमते हमें तथागतके जीवनकी एक-एक घटना याद आती थी। सबसे अधिक प्रभाव हमें जेतवनके जंताघरके दर्शनसे हुआ। यहींपर साथियों द्वारा परित्यक्त रोगी भिक्षु तिष्यको ले जाकर तथागतने गरम पानीमें भिगोकर शरीरको मल-मलकर नहलाया था और अपने आचरण द्वारा उपदेश दिया था, कि दूसरोंके दुःखमें सहायता करना हमारा सबसे पुनीत कर्त्तव्य है।

जेतवन विहारमें सम्मितीय भिक्षुओंका अधिपत्य है, लेकिन जेतवनको तो तथागतने आगत-अनागत चातुर्दिश भिक्षुसंघ के लिये लिया था, इसलिये वहाँपर चारों दिशाओंसे आनेवाले भिक्षुओंका एक समान आतिथ्य किया

जाता है। अनाथपिंडक सुदत्त श्रेष्ठीकी लक्ष्मी बहुत दिनों नहीं ठहरीं, लेकिन उसका कार्षापणोंको बिछाकर खरीदा यह जेतवन हमेशाके लिये स्थायी है। जेतवनके भीतर बनाये अनेक विहार ध्वस्त हो चुके हैं या हो रहे हैं। हो सकता है, किसी समय यह भी जङ्गलके गर्भमें चला जाये, लेकिन अमर तथागतके सम्बन्धके कारण जेतवनभी अमर है। जेतवनके पूर्वद्वार पर अशोकके प्रायः ५० हाथ ऊँचे दो शिलास्तंभ हैं, जिनमें बायें ओरके स्तम्भपर धर्मचक्र के साथ बैलकी मूर्ति है। जेतवनके पूर्वोत्तर कोणपर उस जगह भी एक स्तूप है, जहाँपर भगवान्ने रोगी भिक्षुको अपने हाथोंसे स्नान कराया था।

वर्षावासके लिये जेतवनमें दो सौ भिक्षु एकत्रित हो गये थे। पूर्वाराममें उनकी संख्या ५० के करीब थी। कभी इन संघारामोंमें हजारों भिक्षु रहा करते थे। उस समय आजके उजड़े या गिरे-पड़े मकान कितने भरे-भरे से लगते होंगे। तब यहाँके भिक्षुओंको बुद्धके वचन "सब अनित्य है" का अर्थ समझ में न आता होगा। आज हम जेतवनमें कहे गये तथागतके सूक्तोंको जब वहीं पढ़ते थे, तो आँखोंमें बर्बस आँसू आये बिना नहीं रहते थे। यद्यपि सुदत्त अनाथपिंडक और विशाखा मृगारमाता जैसे परम धनी सेठों का अब यहीं निवास नहीं था, लेकिन श्रावस्ती नगर तथा आसपासके गाँवोंके लोग जेतवनकी पुनीतताको भूले नहीं थे। वह भिक्षुओंके खान-पानका पूरा ध्यान रखते थे। सावन और आधे भादों तक काँवरोंपर भर-भरके आम हमारे यहाँ आते। यहाँके भिक्षु आमको वहां महत्व नहीं देते, जो कि हम ऐसे देशोंके भिक्षु, जहाँ आमका नाम सिर्फ पुस्तकोंमें ही पढ़ा जाता है। आकाश निरभ्र रहने पर श्रावस्तीसे हमें हिमालयके पहाड़ दिखलाई पड़ते। उस समय अनेक बार मुझे अपनी जन्मभूमि याद आती। यही काले और उनके पीछेके सफेद हिमवाले पहाड़ तो हमारे उद्यान तक चले गये हैं। कभी-कभी मैं सोचता एक बार यहाँसे चलकर हिमवान् की सैर कर आऊँ, लेकिन हम दोनों तो कई और भी

पनीत स्थानोंका दर्शन करते ताम्रपर्णी (सिंहल) तक जाने का संकल्प कर चुके थे ।

० ० ० ०

वर्षावास समाप्त हुआ। महाप्रावारणा (आश्विन पूर्णिमा) के दिन श्रावस्ती और जेतवनके खंडहरोंमें एक बार फिर उत्सव का दृश्य दिखाई देने लगा। भिक्षुओंकी भेंटके लिये नर-नारी अपने घरोंसे बनाकर नाना प्रकारके भोजन लाये थे। कितनोंने अपने हाथसे सिले चीवर प्रदान किये। यहाँ हमें कपिलवस्तु और लुम्बिनीकी ओर जाने वाले और भी साथी मिल गये। जेतवनसे निकल कर हम अचिरवती (राप्ती) पार हुये। कातिकका महीना था। रास्ते के दोनों तरफ हरे-भरे धानके खेत खड़े थे, जिनमें कितने ही बहुत अच्छे किसिमके गंधशाली (वासमती) के थे। वर्षाके हाल हीमें समाप्त होनेके कारण खेतों तथा छोटे-बड़े जलाशयोंमें खूब पानी था। श्रावस्ती या कौशाम्बीको जैसी दीन दशामें हम देख चुके थे, तथा जमुना-गंगाके बीच और वाराणसी तथा साकेतके बीचकी भूमिमें बस्तियोंकी जगह बहुतसे उजड़े गाँव खड़े देखे, वह हालत यहाँ नहीं थी। युद्धोंका ऐसा ही परिणाम होता है, विशेषकर यदि आक्रमणकारी विदेशी हो, जिसकी सहानुभूति लोगोंके साथ कुछ भी न हो। हेफ्तालों (श्वेत हूणों) के घोड़ोंकी टापों की यह बरक्कत थी। तोरमाण और उसका पुत्र मिहिरकुल वहीं तक पहुँचे थे। श्रावस्तीकी हड्डियोंसे उन्हें कुछ लेना नहीं था, इसलिए इधरके लोग बच गये।

युद्ध भी एक भीषण महामारी है, जिसके आनेपर बस्तियाँ उजड़ जाती हैं। एक बार उजड़ी बस्तियोंको फिरसे आबाद होनेमें देर लगती है, क्योंकि चिड़ियोंकी तरह मनुष्य भी जब दूसरी जगह जाकर नया घोंसला बना लेता है, तो उसके दिलसे पुरानेका मोह चला जाता है। यहाँकी हरी-भरी भूमि और आबाद गाँवोंको देखकर हमारे मनमें बड़ी प्रसन्नता होती थी। कुछ गाँव तो उन्हीं लोगोंके थे, जो अपनी जन्मभूमियोंको छोड़कर यहाँ आबाद

हो गये थे। कुशल किसान, चतुर शिल्पी और विद्वान् पुरुष इस उथल-पुथलके कारण एक जगहसे दूसरी जगह फेंक दिये गये थे। जेतवन और पूर्वारामको वह आबाद नहीं कर सके, क्योंकि वह लाखों-करोड़ोंके खर्चेकी बात थी, लेकिन गाँवोंमें नये-नये, छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर विहार बन गये थे। कपिलवस्तु पहुँचने तक दो-चार ही ऐसे बड़े गाँव मिले, जिनमें ईंटोंके कुछ बड़े-बड़े घर थे, नहीं तो कच्ची मिट्टीकी दीवारें और फूसकी छतोंवाले छोटे-छोटे घरोंके झुरमुट गाँवोंके रूपमें दिखाई पड़ते थे। उनके खेतोंमें ही हरियाली नहीं थी, बल्कि छतोंपर भी कद्दू, लौकी और दूसरी बेलें चढ़ी हुई थीं। यह समय ऐसा था, जब कि ग्राम सुधान्य होते हैं। साठीका चावल देखनेमें उतना भले ही न हो, किन्तु बहुत मीठा होता है। तेवनके लिये आजकल कोई कठिनाई नहीं थीं। छोटी-बड़ी मछलियाँ बहुत सुलभ थीं। मैं अभी मछली-मांस खानेसे विरत नहीं हुआ था, और गृहस्थ निमंत्रण या भिक्षाटनके समय हमारे पात्रोंमें उसे जरूर देते थे। हाँ, यह समय था, जब कि लोगोंको जूड़ीकी बीमारी हो जाया करती है। कभी-कभी तो वह इतने जोरसे फैलती है, कि लोगोंके काम बन्द हो जाते हैं, परन्तु इस साल खैरियत थी। दूसरा कष्ट हमें रातको सोनेके वक्तका था, जबकि मच्छर नींद हराम कर देते थे। हमारे पास मशककुटी (मसहरी) नहीं थी, जिससे कि उनका निवारण करते। यहाँ धनी लोग ही उसका उपयोग करते हैं। गाँवों और खेतोंकी बहुतायत होनेके बाद भी यहाँ जंगलोंकी कमी नहीं थी। हम जितना ही पूर्वकी ओर अधिक बढ़ रहे थे, उतनी ही वह और बढ़ते जा रहे थे।

हम पाँच सहयात्री थे, जिनमें हम दोनोंके अतिरिक्त एक मगधके भिक्षु सुरत और दो सिंहल के थे। सिंहलके स्थविर सुनन्द वृद्ध और बहुश्रुत थे। उन्होंने श्रद्धासे प्रेरित होकर ७० वर्षकी उमरमें यह यात्रा शुरू की थी, जो जलपथको छोड़कर बराबर पैदल की थी। इसमें शक नहीं, स्थविर सुनन्दका शरीर स्वस्थ था, लेकिन ७० वर्षों का बोझ भी तो बहुत होता है। हम

बराबर उनके आरामका ध्यान रखते थे, और केवल अपराह्णमें ही एक योजनकी यात्रा करते थे। विश्राम करनेका समय हमारा व्यर्थ नहीं जाता था। कभी वह उपासक-उपासिकाओंको धर्मोपदेश करते, और कभी हमें पुराने आख्यानोंको सुनाते। दूसरे दिन हमें वह नदी मिली, जो किसी समय कौसलराज प्रसेनजित् और शाक्योंके राज्योंकी सीमा थी। आजकल तो छोटी-सी-छोटी नदी सर्वथा सूखी नहीं थी, लेकिन उनको पार करना मुश्किल नहीं था। कहीं लोगोंने पानीको रोकनेके लिए बाँध बाँध दिये थे, और कहीं बाँस और लकड़ीके अस्थायी सेतु। नदीके पार हमने शाक्योंकी प्राचीन भूमि पर जिस वक्त पैर रक्खे, तो कुछ ही कदमोंपर एक बटवृक्ष (बरगद) मिला। स्थविर सुनन्द गद्‌गद् होकर बोलने लगे—यही वह बटवृक्ष है, जिसके नीचे देवमनुष्योंके शास्ता एक दिन बैठे थे। छिदरी छाया होनेके कारण उनके शरीरपर धूप भी पड़ रही थी। शाक्योंका नाती कोसलराज विरूढ़क दासी-पुत्रके लांछनका बदला लेनेके लिए अपनी सेना सहित यहाँ पहुँचा। तथा-गतको देखकर उसने कहा—भन्ते, ऐसी धूपके समय इस कबरी छायावाले वृक्षके नीचे क्यों बैठे हैं? इस घनी छायावाले बटके नीचे बैठें।

—ठीक है महाराज, लेकिन ज्ञातियोंकी छाया ठंडी होती है।

विरूढ़कने भगवान्‌के भावको समझ लिया। उस समय वह लौट गया, लेकिन अन्तमें शाक्योंका संहार करके बदला लिया ही।

स्थविरको विश्वास था, कि यह वही पुराना बटवृक्ष है, जिसने तथागत-को छाया प्रदान की थी। मेरा और बुद्धिलका विश्वास था, कि वह वृक्ष सौ वर्षसे अधिक पुराना नहीं होगा। लेकिन, तो भी हमने उनकी श्रद्धाका सम्मान किया। मुझे इस सम्बन्धमें कितनी ही नई बातें बुद्धिल और स्थविरकी कृपासे मालूम हुईं। शाक्योंमें राजाका शासन नहीं, बल्कि गणका शासन था। उनकी एक संस्था (गणपंचायत) हुआ करती थी, जो सभी बातोंका निर्णय करती थी। जिस विशाल आगारमें यह संस्था बैठती थी, उसे संस्थागार कहते थे। एक बार आनेपर युवराज विरूढ़कको शाक्योंने इसी संस्थागारमें ठहराया

था। ऊपरसे उसके प्रति सम्मान प्रदर्शन करते, भीतरसे हरेक शाक्यके मनमें महानाम शाक्यकी दासीपुत्रीके पुत्रके प्रति अपार घृणा थी। मेहमानोंके चले जानेपर एक दासीने विरूढ़कके बैठनेसे अपवित्र हो गए पीठको धोते हुए कहा था—"दासीपुत्रने भ्रष्ट कर दिया, हमें कितनी मेहनत करनी पड़ रही है।" विरूढ़कका एक सैनिक अपना भाला ले जाना भूल गया था। उसने आकर दासीकी बातको सुन लिया और जाकर विरूढ़कके पास आग लगा दी। बुद्धने दास और आर्य, शूद्र और ब्राह्मणका भेद मिटाकर एक मानव-जाति स्थापित करनेके लिए उपदेश दिया था। जैसे समुद्रमें नाना दिशाओंसे आकर नदियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, उसी तरह नाना देशों और नाना जातियोंके लोग बुद्धके धर्ममें सम्मिलित हो एक हो जाते हैं। इसी दृष्टान्तको दिखलानेके लिए तो चीन-महाचीन, पूर्व गन्धार-पश्चिम गन्धार, पूर्व-कम्बोज पश्चिम कम्बोज सभी देशों और वहाँकी सभी जातियोंके लोग जब किसी संघाराममें आते हैं, तो एक तरहकी अद्भुत आत्मीयताका अनुभव करते हैं। अनुरुद्ध, आनन्द जैसे कितने ही शाक्य-पुत्रोंने तथागतके संघमें प्रवेश किया और उनके शासन (धर्म) को आगे बढ़ानेमें बहुत काम किया। उपालि शाक्यों का नापित (हजाम) था। जब अनुरुद्ध आदि शाक्यपुत्र भिक्षु बनने लगे, तो उन्होंने उपालिकी सबसे पहले उपसम्पदा (भिक्षुदीक्षा) करवाई, जिसमें कि संघमें ज्येष्ठ होनेके कारण वह उपालिका अभिवादन करें और इस प्रकार उनके हृदयमें जाति-अभिमान घुसने न पाये। पर यह भावना सारे शाक्योंके मनमें कैसे आ सकती थी?

मेरे और बुद्धिलके बीच शाक्यभूमिमें रहते समय कितनी ही बार ऐसी चर्चा हो उठती। राजतन्त्र जितना ही विशाल और शक्तिशाली हो, उसीके अनुसार उसमें मनुष्य-मनुष्यमें असमानता देखी जाती है। मध्यमंडलमें तो बड़ी-छोटी जातिमें रंगका भी कुछ भेद मिलता है, लेकिन मैंने बहुतसे ऐसे देश देखे हैं, जिनमें मनुष्य-मनुष्यकी विषमता मौजूद है, परन्तु उनके रंगरूपमें कोई भेद नहीं। महाचीनमें यही बात है, त्युरोक (तुरुष्क)

में भी यही बात है। खुद मेरी अपनी जन्मभूमि उद्यानमें हमारे लोग सभी एक रंगरूपके होते हैं। लेकिन, विषमता है, जो अधिकतर सम्पत्ति और प्रभुताके कारण है। त्युरोकों, शकों, हेफ्तालोंमें आपसमें एक तरहकी समानता देखनेमें आती है। हेफ्ताल-राजा मिहिरकुल कश्मीरों, गन्धारोंके सामने चाहे कितना ही देवातिदेव बनता हो, लेकिन अपने हेफ्तालोंमें वह भाईचारेका प्रदर्शन करना चाहता है। मौखरी परमभट्टारक ईश्वर वर्मा ऐसा नहीं कर सकते।

बुद्धिलने बतलाया: शाक्योंका गण विषमताशून्य नहीं था, यह तो इसीसे मालूम होगा, कि उनके यहाँ दास-दासी थे, जिनका पशुओंकी तरह क्रय-विक्रय होता था। उनको अपनी जातिका इतना अभिमान था, कि कोसलराज प्रसेनजित्‌को भी नीच समझ उसे अपनी कन्या नहीं देना चाहते थे और महानामने अपनी दासी-पुत्री वार्षभक्षत्रियाका प्रसेनजित्‌से व्याह किया, जिससे विरूढ़क पैदा हुआ। तो भी शाक्य भूमिके जितने भी शाक्य थे, वह भाई-भाई थे। सम्पत्तिमें विषमता रहनेपर भी शासनमें उनका मत समान था। गणराज्यका शब्द पहलेपहल मुझे इसी वक्त सुननेमें आया। शाक्यभूमिसे हम भिक्षुओंका कितना सम्बन्ध है, यह इसीसे मालूम है, कि हमें शाक्यपुत्रीय कहा जाता है। इस चर्चासे मुझे मालूम हुआ, कि भिक्षु-संघमें हर कामको एक व्यक्तिकी आज्ञाके अनुसार नहीं, बल्कि सारे संघकी सम्मतिके अनुसार किया जाता है, उसपर भी इसी गण-संस्थाकी छाप है। तथागत स्वयं एक गणराज्यमें पैदा हुये थे। उन्होंने बचपनसे ही गणोंके रीति-रवाजोंको देखा। पीछे मगध, कोशल, वत्स जैसे बड़े-बड़े राज्योंमें गये! वहाँके राजाओंने उनका देवोपम सम्मान किया, किन्तु उनकी व्यवस्था उन्हें उतनी पसन्द नहीं आई, जितनी कि गणसंस्थाकी, इसीलिये उन्होंने संघसन्निपात (संघकी बैठक), छन्द-ग्रहण (वोट लेना), छन्द-शलाका (वोटकी लकड़ी) का वितरण तथा यद्भूयसिक (बहुमत) के निर्णयको मान्य करना आदि नियमोंको संघके लिए स्वीकार किया। संघमें उन्होंने वह समानता भी स्थापित की, जो गण राज्योंमें भी दिखाई नहीं पड़ती थी, अर्थात् वैयक्तिक (पुद्गलिक) सम्पत्ति

प्रत्येक भिक्षु अपने शरीरकी आठ चीजों तक ही सीमित रहे, बाकी गृह, आराम तथा दूसरी चीजें संघकी सम्पत्ति हों। यह ठीक है, कि आज वह समानता संघमें उतनी नहीं पाई जाती, जिसका कि विनयमें विधान है, पर, तो भी वह वहाँ देखने में आती है। कहाँ-कहाँके हम पाँचों भिक्षु शाक्यभूमिमें इकट्ठा चल रहे थे और हम आपस में कितनी बन्धुता अनुभव कर रहे थे।

हमारी बड़ी इच्छा थी, कि शाक्योंकी भूमिमें आकर तथागतके वंशके शाक्योंसे मिलें, किन्तु जान पड़ता है विदूडब (विरूढ़क) ने सचमुच ही शाक्योंका सर्वसंहार कर दिया है। एकाध उनमेंसे भिक्षुके रूपमें हमें जरूर मिले, लेकिन शाक्य-परिवार देखनेमें नहीं आये। सुना जरूर, कि उत्तर के हिमवान् के पहाड़ोंमें वह भागकर जा बसे हैं, और बहुत थोड़े वहाँसे लौट-कर कहीं-कहीं रहने लगे हैं। शाक्योंकी भूमिमें अब भी जंगल ही अधिक हैं। वहाँके निवासियोंमें विशेषकर पर्वतसानुके पासके घने जंगलों में किरात लोग रहते हैं। ये अधिकतर आखेट और पशुपालन पर गुजारा करते हैं। उस समय मुझे उनके बिना मूँछ-दाढ़ीके मुँह, फूली हुई पपनियोंवाली टेढ़ी-टेढ़ी आँखों और चिपटी नाकोंको देखकर कुछ विचित्रता मालूम होती थी, लेकिन पीछेकी अपनी यात्राओं में मैंने देखा, कि तुरुष्क, अवार, चीनी भी उसी तरह-की मुखमुद्रावाले होते हैं। किरात अब भी वन्य-जीवनको छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं। उनमें तथागतके शासनका विस्तार बहुत अल्प हुआ है।

श्रावस्तीसे १२ योजन जानेके बाद हमें वह स्थान मिला, जहाँ हमारे भगवान् गौतम बुद्धसे पहलेके क्रकुच्छन्द बुद्ध पैदा हुये थे। वहाँ एक स्तूप और अशोकका खड़ा किया शिलास्तम्भ है। यहाँसे एक योजन और जाने पर कोनागम बुद्धका जन्मस्थान मिला। अगले दिन हम कपिलवस्तु पहुँच गये। वहाँ क्या देखा—श्रावस्ती और कौशाम्बीमें तो अब भी कुछ लोग रहते हैं, कुछ अट्टालिकायें खड़ी हैं, लेकिन इन खँडहरोंमें पूछनेपर ही मालूम होता, कि यहाँ शुद्धोदनका प्रासाद था। लोगोंने वहाँ सिद्धार्थ कुमार और उनकी माँ मायादेवी-की मूर्त्तियाँ स्थापित कर दी हैं। किसी खँडहरको बतलाया जाता था : कि यहाँ

सिद्धार्थ कुमार के लिये ग्रीष्म-प्रासाद बना था, और यहाँ हेमन्तप्रासाद। वह स्थान भी देखा, जहाँ नगरके पूर्वद्वारसे निकलकर उद्यान जाते हुये सिद्धार्थ कुमारने जहाँ रोगी पुरुषको देखा था, और वहाँसे रथ लौटाकर अपने महलमें चले आये थे। उस स्थानको भी बतलाया गया है, जहाँ सिद्धार्थने धनुष और शस्त्र चलानेमें अपने हस्तलाघवका परिचय दिया था। बुद्ध होनेके बाद पहले-पहल जिस जगह अपने पिताको उन्होंने दर्शन दिया था, उस स्थानपर भी हम गये। नगरसे कुछ दूर हटकर वह स्थान भी हमें मिला, जहाँ पर अनेक शाक्य-कुमार उपालिको लेकर बुद्धके पास गये और उन्होंने भिक्षु-दीक्षा ग्रहण की। जिस स्थानपर विदूड़भने शाक्योंके खूनसे अपने हाथको रँगा, उसको भी हमने देखा।

किन्तु, वहाँ कपिलवस्तु नगर कहाँ था? उसकी जगह ईंटों और मिट्टीके ढूह दिखलाई पड़े। इतना अलौकिक पुरुष जिस नगरमें हुआ, उसकी यह अवस्था :

कपिलवस्तुसे चलकर हम अगले दिन लुम्बिनी पहुँचे। "यहींपर बुद्ध शाक्य-मुनि पैदा हुये।" जिसे अशोक राजाने एक शिलास्तम्भ खड़ा करके उसपर उक्त वाक्य उत्कीर्ण कर दिया। मायादेवी आसन्नप्रसवा होकर कपिलवस्तुसे अपने पिताके कोलिय (देव दह नगर) को जा रही थीं, रास्तेमें ही लुम्बिनी के उद्यान में उन्हें प्रसव-पीड़ा हुई, और यहीं वह अलौकिक बालक पैदा हुआ, जिसने सारे संसारसे दुःख और अंधकारके दूर करनेका संकल्प किया। वैशाखकी पूर्णिमा थी। लुम्बिनीवन हरे पत्तों और फूलोंसे सजाया हुआ था। उद्यान पुष्करणीका निर्मल नील जल स्वच्छ था, "पुष्करणी आज भी वहाँ मौजूद है।" उसके उत्तरमें उस जगह शालवृक्षकी शाखा पकड़े मायादेवीकी एक मूर्त्ति स्थापित है, जहाँ सिद्धार्थ कुमारने जन्म लिया था। पासमें एक कूआँ भी है, जिसके बारेमें बतलाया जाता है, कि नवजात शिशुको इसीके जलसे स्नान कराया गया था। आज हमने भी इस पवित्र कूप और पुनीत पुष्करणीके जलका आचमन करके अपनेको कृतकृत्य समझा।

कपिलवस्तु जनशून्य घोर वनमें परिणत हो गया है। उसे और लुम्बिनीकी यात्रा करते समय बड़ी सावधानीकी आवश्यकता होती है, क्योंकि इन घने जंगलोंमें हाथी और सिंह बहुतायतसे रहते हैं।

स्थविर सुनन्द की आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह चली थी, जब वह इन पुनीत स्थानों का दर्शन कर रहे थे। उन्होंने लुम्बिनीमें भगवान्‌को उस अन्तिम वचनको दोहराया, जिसे कि मृत्यु-शय्यापर पड़े-पड़े उन्होंने कहा था—

"आनन्द! श्रद्धालु कुल-पुत्रके लिये यह चार स्थान दर्शनीय, संवेजनीय (वैराग्यप्रद) हैं। कौन से चार? (१) यहाँ तथागत उत्पन्न हुये (लुम्बिनी) यह स्थान श्रद्धालु०। (२) यहाँ तथागतने अनुत्तर सम्यक्-संबोधिको प्राप्त किया (बुद्धगया) ०। (३) यहाँ धर्मचक्र प्रवर्तित किया (सारनाथ) ० (४)यहाँ तथागत अनुपादि-शेष निर्वाण-धातुको प्राप्त हुये (कुसीनारा) ०।० यह चार स्थान दर्शनीय० हैं। आनन्द! श्रद्धालु भिक्षु-भिक्षुणियाँ उपासक-उपासिकायें यही सोचते भविष्यमें आवेंगी, यहाँ तथागत उत्पन्न हुये, ० यहाँ तथागत ० निर्वाण ० को प्राप्त हुये।..."

लुम्बिनीसे हम अधिकतर घने जङ्गलोंके भीतरसे होते कितने ही दिनों तक दक्षिणकी ओर चले। इन्हीं जङ्गलोंमें रामग्रामका स्तूप मिला, जहाँ कि तथागतकी अस्थि-धातुके अष्टमांशको लाकर वहाँके लोगोंने एक स्तूप बनवाया था। अशोक राजाने बाकी सातों जगहोंके स्तूपोंकी अस्थियोंके अधिकांश भागको इकट्ठा कर अपने विशाल राज्यके बहुत से नगरों और प्रसिद्ध स्थानोंमें स्तूप बनवा उसे उनमें रक्खा, लेकिन परम्परा बतलाती है, कि रामग्रामके स्तूपको उन्होंने नहीं छूआ। कभी जहाँ रामग्रामवालोंके गणराज्यकी राजधानी थी, अब वहाँ घोर जङ्गल है।

कुसीनगर (कसया)—लुम्बिनी से १५ दिन चलनेके बाद हम तथागतके महापरिनिर्वाण-स्थान कुशीनगरमें पहुँचे। मैंने भी कई निकायोंके महापरिनिर्वाणसूत्रोंको पढ़ा था और बुद्धिल तो और भी जानकारी रखते

थे । स्थविर सुनन्दने अपने निकायके महापरिनिर्वाण सूत्रका यहाँपर हमारे लिये पारायण किया । तथागतने जहाँ अपनी जीवन-लीला समाप्त की, उस पुण्यभूमिको देखनेके समय हमारे हृदयमें यदि बहुत खेद और उद्वेग हो, तो इसमें सन्देह क्या ? कुसीनगर तब अच्छा खासा नगर था, जहाँ मल्लोंका गणराज्य था । बुद्धके अन्तिम संस्कारको करनेका सौभाग्य उन्हींको प्राप्त हुआ । उन्हींके नगरोपान्तमें दो शाल वृक्षोंके बीचमें सिंहशय्या लगाकर तथागतका परिनिर्वाण हुआ । यहीं उन्होंने सुभद्रको अपना अन्तिम शिष्य बनाया था । कुसीनगर अब ध्वस्तप्राय है । कुछ थोड़े से घर वहाँ मौजूद हैं । हाँ, युग्मशालोंके स्थानमें बने परिनिर्वाण-स्तूपके पास भिन्न-भिन्न निकायोंके कितने ही छोटे-छोटे विहार अवश्य हैं, जिनमें उनके भिक्षु रहा करते हैं। जिस स्थान (मुकुट बंधन) पर तथागतकी दाह-क्रिया हुई थी, उस स्थानका भी हमने दर्शन किया ।

कुसीनगरसे हम वैशालीके लिये रवाना हुये, जो १२ योजनपर बतलाई जाती थी । हमारा रास्ता दक्षिण-पूर्वकी ओर था । दो दिन चलनेके बाद मध्यमंडलकी पाँचवीं महानदी मही (गंडक) हमने पार की । भूमि और ग्राम यहाँके उसी तरहके थे, जैसे कि लुम्बिनीसे हम देखते आये थे । खेतोंमें धानके अधिक थे, जिनमें सुनहरी पक्वशाली उस वक्त हवाके झोकोंसे लहरा रही थी । वर्षा अधिक होनेपर बाढ़ जब भीषण रूप लेती, तो सारी फसल बरबाद हो जाती, और यहाँ दुर्भिक्ष हो जाता है। लेकिन इस साल सुभिक्ष था । किसानोंके चेहरे प्रसन्न दीखते थे । हम पाँचों भिक्षु अब भी साथ-साथ चल रहे थे । स्थविर सुनन्दको इस भूमिको देखकर बार-बार अपने सिंहल-द्वीपके ग्राम याद आते थे । भाषामें काफी अन्तर था, तो भी मेरे उद्यानकी भाषाकी अपेक्षा मगध-कोसलके लोग उनकी भाषाको अच्छी तरह समझ लेते थे । शाक्योंकी भूमिमें प्रवेश करते ही प्राचीन गणराज्योंकी बातें सुननेके बाद मेरे मनमें विचारों का ताँता लग गया था । इसे मेरे हृदयकी कमजोरी समझ लीजिये, कि मैं किसीको दुखी देखकर कातर हुये बिना नहीं रहता, दुखीका

आर्तनाद मेरे हृदयको पिघला देता है, और वह जोर से रोकने पर भी आँखोंके रास्ते आँसू बनकर निकल पड़ता है। अवस्था बीतनेके साथ इसमें और भी बृद्धि होती गई। अपने पास जो कुछ होता, मैं भरसक उससे दुखी-दरिद्रोंकी सेवा करना चाहता, लेकिन एक आदमी और सो भी अल्पसाधन कहाँ तक उसे कर सकता है। तथागतने दुःख, उसके कारण, उसके विनाश और विनाशके रास्तेका निर्देश किया। समझदार व्यक्तिके लिये उससे लाभ भी हुआ, और अब भी हो रहा है, किन्तु संसारमें तो, अपार दुःख-समुद्र उमड़ रहा है, उसमें से एक-एक बूँद उलीचनेसे क्या बनता है? मैं समझता हूँ, भगवान् को भी केवल बिन्दु-बिन्दु उलीचनेका ख्याल नहीं रहा होगा। वह भी चाहते होंगे, कि संसारमें दुःखकी मात्रा कम हो जाये, और अधिकांश लोग सुखी रहें। इसीलिये तो उन्होंने बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय अपने शासनका प्रसार किया, अपने श्रावकों (शिष्यों) के सामने भी वही लक्ष्य रक्खा।

राजाके राज्य में बहुत देखता-सुनता आया था, लेकिन गणराज्य, एक जन नहीं बहुजनका राज्य अब सुननेको मिला था। हम उस भूमिसे चल रहे थे, जहाँ आजसे हजार वर्ष पहले गणका राज्य था। शासक-राजा अपने और अपने परिवारके सुखकी सबसे अधिक पर्वाह करता है, उसके बाद वह दूसरोंके सुख-दुःखकी ओर निगाह डालता है। मुझे विश्वास है, गणका राज्य बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय रहा होगा। कोसल और मगधकी सीमापर उस समय अनेक गणराज्य थे। बुद्धिलने बतलाया, कि इनमें नौ मल्लोंके और नौ लिच्छवियोंके थे। मल्लों और लिच्छवियोंकी सीमा यही मही नदी थी, जिसे हमने अभी-अभी पार किया था। वैशालीका राज्य शक्ति और समृद्धिमें शिरोमणि था। सारा शरीर घुमा कर नागावलोकन करके तथागतने वैशालीको अन्तिम बार देखते हुये आनन्दसे कहा था:

"आनन्द! रमणीय है वैशाली, रमणीय है उसका उदयन-चैत्य, गोतमक-चैत्य, सप्ताम्रक-चैत्य, बहुपुत्रके-चैत्य, सारंदद-चैत्य।" ये चारो चैत्य वैशाली

नगरद्वारके बाहर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंमें देवस्थान तथा वनपुष्करिणीसहित रमणीय भूभाग थे। लिच्छवि भगवान्‌के दर्शनके लिये वैशाली नगरीसे कुछ दूर दक्षिणमें अवस्थित अम्बपाली-वनमें पहुँचे। उन्हें देखकर बुद्धने कहा था,—"देखो भिक्षुओ! लिच्छवियों-की परिषद्‌को, इसे त्रायस्त्रिंश देवताओं की परिषद् समझो।"

वैशाली रमणीय कभी रही होगी, किन्तु आज तो वह ढंढ-मंड है, उसका वह संस्थागार पता लगानेसे भी मालूम नहीं होता, जिसमें बैठकर लिच्छवि अपना राजकाज करते थे। वृजियों (वैशाली गणराज्यवालों) के न्यायकी तथागत प्रशंसा करते नहीं थकते थे। अपराधीका विनिश्चय-महामात्य (न्यायाधीश) विचार करता, अपराधी न होनेपर छोड़ देता, अप-राधी होने पर अपने दंड न दे व्यवहारिक (उच्च-न्यायाधीश) के पास भेज देता। वह भी अपराधी न सिद्ध होनेपर छोड़ देता और अपराधी होनेपर उसे सूत्रधारके हाथमें देता। वह अष्टकुलिकोंको, वह सेनापतिको, वह उपराज (उपगणपति) को और वह गणपतिको देता। गणपति भी अपराधका प्रमाण न पाकर छोड़ देता और अपराधी होनेपर अपने मनसे नहीं दंड देता, बल्कि प्रवेणी पुस्तक (दंड-विधान) को देखकर उसके अनुसार दंड देता। न्यायके लिए कितनी छान-बीन वैशालीवाले करते थे? तथागत क्यों न उन लोगोंकी सराहना करते? बुद्धिलने बतलाया: हमारे भिक्षु-संघ का संगठन और उसके क्रियाकलाप वैशालीके गणराज्यके अनुसार ही तथागत ने निश्चित किए थे। वैशालीके उत्तरमें कूटागारशाला है, जहाँ तथागत अनेक बार रहा करते थे और अपने जीवनकी अन्तिम वर्षाको उन्होंने यहीं बिताई। वहीं अशोकने एक शिलास्तम्भ स्थापित किया। अब भी वह महावन है, जो कि तथागतके समयमें था। वैशालीकी चारों दिशाओंमें उद्यान-पुष्करणी सहित चार प्रसिद्ध चैत्य (देवस्थान) पूर्वमें उदयन-चैत्य, दक्षिणमें गौतमक-चैत्य, पश्चिममें सप्ताम्रक-चैत्य और उत्तरमें बहुपुत्रक-चैत्य हैं। अब भी वह हैं, लेकिन अच्छी अवस्थामें नहीं हैं। इनके अतिरिक्त और

भी कोरमट्टक, चापाल आदि चैत्य थे। पश्चिमद्वारके पास चापाल-चैत्यमें ही तथागतने आनन्दसे कहा था: आजसे तीन महीने बाद मेरे जीवनकी समाप्ति होगी। प्रधान चैत्योंके स्थानोंमें अब पाशुपतोंके मन्दिर खड़े हैं। बुद्धके शासनमें पहिले स्तूपों, पदचिन्हों, पीठों या बोधिवृक्षको तथागतके जीवनका प्रतीक मानकर पूजा जाता था, और अब उनका स्थान बुद्ध-प्रतिमाओंने ले लिया है। अब तो बल्कि भिन्न-भिन्न प्रकार की बोधिसत्व-प्रतिमायें भी बढ़ गई हैं। ब्राह्मण कभी यज्ञ और हवन द्वारा पूजा किया करते थे, अब वह पशुपति (शिव) और दूसरे देवताओंकी प्रतिमाओंकी पूजामें सबसे आगे-आगे हैं। वैशालीकी चारों दिशाओंके पशुपति-देवालयोंमें पशुपति और गौरीकी मूर्त्तियोंका स्थान मुखलिंगोंने लिया है। लिंग (शिश्न) की पूजा, सचमुच आश्चर्य की बात मालूम होती है। आजकल लिंग-पूजक पाशुपतों की यहाँ प्रधानता देखी जाती है। इन लिंगोंमें किसी-किसीमें चारों दिशाओं, तीन दिशाओं या एक दिशामें घोर, शान्त आदि मुद्रावाले महेश्वर के मुख बने रहते हैं, और कुछ तो निरे लिंग होते हैं, जिनकी एक तरफ तीन रेखाओं द्वारा शिश्नके रूपको और स्पष्ट कर दिया जाता है।

वैशाली रमणीय थी, और उससे भी ज्यादा बात यह थी कि वहाँके बहुजन सुखी थे। वह वीर थे, लेकिन आपसकी फूटके कारण मगधराज अजातशत्रुके शिकार बने। यह न भी होता, तो भी अनेक छोटे-छोटे राजाओंको निगलकर विशालकाय बने महाराज्योंके सामने छोटासा गणराज्य कितने दिनों तक टिक सकता था। राजाओंमें एक दूसरेको निगल कर अपनी शक्ति और सीमा बढ़ानेकी परम्परा है, गण केवल अपने वंशके लोगोंकी भूमि तक ही अपनेको सीमित रखना चाहते थे, इसलिये वह अपनी शक्ति और सीमा बढ़ा नहीं सकते थे। अजातशत्रुका स्थान लेनेवाले चन्द्रगुप्त और अशोक कपिशा से ले सारे जम्बू-द्वीपके एकच्छत्र राजा थे, इतने बड़े जनसमूहको वह अपने शत्रुके विरुद्ध भेज सकते थे। वैशाली गणराज्य था, जहाँ गणराज्यके सभी

तरुण और प्रौढ़ जन हथियार उठाकर अपने शत्रुसे वीरतापूर्वक लड़ सकते थे। लेकिन, उनकी संख्या कुछ हजार तक ही होती और मगधका राजा उनके खिलाफ लाखों की सेना भेज सकता था। आपसमें फूट न होनेपर हो सकता है, वैशाली गण अजातशत्रु और उसके वंशके शासन तक अपनेको स्वतंत्र रख सकता, लेकिन नन्द-वंशका मुकाबिला वह कैसे कर सकता था? बुद्धिलके इन तर्कों को सुनकर मुझे बड़ी निराशा हुई। मैं समझता था, यदि राजाके शासन-की जगह गणका शासन स्थापित कर दिया जाये, तो फिर बहुजन सुखी हो सकें। लेकिन, मैं यह तो जानता ही था, कि राज्य तलवारकी धारपर स्थापित होता है। जिधर तलवारकी प्रचंड शक्ति हो, उधर ही जयलक्ष्मी अपना मुँह फेरती है। एक पुरानी सुन्दर स्मृति जैसे आदमीके चित्तको प्रसन्न करती है, वही बात गणराज्योंकी रानी वैशाली मेरे लिये करती थी। तो क्या बहुजनका भाग्य सदाके लिये अन्धकाराछन्न है? उसे कोई आशा नहीं? इसका उत्तर कौन दे सकता है? मेरा मन तो यही चाहता है, कि ऐसा न हो। मानवमात्र, प्राणिमात्र सुखी हो जायें।

मैंने वैशालीके पुराने लिच्छवियोंके वंशजोंको देखा। अब भी उनमें निर्भीकता है, किन्तु अब वह साधारण किसान या मौखरियोंके सैनिक होनेकी ही आशा रख सकते हैं। जिस तरह कोसलोंके अत्याचारसे भागकर मल्ल-शाक्य उत्तरमें हिमवान्के पहाड़ोंमें जा बसे, वैसे ही कितने लिच्छवियोंने भी नैपालमें जा अपना राज्य स्थापित किया। यह सुनकर जब मैं प्रसन्नता प्रकट करने लगा, तो बुद्धिलने कहा—उनका राज्य वैशालीके गणराज्य जैसा नहीं है, बल्कि वह भी गुप्तों और मौखरियों जैसा एकच्छत्र निरंकुश राज्य है।

वैशालीसे तीन दिन चलनेके बाद हम गंगाके तट पर पहुँचे। यहाँ पाँच नदियोंका संगम बतलाया जाता है, लेकिन उनमें दो बहुत छोटी-छोटी हैं। मही, *गंगा* और *सोण* *तीन ही वस्तुतः बड़ी नदियाँ हैं।* गंगाके इस पार वृजियोंकी भूमि और उस पार मगध है। नावसे गंगा पार होते समय हमें वह कथा याद आई: आनन्द इसी धारामें मृत्युको प्राप्त हुये। उनके शरीरके

दावेदार मगध और वृजी दोनों देशोंके लोग थे। गंगाके दाहिने तट पर ही दूर तक पाटलिपुत्र नगरी बसी हुई है। तथागतके अन्तिम समयमें यह अभी पाटलिग्राम था, नगर बनानेका अभी आरम्भ ही हुआ था। फिर वह जम्बू-द्वीप का एक महान् नगर बन गया, जब कि सारे जम्बू-द्वीपके अधिपति चन्द्रगुप्त और अशोक यहाँ से शासन करते थे। गुप्त नृपतियोंकी भी पाटलिपुत्र ही राजधानी रही। अब वह राजलक्ष्मी कई टुकड़ोंमें बँट गई है। उसीके अनुसार वैभव भी पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज और दूसरी राजधानियोंमें बँट गया है। अब भी मौर्योंके बनवाये कुछ और गुप्तोंके तो बहुत से प्रासाद मौजूद हैं। मौर्य प्रासादोंके विशाल स्तम्भों और दूसरी चीजोंको देखकर सचमुच मन विश्वास करने लगता है, कि यह मनुष्योंके हाथोंके नहीं बने हो सकते, इन्हें जरूर असुरोंने बनाया होगा।

मगधकी भूमि परम पावन है। यहीं वज्रासन (बोधगया) में सिद्धार्थने बुद्धत्व प्राप्त किया। यहीं राजगृह है, जहाँपर तथागतने कितनी ही बार निवास करते अनेक धर्मोपदेश दिये। यहीं तथागतकी चरणधूलिसे पवित्रित गृध्रकूट, नालन्दा आदि अनेक स्थान हैं। हमने यहाँकी यात्रा कर लेना पर्याप्त नहीं समझा, बल्कि नालन्दामें अच्छे-अच्छे विद्वानोंको देखकर वहाँ रह कुछ पढ़नेका निश्चय किया। चन्द्रगोमी, चन्द्रकीर्त्ति जैसे महापण्डितोंके चरणोंमें बैठकर विद्या पढ़नेका ऐसा सौभाग्य कहाँ मिलता ?

अध्याय ८

सिंहलमें (५४७ ई०)

मैं और बुद्धिल दोनों ही जन्मजात यायावर थे, हमें बराबर घूमते रहनेमें ही आनन्द आता था। उद्यानमें भिक्षु बनकर बिहारमें कई वर्ष एक जगह रहना तो इस कारण हुआ था, कि मैंने अभी विपुला पृथिवीका आकर्षण नहीं देखा था। घुमक्कड़ीका चस्का लग जानेपर भी नालन्दामें तीन वर्ष बितानेके लिए मैं कैसे तैयार हो गया, यह आश्चर्यकी बात थी। लेकिन, विद्याका आकर्षण मेरे लिये घुमक्कड़ीसे कम नहीं था, और वही बात बुद्धिलमें थी। इसीलिये नालन्दा में विद्याके अथाह समुद्रको लहरें मारते देखकर हम अपने पैरोंको रोकनेमें समर्थ हुये। बीच-बीचमें पैर उखड़ना चाहते थे, लेकिन किसी तरह वह फिर जम जाते। हमने यहाँ असंगके योगाचार दर्शनका, दिग्नाग और वसुबन्धुके प्रमाण (तर्क) शास्त्रका अध्ययन किया। इन तीन वर्षोंमें मुझे जितना पढ़नेका अवसर मिला, उतना जीवनमें कभी नहीं मिला। मैं जानता था, कि ऐसा अवसर और ऐसा स्थान फिर दुबारा नहीं मिलेगा।

स्थविर सुनन्द के साथ हम राजगृह, नालन्दा और वज्रासन (बोधगया) तक रहे। उसके बाद वह अपने देश लौट गये। उनका बहुत आग्रह था, कि हम सिंहल अवश्य आयें। उनके आग्रहसे भी अधिक महासमुद्रके बीचमें बसे सिंहल द्वीपको देखनेकी हमारी अपनी निजी इच्छा थी। नालन्दा छोड़ते समय हमने सिंहल द्वीप जानेका निश्चय किया। सैकड़ों योजनोंकी यात्रा थी। इसमें शक नहीं, जलपथसे जानेमें वह अधिक सुखकर और जल्दी पूरी हो जाती, लेकिन हमने जल और स्थल उभयपथको ग्रहण करना पसन्द किया। ताम्र-लिप्ति पूर्व समुद्रपर विशाल तीर्थ (बन्दरगाह) है। वहाँ पहुँचनेपर हमने नाना देशोंके सार्थवाहोंकी नौकायें नाना देशोंके मनुष्य देखे। कितने ही महाचीनके

व्यापारी भी वहाँ थे। यवद्वीप, सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), कम्बोज ही नहीं, पारसीक, यवन (ग्रीस), रोम आदि पश्चिमी देशोंके भी नाना रूप-रंगोंके आदमी वहाँ मिले। यात्राका जिसे चस्का लग गया हो, उसे वह जितनी ही कठिन और दूरकी हो, उतनी ही अच्छी मालूम होती है। हमारे लिये ताम्रलिप्तिमें पहुँचकर गंतव्य स्थानका निश्चय करना मुश्किल था। यदि हमने ताम्रपर्णी (सिंहल) जानेका पहलेसे ही निश्चय नहीं कर लिया होता, तो क्या जाने हम इसी समय यवद्वीप होते चीन पहुँच जाते। हम धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थल-मार्गसे पहुँच सकते थे। जहाँ तक मानव दस्युओंका सम्बन्ध है, उनका अभाव नदियों या समुद्रोंमें भी नहीं है। लेकिन, स्थलपथके बराबर जलपथ भयानक नहीं होता, क्योंकि यहाँ मानव-दस्युओंके अतिरिक्त सिंह, व्याघ्र, हाथी जैसे भीषण जन्तुओंसे भरे घोर जंगलोंमें पैरोंसे धरती नापनी पड़ती है। ताम्रलिप्तिसे कुछ पोत आंध्रदेशके धान्यकटक नगरको जा रहे थे, जिनमें श्रीपर्वतके तीर्थ-यात्री कुछ भिक्षु तथा उपासक-उपासिकायें भी थे। हमने उसीमें जानेका निश्चय किया। कलिंगदेश न देखनेका अफसोस हमें अवश्य हुआ।

वर्षा हमने नालन्दामें बिताई थी। ताम्रलिप्ति पहुँचते-पहुँचते जाड़ा शुरू हो गया था। अपनी जन्मभूमिमें यह तो मैंने देख लिया था, कि पर्वतोंमें जितना ही ऊपरकी ओर जायें, उतनी ही सर्दी बढ़ती जाती है और जितना ही नीचेकी ओर जायें, उतनी ही गरमी। लेकिन, पहलेपहल इसी यात्रामें मुझे मालूम हुआ, कि जितना ही दक्षिण जायें, उतनी ही गर्मी बढ़ती है, और जितना ही उत्तरको जायें, उतनी ही सर्दी। आन्ध्रदेशमें हम जाड़ेमें पहुँचे थे, लेकिन वहाँ सर्दी नाम मात्रको थी। ताम्रपर्णीके लोग तो, जाड़ा क्या चीज है, इसे जानते ही नहीं। तुरुष्कों और अवारोंकी भूमिके उत्तरी सीमापर पहुँच कर मैंने देखा, कि वहाँ गर्मियोंमें भी उतनी सर्दी पड़ती है, जितनी नालन्दामें जाड़ोंमें नहीं पड़ती। धान्यकटक दक्षिणापथकी एक महानगरी है या थी। राजधानीके होने और हटनेका नगरोंपर क्या प्रभाव पड़ता है, यह मैं मध्यमण्डलके अनेक महानगरोंको देखकर जान चुका था। धान्यकटकमें जब इक्ष्वाकु-वंश शासन

करता था, तो वह बड़ी समृद्ध नगरी थी। समुद्रसे कृष्णा नदीमें होकर यहाँ तक बड़े-बड़े पोत पहुँचते थे। राजाकी राजधानीके साथ-साथ वह सेठोंकी भी राजधानी थी। एक विशाल राज्यकी राजधानी अब वह नहीं रही। उसका वैभव कांचीने छीन लिया है, जहाँ पल्लव-वंश शासन कर रहा है। जिस तरह मौखरी किसी समय गुप्तोंके सामन्त थे, और पीछे उनकी राजलक्ष्मीको लूटनेमें समर्थ हुये। फिर कान्यकुब्जने पाटलिपुत्रको पीछे छोड़ दिया, वही बात इक्ष्वाकुओंके सामन्त पल्लवोंने की राजधानी काँचीने धान्यकटकके साथ की। पुराना वैभव अब भी धान्यकटक तथा श्रीपर्वतके महान् चैत्योंके देखनेसे प्रकट होता है। श्वेत पाषाणमें कितने सुन्दर मानव-पशु-पक्षी-वृक्ष-लता-पुष्प-वास्तु बने हुये हैं। मैं न चित्रकार था, न मूर्तिकार, लेकिन भिन्न-भिन्न जगहोंमें घूमते मैंने कपिशा और गन्धारकी कलाको देखा था, मथुरा-कौशाम्बी-श्रावस्ती-पाटलिपुत्रमें उसका अवलोकन किया था। यहाँ की उन्हीं चीजोंको देखकर मैं समझ सकता था, कि कलाकारोंने यहाँ कितना कौशल दिखलाया है? मालूम होता था, उनकी छेनियाँ पत्थरपर नहीं, मक्खनपर चल रही हैं, तभी तो वह इतने कोमल और गम्भीर भावोंको दिखलानेमें सफल हुये। मूर्तिकलासे कम उन्होंने चित्रकलामें अपनी दक्षताका परिचय नहीं दिया है।

धान्यकटकसे हम पहाड़ोंके भीतर श्रीपर्वत गये। कुछ दूर तक कृष्णामें नावके द्वारा जाकर फिर घोर जङ्गलमेंसे श्रीपर्वत पहुँचे। आर्य नागार्जुन यहाँ बहुत समय तक रहे, इसलिये भी यह पुनीत स्थान था, किन्तु जान पड़ता है उनसे पहलेसे भी इस रमणीय पर्वतस्थलीको भिक्षुओंने पसन्द किया था। उत्तरमें भी बहुतसे प्राचीन संघारामों और विहारोंको ध्वस्तावस्थामें हमने देखा था। इधर तो और भी उनकी बहुतायत थी। इसमें शक नहीं, अपनी-अपनी कीर्तिको अमर करनेकी लालसासे नये-नये विहारोंका बनाना भी इसका एक कारण था। आखिर जीवितोंसे मरोंकी संख्या अधिक होती है। सभी मरोंकी कीर्त्तियोंको अच्छी अवस्थामें रखना जीवितोंके लिये सम्भव नहीं रह जाता। यह भी इन संघारामोंके निर्जन होनेका कारण है। एक कारण और भी

है। पहलेकी अपेक्षा सामन्तों और श्रेष्ठियोंपर अब ब्राह्मणोंका प्रभाव अधिक है। इसका कारण मुझे समझमें नहीं आता था, कि पाशुपत धर्मकी ओर श्रेष्ठी-सामन्त क्यों इतने झुके हैं। ब्राह्मणोंके लिये तो वह इसलिये हो सकता था, कि पुरोहित होनेके कारण उनकी आमदनी का यह एक बड़ा साधन था। हम दोनों कितनी ही बार इसपर मिलकर विचार करते। बुद्धिलका कहना था : श्रेष्ठी सामन्त ऊँच-नीच जाति-व्यवस्थाके पोषक हैं। यवन, शक जब इस देशमें आकर अपना राज्य स्थापित करनेमें सफल हुये। उस समय इन्हें म्लेच्छ कहा जाता था। तथागत इस तरहकी जाति-व्यवस्थाको नहीं मानते थे। वह आर्य या म्लेच्छ, ब्राह्मण या शूद्र सबको समान स्वीकार करते थे। उस समय नवागत यवनों और शकोंको तथागतके शासनको स्वीकार करनेमें अधिक लाभ था, क्योंकि ब्राह्मण उन्हें म्लेच्छ और नीच ही बनाये रखना चाहते थे। ब्राह्मणोंने पीछे अपनी इस भूलको समझ लिया, और उन्होंने सबको क्षत्रिय बना दिया। तथागतका शासन नीच-ऊँचके भेद तो मिटा सकता है, और ब्राह्मण इसको कायम रखते नीच समझी जानेवाली जातियोंको—विशेष-कर विदेशियों और धन-शक्ति-सम्पन्नों को—ऊँची जातिका बना सकते थे। इसीका परिणाम है, जो सामन्त और श्रेष्ठी ब्राह्मणों के चरणों में दौड़े-दौड़े जा रहे हैं।

धान्यकटक लौटकर समुद्रके रास्ते हम फिर दक्षिणकी ओर बढ़े और नदी के भीतरसे कुछ दूर जाकर कांचीपुरीमें पहुँचे। कांचीपुरी पल्लव-राजाकी राज-धानी धान्यकटकके सौभाग्यको लूटनेमें आगे रही। दक्षिणापथमें पल्लव-नृपति सबसे शक्तिशाली राजा हैं। कांचीपुरी केवल राजधानी होनेके कारण ही इतनी समृद्ध नहीं है, बल्कि बड़े-बड़े स्थल और जल-सार्थवाह यहाँ रहते हैं, जिनका व्यापार द्वीप-द्वीपान्तरोंमें होता है। राजाकी पाशुपत-धर्मपर अत्यन्त आस्था है, इसलिये पाशुपत देवालयों और मठोंके बनानेमें यहाँके हरेक राजाने होड़ लगाई है। बौद्ध और जैन भी यहाँपर हैं। उनके संघाराम और उपाश्रय भी हैं, किन्तु वह उतने श्रीसम्पन्न नहीं हैं। हम समझते थे, कि दिग्नागका जन्म-

भूमिमें पहुँचकर वहाँ अच्छे-अच्छे प्रमाणशास्त्रियोंसे मिलेंगे, किन्तु हमें निराश होना पड़ा। मालूम हुआ कावेरीपत्तन में अच्छे-अच्छे बौद्ध आचार्य रहते हैं। कांचीसे फिर हम समुद्रके रास्ते कावेरीपत्तन गये। समुद्रके तट पर यह विशाल पत्तन है, जो ताम्रलितिकी तरह ही द्वीप-द्वीपान्तरों के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ हमें कुछ अच्छे बिहार मिले, जिनमें **महाविहार** निकायके भिक्षु रहते थे। उनका ध्यान अपने त्रिपिटक और उनकी अट्ठकथाओंके पढ़नेकी ओर अधिक है। सभी बौद्ध-भिक्षुओंसे वह विनय-नियमोंके पालन करनेमें भी अधिक तत्पर होते हैं, और इस बातकी कोशिश करते हैं, कि पुरानी परम्पराओं में मिलाया-जुलाया न जाये। मुझे उनके थोड़े ही से ग्रंथोंके पढ़नेका अवसर मिला, लेकिन बुद्धिल उनमें निष्णात थे। उनका कहना था : अमिश्रित परम्परा कोई हो ही नहीं सकती। सभी निकायोंकी तरह इनके पिटक भी पहले कंठस्थ चले आये थे। जब पीढ़ियों तक कंठस्थ करनेकी परंपरा चल रही हो, तो जाने-अनजाने कुछ पुरानी बातोंका छोड़ देना, कुछ नई बातोंको ले लेना साधारण सी बात है। विशेषकर लाभ और लोभके वशमें पड़कर ऐसा करना कोई अनहोनी बात नहीं थी।

दक्षिणापथकी यात्रासे मुझे निश्चय हो गया, कि प्रमाणशास्त्रकी भूमि उत्तर होने जा रही है, यद्यपि उसका आरम्भ गन्धार (पेशावर) के वसुबन्धुने, और संवर्धन इसी द्रमिल भूमिके दिग्नागने किया। सिंहलके विनयनिष्ठ भिक्षुओंको हमने पहले भी देखा था और उनके प्रति हमारे हृदयमें सम्मान भी था, किन्तु हमारी सिंहल-यात्रा ज्ञान-पिपासा नहीं, बल्कि यायावरी इच्छाकी तृप्तिके लिये थी।

कावेरीपत्तनसे हम पोतमें चढ़कर सिंहलके द्वीपके तट पर जम्बुकोलपत्तनमें जा उतरे और वहाँसे धीरे-धीरे चलते एक सप्ताहमें सिंहलकी राजधानी अनुराधपुर पहुँच गये। राजधानीमें तीन बड़े-बड़े और कितने ही छोटे-छोटे संघाराम हैं। हम अभयगिरिमें जाकर ठहरे। **महाविहार** यहाँ का सबसे पुराना और सबसे पूज्य विहार है, जिसे अशोक-पुत्र स्थविर महेन्द्रने स्थापित किया

था। हमारे यहाँके हिसाबसे यह सबसे कठिन जाड़ोंके दिन थे, लेकिन अनुराध-पुरमें जाड़ेका कहीं पता नहीं था। मच्छर-मक्खीके लिये चाहे चादर ओढ़ ली जाये, नहीं तो शरीर ढाँकनेकी भी जरूरत नहीं थी। सिंहलका राजा कुमार धातुसेन महाविहारवालोंका भक्त था, लेकिन अभयगिरिको भी वह श्रद्धासे देखता था। यहाँके विशाल स्तूप अपने आकार-प्रकारमें ही छोटी-मोटी पहाड़ी जैसे नहीं मालूम होते, बल्कि उनके सजानेमें भी बड़ी साखर्चीसे काम लिया गया था। यवन, मिस्र, यवद्वीप आदि देशोंके लोग राजधानीमें देखे जा सकते थे। इनमेंसे कितनोंके तो वहाँ अपने-अपने मुहल्ले बसे हुये थे। गर्मियाँ आईं। हमने मध्यमण्डलकी कई गर्मियाँ बर्दाश्त की थीं। यहाँकी गर्मी उतनी कठोर नहीं थी, लेकिन, तो भी बर्फानी प्रदेशके रहनेवाले मेरे जैसे आदमी उसे प्रिय नहीं समझ सकते थे।

यवद्वीप जानेकी आकांक्षा जब-तब बलवती हो जाती थी, तो भी हम दोनोंका निश्चय तुषारदेश होते उत्तरकी भूमि देखनेका था। गर्मियोंका अन्तिम महीना बीत रहा था, वर्षावास करके हम सिंहलको छोड़नेवाले थे। मालूम हुआ, राजधानीके दक्षिणवाले पहाड़ शीतल हैं। वहाँ बस्तियाँ अधिक नहीं हैं, किन्तु जहाँ-तहाँ कुछ छोटे-छोटे विहार हैं। ऐसे उष्ण देश में इस तरह की शीतल भूमि देखनेकी आकांक्षा हमारे मनमें हो आई, और हम उधर चल पड़े। दो दिनकी यात्राके बाद हम पहाड़में चलने लगे और फिर रास्ता घोर जंगलसे था। कई बार दो-दो तीन-तीन योजनों तक कोई गाँव न मिलता। हमारे साथ यात्रियोंका एक अच्छा खासा सार्थ था। राजधानीमें ही हम सुन चुके थे, कि इन पहाड़ोंमें वन्य व्याधा (वेद्दा) रहते हैं, जो बड़े खूनखार होते हैं, इसीलिये भारी संख्यामें लोगोंको सजग होकर जाना पड़ता है। रास्तेमें जो बस्तियाँ हमें मिली थीं, वह बड़ी सुखी मालूम होती थीं। सुनते-सुनते हमारा विश्वास व्याधोंकी रोमांचक कहानियों पर नहीं रह गया, और न वह कभी हमें दिखाई पड़े। जितनी ही ऊपरकी ओर हम बढ़ते जा रहे थे, उतनी ही गर्मी दूर भागती जाती थी। दस दिनोंकी यात्राके बाद हम पहाड़ोंके बीचमें एक विशाल सरोवर-

के किनारे पहुँचे, जिसमेंसे एक नदी निकलती थी। यहाँ एक छोटा सा निगम था, जिसमें जंगलकी वस्तुओंके व्यापारी और उनसे अधिक किसान रहते थे। इस सारी यात्रामें मैंने कहीं पर भी बस्तियोंसे दूर एकान्त किसी विहार को नहीं देखा था, और न अकेला-दुकेला कोई वनवासी भिक्षु मिला था। इससे लोगोंकी बातपर विश्वास करनेका मन तो करता था। व्याघ्रोंका हर वक्त डर रहता है, इसलिये भिक्षु यहाँ अकेले नहीं रह सकते। सरोवरके पास एक छोटा सा किन्तु सुन्दर संघाराम था। उसके चारों ओरके पहाड़ वृक्षों और लताओंसे ढँके थे, जिनकी डालियाँ सरोवरकी ओर लटकी हुई थीं। इन जंगलों में हाथी भी रहते हैं, पर व्याघ्र-सिंह जैसे जन्तु नहीं पाये जाते। समुद्रके बीचमें ऐसे मनोरम स्थानको देखकर मेरा मन बहुत संतुष्ट हुआ। यद्यपि यहाँ गगन-चुम्बी देवदारके वृक्ष नहीं थे, न हिमसे ढँके पर्वतशिखर, तो भी जो दृश्य हमारे सामने था, वह बड़ा आकर्षक था। बुद्धिल भी मेरी ही तरह इस तरह की सौंदर्य-भूमिको पसन्द करते थे। लोगोंके सावधान करनेपर भी हम न हाथियों की पर्वाह करते, न व्याघोंका डर मानते, और कभी पूर्वाह्नमें और कभी अपराह्नमें किसी स्थानीय भिक्षुको लेकर दूर-दूर घूमने चले जाते। यहाँके भिक्षु सभी महा-विहार निकायके थे, और उनकी दृष्टिमें हमारा भिक्षुपन प्रामाणिक नहीं था। महायानके वैपुल्य पिटकको वह निरी जालसाजी मानते थे। लेकिन, बुद्धिलकी विद्या और उससे भी बढ़कर मिलनसारी ऐसी थी, जो रास्ते चलते अपने घनिष्ट मित्र पैदा कर लेती थी। महाविहारके कुछ अच्छे विद्वान् भिक्षु उनके सुपरिचित हो गये थे, जिनके द्वारा हमें यहाँके भिक्षुओंसे परिचय प्राप्त करनेका मौका मिला।

पूर्वाह्नका समय था। हमने सूर्योदयके समय ही चौबीस घड़ियों का निरा-हार व्रत तोड़ते पेट भर भोजन कर लिया था। मध्याह्नके बाद भिक्षु भोजन नहीं ग्रहण कर सकते, शायद लौटनेमें मध्याह्न बीत जाये, इसलिये हमने पाँच भिक्षुओं और साथ चलनेवाले उपासकके लिये काफी भोजन साथ ले लिया था। आज हम कुछ और दूर तक धावा बोलनेवाले थे। हमारा रास्ता दक्षिण-

पश्चिमकी ओर बहुत घने जङ्गलोंमेंसे था, जिसका पता पाना हमारे लिये केवल इसी कारण सम्भव हुआ, कि हमारे साथ चलनेवाला उपासक और एक भिक्षु भी कई बार इस भूभागमें आखेट तथा व्याधोंके साथ वस्तु-विनिमयके लिये आ चुके थे। दोपहर तक हम चलते चले गये। भोजनका समय हो गया और एक छोटी सी नदीके किनारे वृक्षोंकी शीतल छायामें हम बैठ गये। सरोवरसे यह स्थान दो योजनसे कम न रहा होगा। रास्तेमें कई जगह चढ़ाई-उतराई करनी पड़ी थी, और कहीं-कहीं वह बहुत दुर्गम भी थी, जो हमारे साथी सिंहल-भिक्षु के लिये भले ही त्रासदायक हों, पर मेरे लिये वह बात नहीं थी। उद्यानके पहाड़ी रास्ते इससे भी भयंकर होते हैं। थोड़ी देर विश्राम करके हमने भोजन किया। उस समय मेरे साथी मेरे मुखसे उद्यानभूमिकी बातें बड़े चावसे सुन रहे थे। बुद्धिल भी बीच-बीचमें अपनी बातोंसे सबको हँसा रहे थे। लेकिन उपासकके चेहरेपर वह प्रसन्नता नहीं दीख पड़ती थी, जो हम सबोंके चेहरेपर थी। उसने कई बार शंका प्रकट की, यद्यपि सरोवरसे चलनेके समय वह बहुत प्रसन्नतापूर्वक आया था। आशंकाका स्थान तो था, क्योंकि हम सिंहलके ऐसे घोर जंगलमें थे, जहाँ कोई गाँव या बस्ती नहीं, जहाँकी भूमिने कभी हल और कुदाल नहीं देखी। पहाड़में पहुँचनेपर बस्तियाँ बहुत कम थीं। उनके आस-पास खेती थी। जहाँ-तहाँ उजड़ी बस्तियाँ और खेतोंके भी चिन्ह मिले थे। परन्तु यह तो आदिकालसे अक्षुण्ण चला आता महावन था, जिसमें वन्य-जन्तुओंके पाखाने-पेशाबके चिन्ह कहीं मिलते, और कहीं बानर डालियोंपर फुदकते दीखते।

उपासकके कान हर वक्त खड़े हो जाते। जरा भी कोई खटका होता, कि वह चौकन्ना हो जाता। उसके पास कुठार और धनुष-बाण था। हम पाँचों भिक्षु हथियार नहीं रख सकते थे। रास्तेकी थकावट और भोजन करनेके बाद लेट जानेकी इच्छा हुई और लेटते ही हमको नींदने आ चपेटा। हम बहुत देर तक नहीं सोये होंगे, एकाएक चिल्लाहट सुनकर मेरी नींद खुल गई। देखा बीसेक व्याधा हमें चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं। उनके शरीरपर कोई कपड़ा नहीं था।

कदमें वह छोटे, किन्तु उनका जामुन जैसा काला शरीर सुसंगठित था। धनुष-बाणको उन्होंने अपने कन्धोंपर लटका रक्खा था। उनके हाथोंमें चौड़ी धारके तीक्ष्ण कुठार थे। उपासककी हालत सबसे बुरी थी, मानो उसके चेहरेपर मृत्यु नाच रही थी। हमारे तीनों साथी-भिक्षुओंकी भी हालत कुछ ही बेहतर थी। व्याधा चीखते-चिल्लाते ज्यादा थे और जो बोलते भी थे, उसका एक शब्द भी हमें समझमें नहीं आता था। पर, उनकी चेष्टाओंसे मालूम होता था, कि हम कालके जबड़ेमें पड़ चुके हैं। व्याधोंके देशमें आनेका हमने अपराध किया था।

उन्होंने हमें ज्यादा सोचने-विचारनेका मौका नहीं दिया और उपासकके हथियारोंको लेकर एक तरफ चलनेका संकेत किया। चारों तरफ हमें घेरे वह तेजीसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर चलने लगे। जङ्गल तो पग-पगपर, मालूम होता था, और भी बीहड़ होता जा रहा है। मैं अपने सामने चलनेवाले दो व्याधों-को देख रहा था। उनमेंसे एकका नंगा शरीर वैसा ही था, जैसा उसके साथि-योंका, किन्तु वह अपेक्षाकृत अधिक बलवान् मालूम होता था। जन्मके साथ पैदा हुये उसके बालोंमें फूलों-पत्तों और पंखोंका विशेष शृंगार भी उसे औरोंसे भिन्न बतलाता था। शायद वह इस प्रदेशके व्याघ्रोंका राजा था। साथके तरुण-का उसके साथ क्या सम्बन्ध था, यह हम नहीं समझ सकते थे। लेकिन, उसका शरीर सबसे अधिक सुघड़ मालूम होता था। जान पड़ता था, किसी कुशल मूर्तिकारने अपनी सारी कला लगाकर काले पाषाणमें उसको गढ़ा है। रंग सबको अपना-अपना पसन्द होता है। मेरे बाकी पाँचों साथियोंमें बुद्धिल काफी हलके रंगके थे, तो भी हमारे उद्यानमें उनको साँवला ही कहा जाता। दो सिंहल-भिक्षु भी गेहुँआ रंगके थे, बाकी एक भिक्षु और उपासकका रंग व्याघ्रोंसे कोई फर्क नहीं रखता था। पकड़ते वक्त ही व्याधोंने मेरी ओर संकेत करके क्या-क्या आपसमें कहा था। मैं इतना ही समझ सकता था, कि उनका संकेत मेरे गोरे रंग और नीली आँखोंकी ओर है। उस वक्त मुझे क्या मालूम था, कि मेरी यह विशेषता उपकारके रूपमें मेरा महान् अपकार करेगी।

सूर्यास्तको बहुत थोड़ा समय रह गया था, जब हम एक अपेक्षाकृत एक बड़ी पहाड़ी नदीके किनारे पहुँचे। यहाँ एक प्राकृतिक विशाल गुफा थी, जिसके द्वारपर २५-३० व्यक्ति दिखाई पड़े। उनमें अधिकांश स्त्रियाँ, बच्चे और दो-चार बूढ़े थे। बूढ़ोंके भी बाल काले थे, केवल उनके चेहरे और शरीरकी झुर्रियोंसे ही उनकी उमर जानी जा सकती थी। गुफामें पहुँचनेसे पहले ही हमारे साथके व्याधोंने तुमुलध्वनि की। वैसे वह सारी यात्रामें हल्ला-गुल्ला करते चल रहे थे, शायद वह ऐसा करके वन्य जन्तुओंको भगाना चाहते थे। उपस्थित लोगोंने बड़े कोलाहलके साथ उनका स्वागत किया। उनका उद्देश्य हमें पकड़नेका नहीं, बल्कि शिकार करनेका था। उन्होंने कितने ही खरगोश और हिरन मारे थे, खालमें मधु जो भरी हुई थी, वह इसी यात्राका सुफल था। इसी समय अकस्मात् उनका हमारे साथ साक्षात्कार हुआ। गुफामें ले जाकर रस्सीसे हमारे हाथ-पैर बाँध दिये गये, और पाँच शस्त्रधारी व्याधे हमारी देख-भालके लिये नियुक्त कर दिये गये।

हम निसर्गजात मानव-सन्तानोंके बीचमें थे। उनकी भाषाका एक भी शब्द हमें मालूम नहीं था, और उनके संकेतोंको भी हम बहुत कम समझ पाते थे। भाषा न समझनेपर भी ग्राम्य और नागरिक जीवनकी कितनी ही बातें सभी जातियोंमें एक सी पाई जाती हैं, जिससे हम अपनी उस परिस्थितिका कुछ अन्दाजा लगा सकते थे। हम केवल इतना ही समझ सकते थे, कि जीवनके दिन अब शीघ्र ही समाप्त होनेके हैं। बुद्धिलने मेरे ऐसा विचार प्रकट करनेपर कहा : दिन नहीं, घड़ियाँ कहो, क्योंकि दिनों रखकर उन्हें या तो हमें भूखा मारना पड़ेगा, या अपनी संचित सामग्रीमेंसे देना होगा। उपासकका भी कहना था : वह हमें अब जीता नहीं छोड़ेंगे। व्याधोंको सिंहल नागरिकों और ग्रामीणोंसे हथियार छोड़कर और किसी चीजके लेने-देनेकी जरूरत नहीं। वह नहीं जानते, लोहा कहाँसे आता है, लेकिन उनके पूर्वजोंने लोहेके हथियारोंको अपने गर्दन, पीठ और हाथपर पड़नेके बाद समझ लिया, कि इन कपड़ेधारियों-के पास यह एक ऐसी चीज है, जिसे लिये बिना हमारी खैरियत नहीं। इसके

बाद न जाने कब बिना कुछ बोले हुये यह समझौता हुआ, कि वह अपने शिकार किये हुये जानवर या मधुको किसी ऐसे स्थानपर रख देंगे, जहाँ वस्त्रधारियोंका आना-जाना होता रहता है। मुफ्त लेनेका मतलब होता, आगेसे उन चीजोंसे वंचित होना, इसलिये व्याधोंकी चीजोंके बदले लोग लोहेके कुठार, कटार, दाव या बाणके फल रख देते, जिन्हें व्याध उठा ले जाते। इस प्रकार क्रय-विक्रय करनेवालोंसे साक्षात् सम्पर्क हुये बिना ही उनमें चीजोंके विनिमयका सम्बन्ध स्थापित हुआ। जङ्गलोंके राजा व्याधा थे, और बस्तियोंके राजा कपड़ेधारी सिंहल लोग, जिनकी भाषा मध्यमण्डलकी भाषासे मिलती-जुलती है। किसी समय सिंहलमें अपार जङ्गल रहा होगा, लेकिन मनुष्य तो अपनी खूनी लड़ाइयों और महामारीका शिकार होनेपर भी बराबर बढ़ता ही जाता है। उसे और खेतों तथा गाँवोंकी आवश्यकता होती है, फिर उसने जङ्गलके राजाकी भूमिकी ओर लोभकी दृष्टि डाली। जङ्गलके राजा अपने अधिकारको यों ही कैसे छोड़ सकते। दोनोंमें संघर्ष उत्पन्न हुआ, जो कभी उग्र हो उठता और कभी शान्त पड़ जाता, पर बराबर ही चलता रहता।

हमारे भाग्यमें क्या बदा है, यह बहुत कुछ निश्चित था। उस रातको उन्होंने हमें उसी गुहामें रहने दिया। बाहर दो-तीन जगह आग जल रही थी, जिसमें पहले वह अपने शिकारको भूनकर खाते रहे, फिर उनका नाच-गाना देर तक जारी रहा। आधी रातके बाद नीरवता छा गई। गुफा भीतरकी ओर बहुत लम्बी-चौड़ी थी, लेकिन उसका दरवाजा संकीर्ण था या पत्थरोंको रख कर संकीर्ण बना दिया गया था। यमदूतकी तरह हथियार लिये वहाँ पहरेदार बैठे थे। हममें किसीकी इच्छा भागनेकी नहीं थी। वह सम्भव भी नहीं था। उपासक तो पहले ही मर चुका था। उसे रोना आँसू बहाना छोड़ और कुछ नहीं आता था, यद्यपि उसके शरीरपर दो-चार ही डंडे पड़े थे।

सूर्योदय हुआ। मृत्युकी छायामें करुणामय निद्राने हमारा साथ नहीं छोड़ा था। उपासककी सूख गई आँखें सूर्यकी किरणोंको देखते ही फिर बहने लगीं। वह और एक भिक्षु व्याधोंको देखे हुये बतलाये जाते थे, लेकिन उन्होंने वस्तुतः

अनुराधपुरके कुछ दास-व्याधोंको ही देखा था। जिस तरह हाथियोंको पकड़ कर अच्छे दामोंपर बेचा जाता है, उसी तरह वनके इन मुक्त मानवोंको भी पकड़ कर बेंचना सिंहलके कितने ही लोगोंका व्यवसाय है। मुक्त व्याधा अपनी खुशीसे तो उनके हाथमें पड़नेके लिये तैयार नहीं होते। वह प्राणपनसे अपने बचनेकी कोशिश करते, जिनमें कितने ही मारे जाते या घायल होकर बुरी मौत मरते। सिंहलके दास-शिकारी लड़कों और स्त्रियोंको पकड़ना अधिक पसंद करते क्योंकि सयाने व्याधा दासताके जीवनको बर्दाश्त नहीं करते, वह जल्दी ही मर जाते हैं। हम उसी समाजके व्यक्ति थे, जो व्याधोंके साथ ऐसा क्रूर बर्ताव करता है, फिर हम कैसे उनकी दयाके पात्र हो सकते थे?

सूर्योदयके साथ ही हम हर वक्त अन्तिम घड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन, वह घड़ी दुःसहसे दुःसहतर होती और भी टलती जा रही थी। मैं और बुद्धिल यही मना रहे थे, कि किसी तरह अन्तिम छुट्टी मिले। व्याकुलता बढ़ती जानेपर भी हमारे दूसरे साथियोंका अन्तिम आशातन्तु टूटी नहीं था। पहर भर दिन तक, जब हमारे पास पहरेदारोंके सिवा और कोई नहीं आया, तो बेचैनी और बढ़ी, क्षण-क्षण काटना मुश्किल हो गया। इसको हटानेके लिये ही बुद्धिलने बातें शुरू कीं—"मानव-मानवमें वास्तविक बन्धुता और उदारताके बिना हर घड़ी ऐसी घटनाओंके होनेकी सम्भावना है। मैंने ऐसे लोगोंके बारेमें भी सुना है, जो मनुष्यको मार कर खा जाते हैं। सिंहल द्वीपके व्याधा मनुष्यभक्षी नहीं हैं। यदि उन्होंने हमें इसके लिये पकड़ा होता, तो मुझे तो बड़ा संतोष होता। आखिर इस शरीरको एक दिन मरना ही है, अगर उससे १०-२० की भूखकी तृप्ति हो जाये, तो इससे बढ़कर इसका उपयोग क्या? हम इनको दोष कैसे दे सकते हैं! हम जो नागरिक हैं, अपने ज्ञान और संस्कारोंमें इनसे उन्नत हैं, आहार निद्रा-भय-मैथुनमें ही अपने जीवनकी इतिश्री नहीं मानते, बल्कि अपनेको इससे भी आगे बढ़े हुये मानते हैं। तो भी हम वन्य पशुओंकी तरह इन्हें घेर कर पकड़ते, तथा हाटोंमें ले जाकर सबसे अधिक

दाम देनेवालेके हाथमें बेंच देते हैं। पशुओंमें भी अपने सजातियोंका प्रेम होता है। यह चाहे कितनी ही हीन अवस्थामें हों, किन्तु ये अपनी सन्तानों, अपने बन्धुओंका स्नेह हृदय में रखते हैं। हमारे पास लोहेके तीक्ष्ण कृपाण हैं। इनसे कहीं अधिक अच्छे-अच्छे हथियार हैं। ये तो बेचारे मँगनीमें हमसे कुछ हथियारोंको पाकर अपनी आत्मरक्षा करते, आखेट कर जीवन-यात्रा चलाते हैं। यह मुश्किलसे सौ-पचासको मुकाबिलेके लिये जमा कर सकते हैं, और हम हजारोंको जमा कर सकते हैं। हमारे सामने यह हाथीके सामने चींटीकी तरह हैं, लेकिन चींटी भी अपने सर्वनाशका बदला लेती है। व्यक्ति एक सीमा ही तक अपराधोंसे मुक्त समझा जाता है, जब सीमा पार हो जाता है, तो अपराधका जिम्मेवार सारे समाजको माना जाता है। हम छ आदमी, जिनके प्राण इनके हाथोंमें हैं, यह कह कर अपराध-मुक्त नहीं हो सकते, कि हमने इनको कोई हानि नहीं पहुँचाई। मनुष्य साँप को देखते ही मार डालता है, क्या कभी वह ख्याल करता है, कि इस सामने आये साँपने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा। वैसे ही हम कपड़ेधारियोंका सारा समाज इनके सामने अपराधी है, क्योंकि हम इनके साथ अपने आदमियोंका अत्यन्त कठोर और सर्वनाशी बर्ताव सह्य मानते हैं।"

कुछ भी हो, आदमी कुछ उदार भावनाओंको लेकर ही भिक्षु होता है, इसलिये हमारे साथी बाकी तीनों भिक्षु भी इस वार्तालापको अधिक ध्यानसे सुन रहे थे। लेकिन उपासकको बड़ी रात तक रोते नींद आ गई थी, उसके टूटते ही वह फिर आँसू बहाने लगा। हमारी बातचीत मध्यमंडलकी भाषा (प्राकृत) में हो रही थी, जिसके शब्दोंको मुश्किलसे ही वह कहीं-कहीं समझ सकता था। सिंहल-भिक्षु उसे बहुत समझाते : रोनेसे कोई फायदा नहीं, इस वक्त धैर्य रखनेकी आवश्यकता है। लेकिन, बेचारा किस आशापर धैर्य रक्खे। कहता था—"यदि तलवार के एक हाथसे साफ कर देते, तो भी मैं धैर्य करता, लेकिन यह बड़ी क्रूरतापूर्वक हमें मारेंगे। शरीरमें भाले चुभायेंगे, एक-एक अंग काटकर तड़पायेंगे या जलती आगमें डाल देंगे।" उपासकने इन व्याधोंके बारेमें जो कुछ सुन रक्खा था, उन्हें सुनाते हुये वह और भी भयभीत

ही रोने लगा। बुद्धिलने कहा—"कमसे कम इनके सामने हमें अपनी दानता नहीं दिखलानी चाहिये। यदि वह हमें इतना भीरु समझेंगे, तो और भी सासत करके मारेंगे।" उपासक कुछ भी सुननेके लिये तैयार नहीं था।

बुद्धिल हममें सबसे ज्यादा शान्त थे। मालूम होता था, उनके लिये कुछ हुआ या होनेवाला ही नहीं। मैं अपने बारेमें उतना ही दृढ़ नहीं कह सकता था, लेकिन तो भी मुझे मृत्युका उतना भय नहीं था। कई बार अपने जीवनमें मृत्युके संकटसे मैं बाल-बाल बचा था। देशाटन और पंडितोंके सत्संगके लिये मेरे हृदयमें इतनी उत्कट चाह थी, कि मैं हर वक्त प्राणोंकी बाजी लगानेके लिये तैयार था। मैं समझता था, पहलेसे चिन्ता करके तड़पनेकी क्या आवश्यकता? जिस घड़ी या जिस क्षण तड़पना होगा, उसी वक्त तड़प लेंगे। मैं गुहाके द्वारपर बैठे उन व्याधा तरुणोंकी ओर देख रहा था, जो इतनी सावधानी से हमारी ओर देख रहे थे, मानों वह हमारी सारी बातोंको समझ रहे हों। यह कहनेकी अवश्यकता नहीं, कि कुछ घड़ियों बाद हमारे पहरेदार बराबर बदलते रहे। गुहाके भीतर रहते हम उन्हींको देख सकते थे, यद्यपि और भी मनुष्योंकी आवाज हमारे कानोंमें आ रही थी। मुझे यही इच्छा होती थी, कि देखूँ यह क्या कर रहे हैं। हम तो गुहाके द्वारपर जानेकी हिम्मत भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि वैसा करनेपर वह जरूर हमें अपने भालोंसे भोंक देते। पहर दिन हो जानेपर मेरी जिज्ञासाकी कुछ-कुछ तृप्ति हुई, जब कुछ बच्चे और स्त्रियाँ झाँक कर हमें देखने के लिये आईं। बच्चोंके हाथमें हरिन या खरगोशकी मांस लगी हड्डियाँ थीं, जिन्हें वह चिचोड़ रहे थे। स्त्रियाँ भी हड्डी या कोई और चीजपर मुँह लगाती हमें देख रही थीं। उनके लिये हम तमाशा थे। हमारे नगरोंमें अगर यह नंगी काली मूर्तियाँ जातीं, तो हमारे लिये भी ये तमाशा बन जातीं।

कुछ समय और बीता। गुहाके दरवाजेपर जो थोड़ी सी खाली जगह थी, उसमें बूढ़ों और वयस्कोंकी एक मंडली आ बैठी, जिनके बीचमें हमारी तरफ मुँह किये एक बूढ़ा बैठा था। लोगोंके चेहरेके भावों और संकेतोंसे मालूम

होता था, कि वह बूढ़ेकी बड़ी इज्जत करते हैं। लोग जोर-जोरसे बातें कर रहे थे, लेकिन हमें उसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता था। वह आपसमें झगड़ नहीं रहे थे, इतना हम कह सकते थे। बूढ़ा कभी-कभी बड़े जोर-जोर से सिर हिलाता। उसके काले बाल, जो बहुत जिन्होंने ही कम पानी देखा होगा, कभी-कभी खड़े हो जाते। उसकी आँखें लाल थीं। घनी काली दाढ़ीवाले चेहरेपर पड़ी झुर्रियाँ उसे और भी भयंकर बना रही थीं। उसने कुछ देर नशेमें या पागल जैसे जोर-जोरसे कुछ बातें कीं। फिर उठकर गुहाके दरवाजेपर भीतर घुस हममेंसे एक-एकको गौरसे ही नहीं, बल्कि सिर, पीठ और हाथोंको टटोल कर देखा। उपासकके होश उड़ गये। उसकी कातर मुखाकृतिको देखकर जोरका लात पीठपर मारते हुए बूढ़ेने कुछ कहा।

उसके बाहर जानेके बाद ही सारी मण्डली उठकर चली गई। हमें भूख भी थी, लेकिन मृत्युके सामने वह कैसे अपना सिर ऊँचा कर सकती थी? प्याससे तलवा सूखा जा रहा था। पहरेदारोंके सामने पानीका संकेत करना बेकार था, लेकिन थोड़ी देरमें हमारे पास एक पुरुष खालमें पानी भर कर लाया। हमने तृप्त होकर पिया। इसी समय वह उपासकको हमारे भीतरसे पकड़ कर ले गये। वह बहुत छटपटाया, न जानेका प्रयत्न करता रहा, किन्तु उसका फल दो-चार और लात-मुक्के खानेके सिवा और कुछ नहीं हुआ। बुद्धिलने कहा—इसे ही प्रथम बलि बनाया गया।

—देवताके सामने बलि चढ़ायेंगे ?

देवताके सामने भी बलि चढ़ा सकते हैं। भय-भैरव ही तो देवताओंकी सृष्टि करता है, जो हमसे भी अधिक इनके हृदयमें है—बुद्धिलने कहा—लेकिन, मुझे भय है, कि इसके कायरता-प्रदर्शनका परिणाम बहुत बुरा होगा। वह उसे बहुत सासतके साथ मारेंगे। चाहे कितने ही जङ्गली हों, लेकिन हमारे बीचके भेदोंका इनको कुछ-कुछ परिज्ञान जरूर होगा। हमारे पीले कपड़े उपासकके सफेद कपड़ोंसे भिन्न हैं। उपासकके सिरपर लम्बे बाल, मुँहपर दाढ़ी और मूँछें हैं। जब कि हम मुंडित हैं। इसका कोई कारण होगा, यह वह जरूर सोचते

होंगे। हमारे लोग हर साल सैकड़ोंकी तादादमें जिन व्याधोंको फँसाकर बन्दी बनाते हैं, उनमेंसे भी कोई-कोई मुक्त हो अपने लोगोंमें लौटनेमें सफल होता होगा। इनके पास भाषा है, चाहे वह उतनी समृद्ध न हो, जिसमें शास्त्र और धर्मकी चर्चा हो सके; लेकिन वह इतनी पर्याप्त जरूर है, कि हमारी दासतासे मुक्त हुआ व्याधा हमारे बारेमें उन्हें सारी बातें समझा सके।

सिंहल-भिक्षुओंमें जो सबसे अधिक प्रौढ़, ज्ञान और वृत्तिमें बहुत गम्भीर थे, उन्होंने भी इस समय बड़े धैर्यका प्रदर्शन किया था। वह कहने लगे—"व्याधोंके फँसानेवाले हमारे दास-व्यापारी तरुण-तरुणियों और प्रौढ़-प्रौढ़ाओंको भी पकड़ते हैं, लेकिन उन्हें वह कावेरीपत्तन, काँची या दूसरे दूरके देशोंमें ले जाकर बेंचते हैं। सिंहलमें लोग इनके लड़के-लड़कियोंको ही खरीदते हैं। कारण स्पष्ट है—तरुण या प्रौढ़ बराबर अपने स्वच्छन्द वन्य-जीवनका स्मरण करते रहते हैं और मौका पाते ही जङ्गलका रास्ता लेते हैं। यद्यपि सिंहलोंमें भी इनके जैसे रूप-रंगका बिल्कुल अभाव नहीं है, किन्तु इनकी चाल-ढालसे लोग पहचान लेते हैं। अनुराधपुरसे भागे व्याधाको तो मुश्किलसे ही दो-चार गाँवोंसे अधिक दूर तक भागनेका अवसर मिलता है, और वह पकड़ा जाता है।

मैं कहने लगा—हमारे बीच पाँच-सात वर्ष रह जानेपर तो यह हमारी भाषा भी अच्छी तरह सीख लेते होंगे। शायद इनमें भी कोई ऐसा हो।

—बहुत कम सम्भावना है, क्योंकि बच्चे-बच्चियोंको ही सिंहलमें रखते हैं, जो जल्दी ही अपने समाजको भूल हमारी बातें सीख लेते हैं, खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा उनकी हमारे दूसरे दासों जैसी हो जाती है। वह साथ ही अपने लोगोंकी हीन अवस्थाको घृणाकी दृष्टिसे देखना भी सीख जाते हैं। जरा भी भागनेका भय हुआ, तो स्वामी उसे वैदेशिक दासवणिकके हाथमें बेंच देते हैं। सिर्फ एक एकाध ही ऐसे दासको भाग कर जङ्गलमें जानेमें सफल होता सुना है।

मैं सोच रहा था, यदि दासतासे मुक्त ऐसा कोई व्याधा मिलता, तो शायद हमें अपने भाग्यके बारेमें अधिक जाननेका अवसर मिलता, या हम इनके बारेमें अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते। मैं मानता हूँ, जिस स्थितिमें हम वहाँ थे, उसमें इस तरहकी जिज्ञासा उपहासास्पद थी, लेकिन मनुष्य बुभुक्षा-पिपासाके साथ-साथ जान पड़ता है, जिज्ञासाको लिये पैदा हुआ है।

उपासकके ले जानेके बाद दो तरुण सिंहल-भिक्षुओंको वह एक साथ ले गये, और अब हम तीन वहाँ यमदूतोंकी प्रतीक्षाके लिये रह गये। जितना समय पहलेके बाद लगा था, उससे मुझे ख्याल आया, शायद दो घड़ी और हमें संसारमें जीना है। सिंहल-स्थविरसे हमने किसी बुद्धसूत्रके पारायण करनेके लिये कहा। उन्होंने बड़े स्वरके साथ धम्मपदकी कुछ गाथायें गाईं, फिर महा-परिनिर्वाणके लिये भगवान्‌की राजगृहसे पाटलिग्राम और वैशाली होते कुसीनगर तककी यात्रा और अन्तिम संस्कार तकके वर्णन करनेवाले सूत्रका उन्होंने पारायण किया। हमें उससे इतनी सान्त्वना मिल रही थी, कि डर लग रहा था, कहीं अधूरा ही उसे न छोड़ना पड़े। पारायण समाप्त होनेके थोड़ी ही देर बाद वह मेरे दोनों साथियोंको एक साथ ले गये। मुझे उस वक्त इसका अपार दुःख हो रहा था, कि बुद्धिल और मुझे साथ क्यों नहीं ले गये। हम दोनों इतने एक-दूसरेसे मिल गये थे, कि ज्ञान-वैराग्यकी बातें करते हुये भी अपने बिछोहको सहन नहीं कर सकते थे।

गुफाके भीतर मैं अब अकेला था। कल्पना दौड़ रही थी—वह उन्हें वध्य-स्थानपर ले जा रहे हैं। अब उन्होंने उनको बैठाया होगा। शायद सबसे पीछे ले जानेके कारण उनपर कुछ विशेष दया दिखलायें, और कृपाणसे एकदम मार कर सिरसे धड़ अलग कर दें। ख्याल दौड़ रहे थे। मालूम होता था सारा दिन बीत गया, शाम होनेको आ रही है। लेकिन वस्तुतः यह मेरा भ्रम था। संकट-की घड़ियाँ लम्बी होती हैं। मेरी एक ही लालसा थी, वह जल्दी आकर मुझे भी ले जायें। यदि वह पूरी हुई होती, तो इन पंक्तियोंको कौन लिखता? मैंने देखा, मेरे अन्तिम दोनों साथियोंके ले जानेके बाद पहरेके लिये अब वहाँ

गुहाद्वारपर एक ही आदमी रह गया था। शामसे पहले ही मुझे वह गुहा से निकाल कर बाहर ले गये। वहाँ बहुतसे स्त्री-पुरुषों और बच्चोंने मुझे घेर लिया। मेरे साथियोंका रंग भी उनसे भिन्न था, विशेषकर बुद्धिल और दो भिक्षुओंका, लेकिन मैं उनके लिये एक विलक्षण जन्तु था। शायद उन्होंने मेरे जैसे गौर रंगके आदमीको देखा नहीं था। लड़के उँगलियोंमें थूक लगाकर मेरे शरीर-को रगड़ कर देखना चाहते थे, कि मैंने कोई रंग तो अपने शरीरमें लेप नहीं रक्खा है। रंग लेपना या शरीरपर स्थायी या अस्थायी चिह्न अंकित करना वह भी जानते थे। उन्होंने देखा, मेरे शरीरमें कोई रंग नहीं पुता है। मेरी आँखें भी नीली थीं, और उससे भी विचित्र लगते थे मेरी भौंहें, जो सुनहली थीं। केश सात दिनके मुड़े होनेसे अभी छोटे ही छोटे थे, लेकिन उनके देखनेसे भी उनका सुनहला रंग स्पष्ट हो जाता था। शरीरमें उनके लम्बेसे लम्बे जवानसे भी मैं बड़ा था। उन्होंने आपसमें मेरे बारेमें क्या-क्या कहकर बहुत हास-परिहास किया। मेरे शरीरके साथ खेल करनेमें भी उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं थी, लेकिन वह मेरे शरीरको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते थे। अन्धेरा होनेसे पहले ही उन्होंने भुने हुये मांस और चमड़ेमें पानी लाकर मेरे सामने रक्खा। मेरे हृदयमें एकदम छुरी सी चुभने लगी : "क्या यह मुझे मारना नहीं चाहते? बुद्धिल जैसे मित्रको खोकर क्या मुझे जिन्दा रहना होगा।" यह सोचते हुये भी मेरा हृदय काँपने लगा। मैं आज दिन भर अन्नसे वंचित रहनेके कारण भूखा था, पर तो भी विकालमें भोजन करके अपने भिक्षु-नियमको तोड़नेके लिये तैयार नहीं था। प्यास बुझानेसे भी अधिक मैंने पानी जरूर पी लिया। रातका अन्धकार विश्वमें फैल रहा था, जो मेरे लिये और निविड़ तथा अनन्त मालूम होता था। मेरे दिलमें अब कोई आशा और आकांक्षा नहीं रह गई थी। वह बिल्कुल सुन्न सा बनता जा रहा था।

पहर भर रात गई होगी, पर मुझे तो युग बीता मालूम होता था, जब कि किसी आदमीने सिंहल भाषामें उसी तरह मुझे सम्बोधित किया, जैसे दास

सम्बोधित करते हैं। मैं इस तरहके सम्बोधनका आदी नहीं था। "भन्ते" (स्वामी) सुनते-सुनते मालूम ही नहीं हो रहा था, कि मुझे कोई सचमुच बुला रहा है। मैं ऐसी स्थितिमें पहुँच गया था, जब कि स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओंकी सीमा रेखा मिट जाती है। मुझे नींद कहाँ आ सकती थी? अपनी मानसिक चिन्ताओंको भुलानेके लिये प्रार्थना करता था: निद्रादेवी स्वर्गलोकसे उतर कर मेरी आँखोंमें छा जाओ। पर, वैसा सौभाग्य कहाँ? लेकिन, जिस समय मैंने सिंहल शब्दोंको सुना, मुझे विश्वास हो गया, कि मैं जरूर स्वप्न देख रहा हूँ। दो-चार बार बोलनेपर भी जब मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, तो बोलनेवालेको मालूम हो गया, कि मुझे नींद लग रही है। इस पर उसने बड़ी कठोरतासे मेरा हाथ पकड़ कर हिलाया। मैं यों ही लेटा हुआ था। मैं उठ बैठा। आदमीका चेहरा साफ दिखाई नहीं पड़ता था, यद्यपि हम अभी-अभी उगे चाँदकी रोशनीमें थे। तो भी मुझे विश्वास हो गया, कि यह सिंहल नहीं है। उसका नग्न शरीर भी इसकी साक्षी दे रहा था। उसकी सभी बातोंको समझना मेरे लिये मुश्किल था, क्योंकि सिंहल भाषाका अभी उतना परिचय नहीं हो पाया था, तो भी मध्यमण्डलकी भाषासे सुपरिचित होनेके कारण मैं उसके भावोंको समझ सकता था। उसने पहली बात यही बतलाई—तुमको नहीं मारा जायेगा। मैंने पूछा—और मेरे साथियोंका क्या हुआ?

—वह कबके मर चुके, उनके शरीरको भी दूर ले जाकर नदीमें फेंक दिया गया।

—मुझे क्यों जिन्दा छोड़ते हो, मुझे भी मार डालो। मुझे जीनेकी इच्छा नहीं है।

—नहीं, तुम हमारे शत्रु नहीं हो, तुम इस देशके नहीं हो। हम किसी निरपराधको नहीं मारते।

—तो मेरा तुम क्या करोगे?—मैंने पूछा।

—कल हम तुम्हें ले जाकर सबसे नजदीकके गाँवके पास छोड़ आयेंगे।

तुम जाकर हमारे दुश्मनोंसे कहना, कि हम तुम्हारे जैसे नीच नहीं हैं। तुम हम निरपराधोंको जबर्दस्ती पकड़ कर मनुष्यसे पशु बनाते हो। हम उसका अगर बदला भी लेते हैं, तो तुम्हारी तरह जिन्दगी भर पशुकी तरह सासत करके नहीं, बल्कि तड़ाक-फड़ाक।

मैं उससे और भी कुछ बातें जानना चाहता था, लेकिन उसके व्यवहारसे मालूम होता था, कि वह मुझसे अधिक बातें नहीं करना चाहता या उसके लिये उसके पास शब्द नहीं थे। उसने कहा, कल सूर्योदयके बाद हम तुम्हें छोड़ने ले चलेंगे। फिर खानेके लिये पूछा। मैंने कहा—चलते समय ही दे देना।

मुझे मरना नहीं जीना है, यह समाचार दूसरे समय सुखद हो सकता था, लेकिन उस रातको बुद्धिलका शान्त चेहरा बार-बार मेरी आँखोंके सामने घूम रहा था। न जाने किस समय नींद आई। मैं बुद्धिलके मुखको देख रहा था। वह बड़े प्रसन्न वदन, मुस्कुरा नहीं, हँस रहे थे। पहले वह दिग्नागके "प्रमाणसमुच्चय" की कुछ बातोंकी व्याख्या करते रहे। मुझे वह स्थल कठिन मालूम होते थे, जिन्हें बुद्धिलने बहुत सरल और विशद करके समझाया। हमारी बात किस स्थानपर हो रही थी—कपिशा, जेतवन या महाविहारमें, यह मैं नहीं कह सकता। फिर वह यात्राकी बातें करने लगे। उन्होंने हमारी पहले की चर्चाको दोहराते हुये कहा—"सिंहलसे हमें अब चल देना है। हमें बड़ी यात्रा करनी है। महाचीन चलना चाहिये, लेकिन उसके पहले अपनी जन्म-भूमियोंको एक बार देख लेना चाहिये। यहाँसे हम दक्षिणापथके कुछ विहारोंको देखते उज्जयिनी चलें। कालिदासकी उज्जयिनी मेरी जन्मभूमि मुझे बड़ी प्रिय है। जन्मभूमि किसको नहीं प्रिय होती? फिर वहाँसे हम दोनों तुम्हारी जन्मभूमि देखने चलेंगे, और फिर जम्बू द्वीपसे अन्तिम बिदाई लेंगे। हिमवान्के उत्तुंग शिखरोंको पार करके महाचीन चलना है। समुद्रके रास्ते हाथ-पैर बिना डुलाये पोतपर बैठकर जाना हमें शोभा नहीं देता।"

बुद्धिलने न जाने कितनी देर तक मुझसे बातें की। मैं उस वक्त कलकी घटनाओंको बिल्कुल भूल गया। सचमुच ही मैं अपने मित्रसे जाग्रत अवस्थामें बातचीत कर रहा था। सूर्योदय कब हुआ, इसका मुझे पता नहीं। अन्तमें उसी परिचित स्वरवाले पुरुषने मुझे फिर हिला कर उठाया। मैं उठकर बैठ गया। एक भूना हुआ मांसका बड़ा टुकड़ा, कुछ सूखे फल और पानीकी मशक पासमें रक्खी थी। आदमीने कहा—"खा लो, चलना है, भूख लग जायेगी।" मेरे पूछनेपर उसने नदीके किनारे चलने की सहमति दी। वह मांस और मशकको उठाकर मेरे साथ चला। नदीके पास जाकर मैंने हाथ-मुँह धोया। फिर मांसको खाकर पानी पी लिया। उसके कहनेसे मालूम हुआ, कि वह मुझे यहीं मुक्त कर सकते हैं, लेकिन इन घने जंगलोंमें रास्ता पाना मुश्किल होगा, और डर है, कि मैं व्याधोंके किसी दूसरे झुंडके हाथोंमें पड़ जाऊँगा।

तीन आदमी मेरे साथ थे, जिनमें वह भूतपूर्व दास भी था। बोलने-चालनेसे आदमीके भीतरी गुणों-का परिचय मिलता है। वह समझदार मालूम होता था। रास्ता चलते उसने अपनी कथा सुनाई—लड़कपन में मुझे पकड़ ले गये थे। अनुराधपुरके एक ब्राह्मणने मुझे खरीद लिया। मैं पकड़े जाते वक्त सयाना था। सभी बातें मुझे याद हैं। ब्राह्मण-ब्राह्मणीका मैं अकेला दास था। उनकी कोई सन्तान नहीं थी। यद्यपि मुझे एक दास लड़केकी तरह ही काम करना पड़ता था, लेकिन उनका बर्ताव बहुत अच्छा था। मुझे उन्होंने बड़े आरामसे रक्खा, झिड़का भले ही कभी हो, लेकिन मेरे ऊपर हाथ नहीं उठाया। कह सकता हूँ, मुझे उन्होंने दासकी तरह नहीं, बल्कि एक मुक्त कर्मकरकी तरह रक्खा। उनका मुझपर बड़ा विश्वास था। मैं नगरके जीवनका अभ्यासी हो गया था। उसमें आनन्द भी आ रहा था, पर मुझे अपने लोग याद आते, खास करके माँ याद आती थी। जङ्गलका स्वच्छन्द जीवन अनुराधपुरके जीवनसे कहीं आकर्षक मालूम होता था। मैं जवान हो गया और वह आकर्षण मेरे हृदयमें और भी

बलवान् होता गया । ब्राह्मणी मर चुकी थी, ब्राह्मणने घर-बार मेरे ऊपर छोड़ रक्खा था। मेरे भागनेके लिये कोई बाधा नहीं रह गई। कितने ही दिनों तक मैं अपनेको रोकता रहा। ब्राह्मणने मुझे दासतासे मुक्त घोषित कर दिया था, तब भी मुझे अपने लोगोंका जीवन खींच रहा था। मेरे रंग-रूपके आदमी वहाँके लोगोंमें भी मौजूद थे। मेरी वेष-भूषा और बातचीतसे कोई कह नहीं सकता था, कि मैं व्याधा दास हूँ। ब्राह्मणका मुझपर बहुत विश्वास था, कहना चाहिये, कि मेरे भाग जानेकी उसको कोई शंका नहीं थी। उसने एक सप्ताहके लिये मुझे किसी कामपर समुद्रतटके पत्तनपर भेजा। मैंने उधरका रास्ता छोड़ जंगलका रास्ता लिया। डर लग रहा था, सीमाको कैसे पार करूँ। हमारी सीमायें कोई निश्चित नहीं हैं। बीहड़ जंगल हम लोगोंका है, बाकी भूमि कपड़े-धारियोंकी। मैं कपड़ाधारी था। कपड़ा पहने अपनोंमें पहुँचना मेरे लिये खतरेकी बात थी। यदि कपड़ेधारियोंकी पहुँचके भीतर कपड़ा छोड़ देता, तो वह फिर दास बनानेके लिये तैयार थे। मैंने अन्दाजसे रातके वक्त सीमाके पास जाकर विश्राम किया और अन्धेरेमें ही सिर्फ अपने मालिकके घरसे लाये खड्गको साथ रख बाकी चीजोंको वहीं फेंक दिया। शंकित हृदयसे घोर जंगलमें पैर बढ़ाने लगा। वहाँ हाथीका डर था, किसी अन्य श्वापदका भी खतरा था। अपने लोग भी मेरे साथ कैसा बर्ताव करेंगे, यह मालूम नहीं था। फिर हमारे व्याधोंके भी अलग-अलग गिरोह हैं, उनमें आपसमें मार-काट हुआ करती है, इसका भी भय था। मेरा भाग्य था, जो मुझे अपने ही लोग मिले।

अब वह ३५ सालके आसपासका प्रौढ़ पुरुष था। शायद २० वर्षसे ज्यादाका नहीं रहा होगा, जबकि उसने अपने दासताके जीवनको पीछे छोड़ा। इसका मतलब है पन्द्रह वर्षसे उसे सिंहल भाषा बोलनेका मौका नहीं मिला था, लेकिन जैसे-जैसे वह बात करता जा रहा था, वैसे ही वैसे जान पड़ता था, भूले शब्द याद आते जा रहे हैं। उसे क्रूर स्वामी नहीं मिला था। इसलिये क्रूरताका वैयक्तिक अनुभव नहीं था। शायद यही कारण था, जो मेरे साथ उसने इतनी

सहृदयता प्रकट की और खुलकर अपनी बातें बतलाईं। मध्याह्नसे दो घड़ी और बीता था, जब कि वह एक जगह खड़ा होकर बोला—"अब यहाँसे हम आगे नहीं जायेंगे। आगे कपड़ेधारियोंकी भूमि है।" पहाड़की टेकरीपर खड़े हो वहाँसे अँगुलीसे दिखाते हुये उसने बतलाया—"वह जो घने वृक्षोंसे ढँकी पहाड़ी टेकरी है, उससे थोड़ा आगे जानेपर तुम्हें खेत मिल जायेंगे और फिर पास ही गाँव आ जायेगा।"

अध्याय ६

स्वदेशकी ओर (५४७-४८ ई०)

स्नेहसे वंचित होकर एक बार मैं मानसिक उद्वेगमें फँस चुका था, उसके कड़वे अनुभवसे मैं परिचित था, किन्तु वह मेरे हृदयको उतना चूर-चूर करनेमें सफल नहीं हुआ, जितनाकी बुद्धिलका मर्मान्तक वियोग। अपने चार भिक्षु-साथियोंको खोकर मुझे बड़ी लज्जा मालूम हो रही थी। लोगोंको सारी बातें बताईं। कुछ दिनों तक हित-मित्रोंने शोक प्रदर्शन किया। फिर सरोवरमें पड़े ढेलेसे उठी लहरकी तरह वह शान्त हो गया। लेकिन, मेरे हृदयको शान्ति कहाँ? वर्षाके महीने आ गये थे, इसलिये वर्षावासके लिये सिंहलमें ठहरनेके लिये मैं मजबूर था, नहीं तो वहाँसे भाग कर कहीं नई जगहमें जानेके लिये मन तड़फड़ा रहा था। मैंने विक्षिप्तकी तरह वह तीन महीने बिताये। इसके लिये अपनेको सौभाग्यशाली कहूँगा, कि खुलकर अपने पागलपनका मैंने परिचय नहीं दिया। सिंहलके अवशिष्ट प्रवासमें मैं क्या करता रहा, इसका भी मुझे पता नहीं। सारी बातें यंत्रवत् होती रहीं। रोज अपना काफी समय तो मैं वहाँके तीन महास्तूपों और स्तूपाराम की परिक्रमामें बिताता। फिर अपना पात्र उठा भिक्षाके लिये निकल जाता। भरसक मैं निमंत्रित या बिहारके भोजनसे बचता था, जिसमें उतना कारण परम वैराग्य नहीं था, जितना कि अपने मनको किसी काममें लगाये रहनेकी वांछा। मेरी अवस्थासे कुछ सहृदय भिक्षु खिन्न थे। वह तरह-तरहसे मेरा शोक-विनोदन करना चाहते थे। कितनेही उपासक-उपासिकायें तो मुझे बड़ा ही कर्मनिष्ठ भिक्षु मानने लगे। मैं अपने मनमें यही मनाता था, कि कब महाप्रावारणा (आश्विन पूर्णिमा) आयेगी, और कब मैं यहाँसे प्रस्थान करूँगा। दोपहर तकका समय तो किसी तरह बीत जाता था, लेकिन दोपहरके बाद का बाकी दिन ही नहीं, बल्कि रात

भी मेरे लिये पहाड़ थी। निद्राने भी अपनी दयालु छायासे मुझे वंचित कर दिया था, वह मुश्किलसे दो-चार घड़ी आती। मैं इस समय सूत्रों और जातकोंका पारायण करता रहता, लेकिन मेरे मानस-नेत्रोंके सामने तो हर वक्त बुद्धिलकी शांत और करुण मूर्ति खड़ी रहती। शायद ही किसी दिन सोते समय स्वप्नमें बुद्धिलका साक्षात्कार न होता हो। मुझे उससे बड़ी सान्त्वना मिलती और यही मनाता रहता, कि क्या ही अच्छा होता, यदि मेरा यह सारा समय ऐसे स्वप्नमें ही बीत जाता।

अनुराधपुरमें देश-देशान्तरोंके व्यापारी आते हैं। सिंहलमें स्वयं भी कितने ही तरहके रत्न निकलते हैं, इसलिये तथा अपने पण्योंको बेचनेके लिये वह यहाँ पहुँचते हैं। कितनोंकी वहाँ अपनी कोठियाँ हैं। मैं सोचने लगा, कौन रास्ते लौटूँ। यह तो निश्चय कर चुका था, कि अपने सुहृदके साथ जिस यात्राका संकल्प किया था, उसे पूरा जरूर करना है और अपनी तथा उनकी जन्मभूमियोंको देखकर ही उधर पैर बढ़ाना है। पहले होता, तो दोनोंको जल्दी नहीं थी, और दक्षिणापथके बहुत जनपदोंको देखते हम अवन्ती और उद्यान पहुँचते, लेकिन, अब मेरे पास उसके लिए साहस नहीं रह गया था। मैं यही सोचता था, कैसे उज्जयिनी देखकर उद्यान पहुँच जाऊँ और फिर अज्ञात मानव समुद्रमें छलाँग मार दूँ। मेरे बर्ताव-व्यवहारसे श्रद्धालु नर-नारी आकृष्ट हो रहे थे, यह बतला चुका हूँ। कई दिन भिक्षाटनके समय तथा बिहारमें भी एक लाट (गुजरात) देशीय सार्थवाहने मुझे देखा। मेरे रूप-रंगकी विभिन्नता भी लोगोंको आकृष्ट करनेके लिये पर्याप्त थी। उसने एक-दो बार भोजनके लिये निमंत्रित भी किया, लेकिन मैंने बतला दिया, कि मैं निमंत्रणका अन्न नहीं खाता। इसपर उसने कहा—"तो भिक्षाटनके लिये आते समय मेरे द्वारको भी पवित्र किया करें"। मैंने इसे मान लिया।

श्रेष्ठी अधेड़ उमर का था। पत्नीके साथ उसे देखनेपर मुझे कौशाम्बीका श्रेष्ठी याद आता था। उसने बतलाया—"मैं लाटदेशके भरुकच्छ नगर का हूँ। पत्नीके अस्वस्थ होनेके कारण वर्षासे पहले मैं यहाँसे लौट नहीं सका। वर्षा

समाप्त होते ही मैं स्वदेश लौटूँगा।" सेठानी भी कौशाम्बीकी सेठानीकी तरह—या सभी देशोंकी प्रौढ़ा सेठानियों जैसी धर्मपरायणा थी। वह सिंहलके धर्मस्थानों के दर्शन करने के लिये आग्रहपूर्वक अपने पतिके साथ यहाँ आई थी। उसको बहुत अफसोस था, कि मैं निमंत्रण स्वीकार करके उसके यहाँ भोजन नहीं कर सकता। लेकिन अपराह्णके समय वह जरूर अपने पतिके साथ द्राक्षा या किसी और फलका रसले,हमारे विहारमें आती। उनकी प्रार्थनापर मैंने तथागतभाषित सूत्रोंकी कथा करनी स्वीकारकी। दो-तीन घड़ीके लिये इससे मेरा भी मन बहल जाता था। दम्पती ढाई महीने तक बराबर आते रहे। मुझे कहनेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ी। उन्होंने स्वयं प्रार्थना की, कि आप हमारे साथ ही देश लौटें। इसे स्वीकार करनेका मतलब था, सारे दक्षिणापथको छोड़ समुद्रके रास्ते भरुकच्छ पहुँच जाना। उज्जयिनी जानेके लिये इससे जल्दी और सरल रास्ता नहीं हो सकता था। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह कहूँगा, कि इसके कारण मुझे काफी संतोष हुआ। प्रिय वियोगकी असह्य वेदना अब भी बराबर काँटेकी तरह हृदयमें चुभती रहती थी, किन्तु कथाके समय और उज्जयिनी शीघ्र पहुँचनेके ख्यालसे मुझे काफी संतोष हो गया। मैं कह चुका हूँ, मेरी चेष्टा उस समय यंत्रवत् होती थी। दिन-रातकी सभी घड़ियोंके काम बँधे हुये थे, एकके कर लेनेपर दूसरे शुरू हो जाते और कष्टकर घड़ियाँ प्रतीक्षामें नहीं बितानी पड़ती थीं।

*　　　　*　　　　*

महाप्रावारणाके पाँच दिन बाद हमने अनुराधपुर छोड़ा। श्रेष्ठी बड़ा भारी सार्थवाह था। भरुकच्छसे उसके वणिक्-पोत सिंहल, यवद्वीप (जावा) और पश्चिमके कितने ही देशों तक जाते रहते थे। उज्जयिनीमें भी उसकी कोठी थी। उसका वैभव किसी राजासे कम नहीं था। अनुराधपुरसे पश्चिम समुद्र तीर्थपर उसके कई विशाल पोत खड़े थे। वहाँ पहुँचकर हमें कुछ दिनों प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि अभी पोतोंमें पण्यद्रव्योंकी लदाई पूरी नहीं हो सकी थी। यदि मैं प्रकृतिस्थ होता, तो सिंहल छोड़ते वक्त बहुत खेद होता,

लेकिन मैं तो निर्लेप हो गया थी, किसीसे नया परिचय या नई मित्रता स्थापित करना मुझे अभीष्ट नहीं था। सिंहल तट छोड़ते समय बल्कि हृदयका भार कुछ हल्का मालूम हुआ—उस भूमिपर रहते मुझे बुद्धिलकी स्मृति बेचैन करती थी, मैंने अपने जीवनके सबसे प्रिय व्यक्तिको यहाँ खोया था।

समुद्रकी यात्रामें दो महीने बीते। श्रेष्ठी सीधे भरुकच्छ नहीं गया, बल्कि समुद्रतटके कितने ही पत्तनोंमें उसका कारबार था, जहाँ चीजोंके उतारने-चढ़ाने-के लिये कई दिनों तक पोतोंको रुकना पड़ता। श्रेष्ठी अपने कारबारको देखनेके लिये शायद ही कभी आता है, इसलिये उसके कर्मी उसकी बड़ी आवभगत करते अपने कामोंको दिखलाते। मुझे भी उतरना पड़ता। यदि वहाँ कोई विहार या योग्य भिक्षु होता, तो मैं दर्शनके लिये चला जाता। सारी यात्रामें कोई स्मरणीय बात नहीं हुई। दो-चार दिनके लिये एक बार समुद्र अशान्त हो गया था, जिसका कुछ प्रभाव मेरे ऊपर भी पड़ा, और मैं भोजन नहीं कर सका।

तालपत्रपर लिखी पोथियाँ ज्यादा चिरस्थायिनी होती हैं। हमारे उद्यानमें भुर्जपत्र पर पोथियोंके लिखनेका रवाज है, पर गरम देशोंमें भुर्जपत्र जल्दी टूट जाते हैं। तालपत्र हर जगहके लिये बहुत दृढ़ होता है। बोझा बढ़ाना अभीष्ट नहीं था, इसलिये मैंने और बुद्धिलने अपने पास सीमित ही पुस्तकें रक्खी थीं। अब बुद्धिलकी पुस्तकें भी मेरे पास थीं। सिंहलमें आकर दिग्नागके "प्रमाणसमुच्चय" को उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने लिये लिखा था। सिंहलमें सुन्दर तालपत्र मिल रहे थे, जिससे वह अपने लोभका संवरण नहीं कर सके। उसपर जहाँ-तहाँ उन्होंने टिप्पणियाँ भी की थीं। बुद्धिलके अक्षर बड़े सुन्दर होते थे। चालीस वर्षोंसे मैं सदा स्मरणीय मित्रकी लिखी इस पोथीको अपने प्राणोंसे भी बढ़ करके अपने पास रक्खे हुये हूँ। पहले जब इसकी पंक्तियोंको देखता, तो बरबस आँखोंमें आँसू आ जाते, किन्तु अब मित्रकी लिखी इन पंक्तियोंको देखकर बड़ी सान्त्वना मिलती है।

जाड़ोंका मध्य था, जब हम भरुकच्छ पहुँचे। शायद एक दो जाड़ेसे अधिक हमने ऐसे देशोंमें नहीं बिताये, जहाँ जाड़ा होता ही नहीं, तो भी भरुकच्छमें जब रातको कम्बल ओढ़नेकी जरूरत पड़ी, तो ऐसा आनन्द आया, जैसे कोई खोई हुई चीज मिल गई। श्रेष्ठीने हमें अपने पूर्वजोंके बनवाये विहारमें ठहराया। विहारके भिक्षु भी उपासक श्रेष्ठीकी बातोंसे सुनकर प्रभावित हो चाहते थे, कि मैं कुछ समय वहाँ रहूँ, लेकिन अब तो मैं रस्सीसे बँधा आगेकी ओर खिंचा जा रहा था स्थलसार्थ यहाँसे बराबर उज्जयिनी जाया करते थे। समुद्रसार्थोंके लिये तो निश्चित महीने हैं, जब कि हवा पोतोंके चलनेके लिये अनुकूल होती है. किन्तु स्थलसार्थके लिये ऐसी कोई कठिनाई नहीं। जब मैंने अधिक रहना स्वीकार नहीं किया, तो श्रेष्ठीने मुझे अपने सार्थके साथ उज्जयिनी भेज दिया।

भरुकच्छ और उज्जयिनीका पुराना वैभव अब उतना नहीं रहा, जितना कि क्षत्रपोंकी राजधानी रहनेके समय था। इसके कारण भरुकच्छको अधिक हानि हुई है। कुछ समय वंचित रहनेके बाद उज्जयिनीने फिर एक राजधानीका रूप लिया है। अवन्तीपति और कान्यकुब्जपति दोनों ही किसी समय गुप्तोंके सामन्त थे, लेकिन अब वह गुप्तोंकी राज्यलक्ष्मीका अपनेको उत्तराधिकारी मानते थे। मिहिरकुलके हरानेके बाद उनमेंसे हरेक विजयलक्ष्मी की वरमाला अपने गलेमें डलवाना चाहता था। यदि अपने मित्रके साथ मैं उनकी जन्मनगरीमें आज आया होता, तो कालिदासकी इस प्रिय पुरीको देखकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई होती? बुद्धिलके भाई-बन्दोंसे मेरे मिलनेका मतलब उनको दुःखी बनाना और अपने घावको हरा करना छोड़ और कुछ नहीं था। तो भी मैंने इसे भद्रोचित नहीं समझा, कि उनके मित्रों और सुहृदोंसे बिना मिले ही उज्जयिनीसे चला जाऊँ। बुद्धिलके जन्मगृहमें जानेपर जब मालूम हुआ कि उनकी माता जीवित हैं, तो मेरा पैर फिर पीछेकी ओर हटने लगा, लेकिन तब तक मैं बुद्धिलके अनुजसे कुछ बातें बतला उसके आँसुओंके साथ अपने आँसुओंको भी बहा चुका था। बुद्धिलकी

माताने जब सुना, कि मैं उनके सौभाग्यशाली पुत्रका अभागा मित्र हूँ, तो उनके हृदयमें हर्ष उठने लगा, लेकिन जैसे ही अपने पुत्रके मरनेकी खबर मिली, तो वह चीत्कार करके गिर पड़ीं। कुछ क्षणोंके लिये तो मालूम हुआ, कि वह अपने पुत्रका अनुगमन कर चुकी हैं, पर थोड़ी ही देरमें उठकर उन्होंने अपने आँसुओंको पोंछ लिया और भीतर अपार वेदना होते हुये भी बाहरसे प्रकृतिस्थ होकर कहा—मैं आपको ही अपना बुद्धिल समझती हूँ। मैंने बचपन में अपने बुद्धिलको ज्ञान और साहसके लिये तैयार किया था। दस वर्षकी आयुमें ही स्वयं ले जाकर कांचनवन विहारमें उसे भिक्षु-संघको अर्पित किया था। भिक्षु उपसम्पदा प्राप्त करने तक बीस वर्षकी उमर तक वह यहीं रहा। उसकी विद्या और बुद्धिकी प्रशंसा सुनकर मैं फूली नहीं समाती थी। जब देश-देशान्तरोंकी सुनी-सुनाई बातोंको बड़े उत्साहके साथ वह मुझे सुनाता, तो मैं जानती थी, कि मेरा बेटा भी इन देशोंको जाकर देखेगा। मैं उसके विचारोंका अनुमोदन करती थी, यह समझते भी कि इन यात्राओंमें कहींपर भी प्राणोंपर संकट आ सकता है।

वृद्धा शोकसागरमें डूब गई। शायद पुत्रके मरणका शल्य उसके हृदयसे जन्म भर नहीं निकल सकेगा, लेकिन जब तक मैं उज्जयिनीमें रहा, उसने कभी उसे मेरे सामने नहीं प्रकट किया और न मेरे प्रति पुत्र-वात्सल्य दिखानेमें कोई कमी की। वह कहती थीं—हम शक लोग उत्तरापथकी ओर के किसी दूर देशसे आये हैं। हमारे कम भाग्यशाली बन्धु इस बातको भूल गये हैं। बीस पीढ़ियों तक इस देशमें रहते-रहते उन्हें इसका क्या पता हो सकता है? लेकिन, हमारा क्षत्रप-पुरोहितोंका कुल है। हम भी राजसी वैभव भोगते अपनी वंश-परम्पराका अभिमान करते हैं, इसलिये उसे हमारे घरोंमें सुरक्षित रक्खा गया है। चष्ठन, नहपान जैसे अपरिचित नाम बतलाते हैं, कि हमारे यजमान क्षत्रप इस देशके नहीं थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मेरा पुत्र शकोंकी भूमि देख आये।

मैंने वृद्धाको बतलाया—बुद्धिल शकोंकी भूमिके पास तक चले गये थे, शायद हम दोनोंमें स्नेह न हुआ होता, तो कपिशा (काबुल) से वह उसी ओर बढ़ते। मेरे साथ वह फिर एक बार प्रायः देखी हुई भूमियोंमें विचरण करनेके लिये लौट पड़े। लेकिन, हमने शकों की भूमिमें जानेका संकल्प कर लिया था, मित्र के न होने पर भी मैं उसके संकल्पको जरूर पूरा करूँगा।

* * *

अब मैं फिर मध्यमंडलमें था, जहाँके ग्राम-नगर, बोली-वाणी, रीति-रवाज सुपरिचित और आत्मीय जैसे मालूम होते थे। मौखरियोंकी सीमाके भीतर पहुँचनेपर और भी सुव्यवस्था और शान्ति दिखलाई पड़ रही थी। जगह-जगह ग्राम, निगम और नगर थे और जगह-जगह विहार। मुझे अकेले जानेमें भी कोई दिक्कत नहीं थी और चलनेवाले भिक्षु भी मिल जाया करते थे। वसन्तके आरंभ तक धूपका भी उतना कष्ट नहीं था। उसके बाद सन्ध्या, सवेरेको ही हम चल सकते थे। विदिशामें चैत्यागिरका दर्शन करना, वहाँ तथागतके अनुश्रावक सारिपुत्र और मौद्गल्यायनकी धातुओंपर बने चैत्योंका दर्शन करना जरूरी था। वहाँ मैं पाँच रात रहा। चैत्यके सुन्दर तोरणों और उन पर बनी मूर्तियोंको देखकर फिर मुझे बुद्धिल जोरसे याद आने लगे। उन्होंने कौशाम्बी के श्रेष्ठीके सामने ऐसे ही वेश-भूषावाली मिट्टीकी मूर्तियोंको बनाकर बतलाया था,—"एक देशमें भी हर बातमें बराबर परिवर्त्तन होता रहता है। किसी समय तथागतकी प्रतिमा नहीं होती थी, बल्कि पीठ, बोधिवृक्ष और चैत्य को प्रतीक मान कर उनकी पूजा की जाती थी।"

विदिशासे गोपगिरि (ग्वालियर) होते मैं मथुराकी ओर बढ़ा। मथुरामें ही वर्षावास करनेका निश्चय कर लिया था, लेकिन वहाँ वर्षासे दो महीने पहिले पहुँच गया। गर्मी तीव्र हो गई थी। इतने दिनोंकी यात्राके कारण कुछ थकावट और उससे भी अधिक कुछ सान्त्वना मनको हो चुकी थी, इसीलिये

मैंने वहीं वर्षावास करनेका निश्चय किया। मथुरा भी शकों की राजधानी थी। मुझे कुछ विश्वास हो गया था, कि शक और उद्यानवासी हम खस एक ही जाति के हैं, इसलिये शकोंके पुराने स्थानों और उनके वंशजोंको देखकर उनसे एक तरहकी आत्मीयता मालूम होती थी। साथ ही मैंने यह भी देखा था, कि शकोंकी तथागतके प्रति कितनी अपार श्रद्धा थी, जिसका परिचय उनके बनाये विहार और स्तूप कपिशा, नगरहार, तक्षशिला, कश्मीर, भरुकच्छ, उज्जयिनी आदि सभी जगहोंपर अब भी मौजूद हैं। मथुरासे उनके राज्यको उठे डेढ़ सौ वर्षसे ऊपर हो गये, किन्तु अब भी कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियोंके बनवाये विहार मौजूद थे। मौजूद ही नहीं, बल्कि अच्छी अवस्थामें थे, यद्यपि यही बात शक-प्रासादोंके बारेमें नहीं कही जा सकती। मथुराकी राज्यलक्ष्मीको लूट कर कान्यकुब्जका संवर्द्धन किया गया। कान्यकुब्जके राजधानी बननेसे पहले अभी भी मथुराकी अवस्था उतनी हीन नहीं हुई थी। कनिष्क, कद्फिस आदि शक राजाओंकी पुरुष-मात्र सुन्दर प्रतिमाओंको देखकर मुझे विश्वास हो गया, कि वह अवश्य उसी देशसे आये होंगे, जहाँसे हेफ्ताल (श्वेत-हूण)। तुषार और उसके उत्तरसे आनेवाले लोगोंको मैंने अपनी जन्मभूमि तथा कपिशामें देखा था। उनकी वेष-भूषासे इसमें बहुत समानता थी। घुटनों तकके जूते तो इन शक-राजाओंकी मूर्तियोंमें ठीक वैसे ही थे, जैसे उन उत्तरी लोगोंमें।

उरुमुन्ड (गोबर्धन) पर्वतकी महिमा और पुनीतताके बारेमें मैं कबसे सुनता और पढ़ता चला आ रहा था। जिस सर्वास्तिवाद निकायने मुझे भिक्षु बनाया था, यह क्षुद्र पर्वत कभी उसका केन्द्रस्थान था। आज भी वहाँ आर्य सर्वास्तिवाद निकायके भिक्षुओंका पुराना विहार मौजूद था। मैंने वर्षावास किया। यहाँ सर्वास्तिवादके ज्येष्ठ स्थविर साणवासका सनका एक चीवर रक्खा हुआ था। इस तरहकी चीजोंको देखते-देखते तथा बुद्धिलकी बातोंसे सुननेके कारण मुझे अब ऐसी चीजोंकी सत्यतापर पूरा विश्वास नहीं रह गया था, लेकिन यह तो जानता था, कि साणवास महास्थविर

बड़े सरल और अकिंचन वृत्तिसे रहा करते थे, इसीलिये उन्होंने कपासके सूक्ष्म वस्त्रोंको न स्वीकार कर सनके बने हुये रूखे चीवरको धारण करना शुरू किया था। साणवास स्थविर केवल सर्वास्तिवादियोंके ही पूज्य पितामह नहीं हैं, बल्कि सिंहलके महाविहार तथा दूसरे सभी स्थविर निकायवाले उनको अपना परमगुरु मानते हैं। उरुमुंड पर्वतके आसपास दूर तक जङ्गल चला गया है, जिसकी शक-शासनके नाशके बाद कुछ वृद्धि हुई है, क्योंकि कुछ पुनीत चैत्योंको देखनेके लिये जब सिंह-व्याघ्रवाले इस घोर जंगलमें जाते, तो हमें कहीं-कहीं उजड़े गाँवों और घरोंके अवशेष मिलते। तुला (तराजू) की डाँड़ीकी तरह एक तरफ जब बोझा भारी होता, तो डाँड़ीका दूसरा सिरा उठ जाता। इसी तरह देशों, ग्रामों और जातियोंके भाग्यकी भी बात है।

बुद्धिलसे वंचित होनेके बाद यह मेरा दूसरा वर्षावास था। इस बीचमें यद्यपि मेरी मानसिक स्थितिमें बहुत सुधार हुआ था, किन्तु अभी भी किसी बातमें मन पूरी तौरसे लगता नहीं था। भदन्त उपगुप्तके लिये नट, वट दो उपासकोंने उरुमुंड पर्वतके पास इस नट-वट विहारको बनाया था, जिसमें ३०० से ऊपर भिक्षु उस वक्त वर्षावास कर रहे थे। उनमें एक चीनी भिक्षु मेरे पासकी ही कोठरीमें रहते थे। उनसे मेरी घनिष्ठता हो गई। हम कितनी ही बार साथ-साथ इधर-उधर घूमने जाते। मेरी चीन जानेकी इच्छा और भी बलवती हो गई।

पहलेपहल देखनेपर मेरे दिलमें कुछ ख्याल तो आया, लेकिन वर्षोंसे देखते-देखते वह मामूली बात हो गई। यहाँके नगरों और निगमोंमें चांडाल जातीय कोई पुरुष जब प्रवेश करता है, तो उसके हाथमें एक डंडा होता है। किसी आदमीको पास देखकर वह डंडेको जमीन पर पटक-पटक कर संकेत करता है, ताकि उसकी छायासे बचनेके लिये आदमी हट जाये। चांडालके स्पर्श से ही नहीं, छायासे भी आदमी अपवित्र हो जाता है! चीनी भिक्षुने एक दिन बड़ी हैरानीके साथ इस बातपर टोक दिया। मैं सोयेसे जग उठा। सचमुच ही मनुष्यको इतना नीच समझना क्या ठीक है? हम भिक्षुओंको देखकर भी वह

उसी तरह डंडा पटकते थे। हम शाक्यपुत्रीय भिक्षु शाक्यमुनिकी सन्तान कहे जाते हैं। शाक्यमुनिने चांडाल और ब्राह्मण सबको समान माना। जन्मसे मानवमात्र बराबर है, इसकी मुँहसे ही घोषणा नहीं की, बल्कि अपने संघमें चांडाल जातिके नर-नारियोंको समान रूपसे भिक्षु, भिक्षुणी बनाया। चीनी भिक्षु इसे देखकर संतुष्ट थे, कि नट-वट विहार या और भी विहारोंमें चांडाल जातिके भिक्षु रहते थे, और संघमें उनका अधिकार सबके समान था। वहाँ न रंगभेद बरता जाता था, न जाति-भेद। पर वह उतनेसे संतुष्ट नहीं थे: हमारा भिक्षु-संघ तो समुद्रमें बूँदकी तरह है। बूँदके भीतर इस समानताके बर्तनेसे क्या बनता है? बाहर तो चांडाल चांडाल ही है। उन्होंने बतलाया, कि हमारे देशमें यह बात नहीं देखी जा सकती। वहाँ गरीब है, धनी हैं, उच्चकुलीन और नीचकुलीनका भी भेद माना जाता है, लेकिन किसीके स्पर्श या छायासे आदमी अपवित्र हो जाता हो, यह देखनेमें नहीं आता।

यह खटकनेवाली बात थी। तथागतके उपदेशके बीजको पड़े एक हजार वर्ष हो गये, और अभी भी यह जातिवाद उनकी जन्मभूमिसे दूर नहीं हुआ। मैं जब विचार करता तो मालूम होता, यह भेदभाव शायद इस भूमिसे कभी हटेगा ही नहीं। तो क्या इस विषयमें तथागतका प्रयत्न सर्वथा असफल रहेगा? यह सोचते मन क्षुब्ध हो जाता। कभी सोचता, इसका क्या कारण हो सकता है? हमारे उद्यानमें भी यह बात देखनेमें नहीं आती। वहाँ जातियाँ तो कई हैं, उनमें धनी-गरीब, कुलीन-अकुलीन भी होते हैं, लेकिन किसीके साथ इस तरहका बर्ताव नहीं होता। चांडाल प्रायः सभी काले होते हैं, लेकिन कम या बेसी काले आदमी किसी जातिमें भी मिल सकते हैं। उसके कारण ही क्यों किसीको पशुतुल्य समझा जाये। मेरी भावना बड़ी उग्र हो उठी थी, मैं वहाँ और आगे भी अपने परिचित भिक्षुओंसे इसके बारेमें बड़ी कठोरतासे बात करता। यदि मुझे स्वदेश छोड़ना न पड़ता, और मध्यमंडलमें ही कहीं रहना होता, तो इसमें सन्देह

इस तरहके वर्तावको हर तरहसे हटानेकी कोशिश करना, मैं अपने जीवनका उद्देश्य बनाता। मैं मानता हूँ, एक-दो आदमी इसके लिये कहाँ तक कर सकते हैं, किन्तु जिस चीजको बुरा समझ लिया, उसके हटानेकी तो कोशिश करनी ही चाहिये।

मध्यमंडलके विहारोंपर सामन्तों और राजवंशों के भाग्य पलटनेका असर पड़ा दिखाई पड़ता है, इसके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन, अब भी नये विहारों का बनना बन्द नहीं हुआ है। नये या पुराने विहारोंको श्रद्धालु भूमि बाग, फुलवाड़ी आदि दान देते हैं। राजाओंने अपने पहलेके राजाओंके दानको लोप नहीं किया। इसे वह बुरा मानते हैं। लेकिन, जब कोई विहार ही उजड़ गया हो, तो उसके लिये दी हुई सम्पति कैसे अक्षुण्ण रह सकती है।

जमुनाके नातिदूर पश्चिम उरुमुँड (गोवर्धन) पर्वतमें वर्षावास करते समय कितनी ही बार मुझे ख्याल आता: अब शायद फिर बुद्धोंकी भूमिको देखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त होगा। जमुना और गंगाका नाम सुनकर यद्यपि वह बार-बार याद आयेगी। तथागतने इस भूमिको पवित्र किया, और इसके लिये बहुत किया। पिछले हजार वर्षोंमें इस भूमिके दर्शनके लिये चारों दिशाओंसे कितने ही लोग बड़ी भक्तिपूर्वक आते रहे। मुझे भी यदि आनेका अवसर मिलेगा, तो बुद्धिलकी याद फिर उसी तरह दुःखद हो उठेगी।

महाप्रावारणाके बाद उरुमुँडसे और भिक्षुओंके साथ मैं मथुरा गया और अशोकके बनवाये तीनों स्तूपोंकी पूजा की। शुन्दवनमें भी फूल चढ़ाये, जहाँपर तथागत रह चुके थे। फिर मैंने उत्तराभिमुख प्रस्थान किया। जमुना हमारे दाहिने जा रही थी। भूमि हरी-हरी, गाँव सस्यसम्पन्न थे। यात्रामें साथी मिल ही जाते थे, किन्तु मैंने किसीको अपना स्थायी साथी नहीं बनाया। अब भी मेरे ऊपर मित्र-वियोगका प्रभाव था और दूसरोंसे बात करनेकी अपेक्षा अपने विचारोंमें डूबे रहना मुझे अच्छा लगता था। ऐसे साथीका साथ किसीके लिये सुखद नहीं हो सकता।

मथुरासे चलकर दो ही तीन दिनोंके बाद हम यौधेयोंकी भूमि (हरियाना) में घुसे। अब भी यौधेय वीरोंकी गाथायें हमें सुननेको मिलती थीं। कपिलवस्तु और वैशालीकी यात्राकी बातें मुझे याद आने लगीं, जब सुना, कि आजसे डेढ़ सौ वर्ष पहले यौधेयोंका एक शक्तिशाली गणराज्य यहाँ था, जिसे समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त ने बड़ी क्रूरताके साथ ध्वस्त किया। आज गुप्त-सम्राटोंका प्रताप-सूर्य अस्त सा हो गया है, लेकिन समुद्रगुप्त-चन्द्रगुप्तको यौधेयोंको उच्छेद करते समय क्या पता था, कि उन्हें स्वयं भी एक दिन उच्छिन्न हो जाना पड़ेगा।

रास्तेमें हमें जमुनाके तटपर इन्द्रप्रस्थ गांव मिला। प्रस्थ (पत) नामवाले न जाने कितने गाँव इस भूमिमें मिलते हैं, जिनमेंसे कुछसे होकर मुझे गुजरना पड़ा। इन्द्रप्रस्थ किसी समय पांडव युधिष्ठिरकी राजधानी थी। उस समय शायद यह नगर रहा हो, लेकिन आज तो वह एक बड़े गाँवसे बढ़कर कुछ नहीं है। यौधेय उसको कोई महत्व नहीं देते, लेकिन पूर्वसे जब-जब उनकी भूमिपर आक्रमण हुआ, तब-तब इन्द्र-प्रस्थमें ही उनके शिविर लगे। आजकल तो यौधेय-भूमिका सबसे बड़ा नगर स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगरी है, जहाँके राजा अपनेको मौखरियोंका समकक्ष मानते हैं। सरस्वतीके किनारे बसे हुये इस विशाल नगरका महत्व गुप्तोंके ह्रासके बाद बढ़ चला है। हेफ्तालों (श्वेत-हूणों) के साथ प्रतिरोध करनेके लिए गुप्त-राजाओंने जिस सामन्तको यहाँ रक्खा था, वह अब स्वतन्त्र राजा हो गया। मौखरियोंकी तरह स्थाण्वीश्वरका वंश बाहरसे आया नहीं, बल्कि यौधेयगणके किसी प्रमुखकी सन्तान है। अपनी गण-व्यवस्थाको खोकर भी यौधेय अब भी युद्धवीर हैं। यदि रास्तेमें वह न होते, हूणों को बड़े वेगसे आगे बढ़नेको कोई रोक नहीं सकता था। स्थाण्वीश्वरके पास ही वह कुरुओंका धर्मक्षेत्र है, जहाँ कौरवों और पांडवोंमें लड़ाई हुई थी। कौरवों और पांडव आज केवल कथाओंमें सुने जाते हैं, स्थाण्वीश्वरके राजाओंको तो उनमें भी शायद न याद किया जाये।

* * *

स्थाण्वीश्वरकी सरस्वती-उपत्यका मध्यमंडलकी सीमा है, जिससे पश्चिम चलनेपर अब हम उत्तरापथसे चल रहे थे। पहले भी इस भूमिसे हम गुजर

चुके थे, लेकिन अबकी स्थाण्वीश्वरसे स्रुघ्न पहुँच कर हमने पहलेका रास्ता पकड़ना नहीं पसन्द किया, और कितने दिनों तक चलते तीन बड़ी और कितनी ही छोटी नदियोंको पार कर चन्द्रभागाके किनारे शाकला (स्यालकोट) में पहुँचे। वहाँसे पुराना रास्ता पकड़ लिया। जाड़ोंका मध्य था, कितनेही वर्षों बाद अब हम फिर हिमवान्के पहाड़ोंके भीतर घुसे। काश्मीर नगरीमें कुछ दिनों ठहरना जरूरी था, क्योंकि उद्यानकी ओर जाने वाले घट्ट (डाँड़े) हिमपातके कारण अब बन्द हो चुके थे। राजा मिहिरकुलके मर जाने पर हूणोंकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। उनके सभी सामन्त अपनेको परमभट्टारक महाराजाधिराज घोषित कर रहे थे। यह बाहरी शत्रुओंको आक्रमण करनेके लिये निमन्त्रण देना था। लेकिन, यह बातें तो बराबर ही दोहराई जाती हैं। अपने स्वार्थोंके सामने दूरदर्शी बनना आदमीके बसकी बात नहीं है। मिहिरकुलने अपने जीवन के अन्तिमकाल में यद्यपि तथागतके शासनके प्रति अपने द्वेष-भावको हटा ही नहीं दिया था, बल्कि विहारोंको दान-दक्षिणा देनेमें उदारता भी दिखलाई थी। पिछली बार कश्मीर नगरीसे जाते समय मैंने जैसा छोड़ा था, उससे अब यहाँके विहारोंकी अवस्था बेहतर थी। पुराने सामन्तवंशोंमेंसे कुछ शक्तिसम्पन्न होनेमें सफल हुये थे, जिनकी उदारताको विहारोंमें देखा जा सकता था।

वसन्त कश्मीर-उपत्यकाको फूलों का उद्यान बना देता है और सुप्त प्रकृति अट्टहास करती उठ खड़ी होती है। अभी हिमाच्छादित घट्टोंके खुलनेमें देर थी। लेकिन, मैं हिमभूमिका शिशु था। हम ऐसे घाट्टोंके भी पार करनेके आदी हैं, यदि वह हमारी जन्मभूमिमें हों। कश्मीरसे जाने में किसी साथीके साथ जाना आवश्यक था। मिहिरकुलके मरनेके बाद शासन-व्यवस्था अब उतनी सुव्यवस्थित नहीं थी, जिसके लिये भी ऐसा करना जरूरी था।

मैं बड़ी उत्कण्ठासे रास्ता खुलनेकी प्रतीक्षा करता रहा। मैं अपनी जन्मभूमि देखने जा रहा था। वस्तुतः अपने जीवनकी सबसे बड़ी और अन्तिम यात्राके लिये तैयार हो चुका था। हिमवान्के उत्तरके देशोंके जो भी भिक्षु या दूसरे

आदमी मुझे मिलते, उनसे मैं वहाँके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकी पूरी कोशिश करता। यह ज्ञानको कण-कण करके जमा करना था। अपनी आँखोंसे देखी चीजोंका वर्णन करना भी हरेकके बसकी बात नहीं, तो भी प्रत्यक्षदर्शी-की बातें अधिक प्रामाणिक होती हैं। सुनी-सुनाई बातोंमें अतिरंजनसे बहुत काम लिया जाता है, और उससे सच-झूठका पता लगाना कठिन हो जाता है। कश्मीरके विहारोंमें कांस्यदेश, कूचा और दूसरे देशोंके भिक्षु पढ़नेके लिये आया करते हैं, इसलिये जहाँ तक कांस्यदेशका सम्बन्ध था, उनसे मुझे कितनी ही बातें मालूम हुईं। वह अपनेसे उत्तरके खूनखार जातियोंकी सुनी-सुनाई बहुत सी बातें कहते थे। अवारोंकी क्रूरताकी जो कथायें उन्होंने सुनाईं, उन्हें सुनकर साधारण तौरसे आदमी उनके देशकी ओर जानेका संकल्प न करता, लेकिन मेरे लिये तो वही यात्रा सबसे प्रिय और आकर्षक थी, जो सबसे अधिक संकटापन्न हो। वैसे मेरी अब तककी यात्रा भी अकेले नहीं हुई थी। कई वर्षों तक बुद्धिलकी छायामें मैं चलता रहा और उसके बाद जब तब, जहाँ-तहाँके लिये साथी मिल जाते थे, किन्तु आगेकी यात्राके लिये मैंने सब सुनकर निश्चय कर लिया था, कि कुछ स्थायी साथियोंको लेना आवश्यक है। जब अपनी जन्म-भूमिसे निकला था, उस समय मैं नवतरुण था, मेरा बाल्य अभी समाप्त नहीं हुआ था। देशाटन और इतना काल मुझे वयस्क बनानेके लिये पर्याप्त था, लेकिन उसमें बुद्धिलके वियोगने सम्मिलित होकर मुझे अकाल ही में प्रौढ़ बना दिया था। मेरे रूप-रंगपर उसका प्रभाव भले ही न पड़ा हो, किन्तु व्यवहार और बात-चीतसे मैं अब प्रौढ़ मालूम होता था। इसका यह लाभ मुझे जरूर हुआ, कि मेरी बातका मूल्य अब बढ़ गया था।

मैं पहले हीसे इस बातका प्रयत्न कर रहा था, कि सिन्धुनदकी तरफ जाने-वाला कोई सार्थ मिल जाये, तो यात्रामें सुभीता हो। उद्यानके लोग भी व्यापार करते हैं, लेकिन वह छोटे-छोटे व्यापारी हैं, जो स्वतन्त्र अपना सार्थ नहीं संचा-लित कर सकते। संयोगसे एक कश्मीरी श्रेष्ठीसे मेरा परिचय हो गया, जिसके द्वारा कम्बोज जानेवाले एक सार्थका पता लग गया। मेरी जन्मभूमिके पास ही

कम्बोजदेश था। इस यात्रासे पहले मैं नहीं समझता था, कि पूर्वमें कोई और भी कम्बोजदेश है। अब जानता हूँ, कि वहाँ केवल एक दूसरा कम्बोजदेश ही नहीं, बल्कि गन्धारदेश भी है। नामोंकी आवृत्ति हुआ ही करती है। अपनी जन्मभूमिसे दूर गये लोग अपने यहाँके नामोंको वहाँके पर्वतों, नदियों, ग्रामों और जनपदोंको देते हैं। साथके सार्थवाहको भी मैंने अपने अनुकूल पाया, यद्यपि वह बड़ा चिड़चिड़ा आदमी था। श्वेत-हूणोंके सम्बन्धके कारण उसने अपनी जन्मभूमि कपिशा छोड़ कश्मीरमें अपना कारबार शुरू किया, और अब वह यहाँके सबसे बड़े सार्थवाहोंमें था। सीमान्तकी भूमि क्रूर घुमन्तुओंसे आक्रान्त थी। वहाँ बड़े हिम्मतवाले ही जा सकते थे। सार्थवाह बड़ा निर्भीक आदमी था, इसे कहनेकी अवश्यकता नहीं।

हम कश्मीर भूमिसे निकल एक बड़े डाँड़ेको पार कर कितने ही दिनों चलनेके बाद सिन्धुनदके तटपर पहुँचे। सिन्धुनदका यह मेरा अन्तिम दर्शन था। इसी सिन्धुने पश्चिमके देशों और उनके कारण चीनमें भी हमारे देशको अपना नाम दिया था—पारसीक इसी महानदके कारण हमारे देशको हिन्दू (सिन्धु) देश कहते और उन्हींसे सुनकर महाचीनके लोग भी इन्दु कहते हैं।

अध्याय १०

देश-प्रत्यावर्त्तन (५४८ ई०)

सात वर्षोंकी तीर्थयात्राके बाद २६ वर्षकी उमरमें मैं उद्यानकी भूमिमें लौटा। इतने समय तक मेरे पैर ही भारत और सिंहलकी भूमिको नहीं नाप रहे थे, बल्कि मैं जहाँ गया, वहाँ विद्या पढ़नेके किसी अवसरको हाथसे जाने नहीं दिया। उद्यानमें यद्यपि हीन-यानकी प्रधानता थी, लेकिन भारत और भारतसे बाहर महायानकी बाढ़ जिस तरह आई, उससे उद्यान अछूता कैसे रह सकता था? मेरे ऊपर तो उसका खास तौरसे प्रभाव पड़ा था। प्रथम पहाड़ी घाटी और फिर सुवास्तु नदीको पार कर मैं उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ मेरे गाँववाले जाड़ा बिताया करते थे। मेरे पिता स्वस्थ और प्रसन्न मिले। गाँवके बन्धुओंने मेरा बड़ा स्वागत किया और रहनेका बहुत आग्रह किया। जाड़ेका मध्य था, और यद्यपि सुभूमि विहारका रास्ता बन्द नहीं था, लेकिन तो भी अपने जातिबन्धुओं-की बातको मानकर मैं वहीं ठहर गया।

सात सालों तक मैं गरम देशोंमें घूमता रहा, इसलिये उसका कुछ प्रभाव मेरे रूप-रंगपर पड़ना जरूरी था। तथागतकी पवित्र धातुओं और उनके चरण-स्पर्श से पुनीत स्थानोंका दर्शन करके मैं अपनेको कृतकृत्य समझता, था, तो भी उद्यानकी प्यारी भूमि माताकी गोद की तरह मुझे प्रिय लगी। अभी उद्यानके एक छोर हीपर मैं पहुँचा था, लेकिन अभीसे वहाँके हरेक खान-पानमें ऐसा रस मिलने लगा, जिससे मैं इतने दिनों तक वंचित था। उद्यानकी भाषा बोलनेमें भी मुझे एक प्रकारके रसकी अनुभूति होती थी। सात वर्ष बहुत नहीं कहे जा सकते, लेकिन इसी बीच कितने ही नये चेहरे दुनियामें आकर खेल-कूद रहे थे, कितने ही परिचित चेहरे दुनियासे विदाई ले चुके थे। अब भी येथोंका शासन मौजूद था, लेकिन एक ही साल पहले राजा मिहिरकुल मर

चुका था। मिहिरकुलको मैंने उसके हाथसे निकल गये देशोंमें बहुत क्रूर होनेकी बात सुनी थी, लेकिन जहाँ तक उद्यानका सम्बन्ध था, हम उसकी कुछ कामुक वृत्तियोंको छोड़कर और कोई शिकायत नहीं कर सकते थे, कामुकता तो राजाओं और सामन्तोंमें थोड़ी बहुत सभी जगह होती है। मिहिरकुलका नाम लिये जाने पर भद्राकी याद आनी स्वाभाविक थी, लेकिन अब वह मेरे लिये अपरिचित नारी सी थी।

देशमें लौटकर क्या करना है, इसके बारेमें मैंने बहुत विचार नहीं किया था, तो भी अपने विहारमें जाना तो निश्चित था, और चिरकालके बाद लौटनेके कारण उसके प्रति अधिक आकर्षण भी मालूम होता था। मेरे गाँव वालोंका आग्रह था, कि मैं पयारपर उनके डेरोंमें वर्षा विताऊँ। बचपनका प्यारा पयार मेरे लिये अब भी बहुत भारी आकर्षण रखता था। मैंने पिता और दूसरे बन्धुओंसे आनेका पक्का वचन तो नहीं दिया, लेकिन इन्कार भी नहीं किया।

जाड़ेको एक-एक दिन करके बीतते देरी नहीं लगी। ऊपरसे यहाँ आये उद्यानी अपने गाँवोंकी ओर लौटनेकी तैयारी करने लगे। मेरे गाँववाले भी स्वात (सुवास्तु) नदीके किनारे-किनारे चले। रास्तेमें (मङ्गलोर) आस-पासके कई पवित्र स्थानोंके दर्शन मैंने फिर किये। महावन (विहार)के दर्शनोंके लिये मुझे दो दिनका रास्ता काटना पड़ा। मङ्गलपुरको उद्यानका केन्द्र नहीं कह सकते, लेकिन जहाँ तक पवित्र स्थानोंका सम्बन्ध है, इसके चारों ओर वह भारी संख्यामें बिखरे हुये हैं। उद्यानके भिक्षुओंके लिये तथागतके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले मध्यदेशके पवित्र स्थानोंकी यात्रा असाधारण सी बात नहीं है। हमारे लोग वहाँकी गर्मी और साँपोंसे बहुत घबराते हैं, तो भी तीर्थयात्रासे अपनेको वंचित नहीं रखना चाहते। भिक्षु और कितने ही गृहस्थ नर-नारी भी इन यात्राओं पर जाते हैं। हमारे लोगोंने इस कमीको पूरा करनेके लिये अपने पास-पड़ोसके कपिशा, गन्धार और कश्मीर जैसे शीत-प्रधान प्रदेशोंमें बहुतसे

पवित्र स्थान स्वीकृत कर लिये हैं, जहाँ वह हर साल हजारोंकी संख्यामें आया करते हैं।

घूमते-घामते मैं वर्षारम्भसे एक महीना पहले सुभूमिमें पहुँचा। मैंने अपने बन्धुओंको निश्चित वचन इस वजहसे नहीं दिया था, कि इतने वर्षों बाद विहारमें लौटनेपर आचार्य और उपाध्याय इसके लिये आज्ञा दे सकेंगे, इसका मुझे विश्वास नहीं था। वहाँ पहुँचनेपर मालूम हुआ, कि इसी जाड़ोंमें महास्थविर गुणवर्द्धन और मेरे गुरु तथा चचा भदन्त जिनवर्माका देहान्त हो गया। विहार-के नये नायक स्थविर शीलस्कन्ध मेरे पुराने परिचित थे। उन्होंने भी मेरे प्रति कम स्नेह नहीं दिखाया, किन्तु यह निश्चित ही था, कि उनकी ओरसे मेरे पयारमें वर्षावासमें बाधा नहीं होगी। विहार मेरा स्वागत करनेके लिये तैयार था, इसलिये लौटकर विहारमें ही मुझे रहना था।

प्रस्थान करके वर्षोपनायिका (आषाढ़ पूर्णिमा)से पहले ही मैं अपने गाँववालोंके डेरोंपर पयारके ऊपर पहुँच गया, मेरे साथ धर्मयश तथा तीन और भिक्षु भी थे। भिक्षुओंका वर्षावास डेरोंमें कैसा होता है, इसका मुझे पता था। इतने वर्षों तक गरम देशोंमें रहनेके बाद पयारमें तीन महीने रहना मेरे लिये स्वर्गवास जैसा मालूम हो रहा था।

भिक्षुओंका सम्मान गृहस्थ देवताकी तरह करते हैं, जिसमें सभीके भाव केवल चित्त-प्रसाद प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं होते। वह आशा रखते हैं, कि अपनी दिव्य शक्तिसे भिक्षु हमारे कष्टोंको दूर कर देंगे। सभी जगह लोगोंकी भावनायें बहुत कुछ एक जैसी होती हैं। दुःख कहाँ नहीं होता? वस्तुतः सुख तो दुःखके अनन्त समुद्रमें एक द्वीपकी तरह कभी-कभी प्राप्त होता है। मैंने प्रमाणशास्त्रका अध्ययन किया था। दिग्नागकी प्रखर बुद्धिका चमत्कार ही उसमें नहीं देखा था, बल्कि उसके कारण कितनी ही बातोंसे मेरा विश्वास भी उठ गया था, लेकिन आदमी के भीतर कितनी परस्पर-विरोधी भावनायें रह सकती हैं, यह मुझे अपने अतीत और वर्तमानके जीवनको देखनेसे अच्छी तरह मालूम होता है। मैंने कितनी ही बार "किं

करिष्यन्ति तारका:" को कहते हुये ज्योतिषके फल भाखनेको झूठा बतलाया, मन्त्र-तन्त्रपर भी मेरी आस्था विचलित हो चुकी थी । नागार्जुनके माध्यमिक दर्शनके अध्ययनके बाद और भी बहुत सी बातोंसे मेरा विश्वास डिग गया और देवी-देवता तथा दूसरे दिव्य पुरुषोंका ख्याल गलत मालूम होने लगा । लेकिन अब सोचने पर मालूम होता है, कि ऐसा समय शायद कभी नहीं हुआ, जब कि मैं किसी बातको एकान्ततया असत्य कह सकता था, और किसी बातको एकान्ततया सत्य ।

मनुष्य अपनी कमजोरियोंका मारा हुआ है । वह जबर्दस्ती ऐसी बातोंको करनेके लिये मजबूर होता है, जिसके करनेमें उसकी रुचि नहीं होती । गृहस्थोंके रोगकी चिकित्सा करनेका मुझे कुछ सफल तजर्बा भी था और उसपर मेरा पूरा विश्वास था, किन्तु जब वह किसी बाधाको दूर करनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके प्रयोगके लिये कहते, तो मैं इन्कार भी नहीं कर सकता था । उनकी असहाय अवस्था देखकर इन्कार करनेमें मुझे निष्ठुरता दिखाई पड़ती । उनका विश्वास था, इसलिये वैसा करनेसे उनके हृदयको कुछ सान्त्वना मिल जाती है । इसी विचारसे मैंने अपनी वर्तमान यात्रामें मगध और दूसरे स्थानोंमें कितने ही प्रसिद्ध मन्त्रज्ञ भिक्षुओंसे कुछ मन्त्र सीख लिये थे, जिनका प्रयोग करनेमें पहले संकोच भले ही होता हो, लेकिन अब मैं उनके प्रयोगमें हिचकिचाता नहीं था । सूत्र-पाठोंसे पुण्य प्राप्त करना तो तथागतके समयसे ही चला आता था, लेकिन मुझे यह पसन्द नहीं था, कि लोग सूत्रोंका पाठ करानेकी जगह हमसे मन्त्रोंका पाठ करायें । बिना अर्थवाले मन्त्रोंके दोहरानेसे कोई ज्ञान या शिक्षा तो प्राप्त नहीं हो सकता ।

हम पाँचों भिक्षु पयार पर तीन महीने वर्षावासके लिये रहे । मेरे और दूसरे गाँवके पयार-प्रवासी रोज सन्ध्याके समय एकत्रित होते और प्रायः रोज ही मुझे उपदेश देना पड़ता । उपदेशका जो ढंग मैंने यात्रामें देखा था, वह हमारे उद्यानके पुराने ढंगसे कुछ विलक्षण था । महायानका

प्राबल्य बढ़नेके कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि तथागतके मानवोचित चरित्रकी अपेक्षा बोधिसत्त्वोंकी चमत्कारपूर्ण कथायें लोगोंको अधिक प्रिय थीं। मैं यह तो नहीं कह सकता, कि तथागतके मानवोचित चरित्र मेरे लिये अप्रिय नहीं रह गये, लेकिन केवल अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्न करना, अर्हत् होकर संसार सागरसे पार हो जाना मुझे कुछ अच्छा लक्ष्य नहीं मालूम होता था। अवदानोंकी कथाओंको सुनते मुझे पहले यही अच्छा लगता था, कि मनुष्य अपने सुख और मुक्तिके लिये न जीवे, बल्कि वह दूसरोंके हितके लिये अपनेको भूल जाये, यही मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य हो सकता है। इन यात्राओंमें नालन्दा जैसे बड़े-बड़े विहारोंमें मैं जाकर रहा था, जहाँके पंडितोंका लोहा सर्वत्र माना जाता था। पर्वतों की कितनी ही गुहाओंमें गया था, जहाँपर बड़े-बड़े ध्याननिष्ठ भिक्षु रहा करते थे। सभी जगह मैंने यही बात सुनी—बोधिसत्वोंका मार्ग ही एकमात्र महान् मार्ग (महायान) है। केवल अपनी मुक्तिको लक्ष्य बनाना हीनमार्ग (हीनयान) है। मैंने इस विषयपर बहुत से ग्रंथ पढ़े थे, बड़े-बड़े वाग्मियोंके उपदेश सुने थे, वाद-विवादमें महायानके समर्थकोंको विजय प्राप्त करते देखा था, इसलिये मेरे मनमें बैठ गया था, कि यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। इस वर्षावासके समय मैंने जो उपदेश दिये, उनमें बोधिसत्त्वों और उनके मार्गकी महिमा ही अधिक थी। लेकिन, उद्यानकी स्थितिको देखकर मैं नहीं कह सकता, कि उपासकों और उपासिकाओंको मांस-भक्षणका सर्वथा त्याग करना चाहिये। मध्यमंडलमें मांस भोजनसे विरत लोगों को मैंने देखा था, लेकिन भिक्षु-संघने उसे कहीं वर्जित नहीं ठहराया था।

उपदेशोंके अतिरिक्त पयारमें हरेक बीमारको देखना और उसकी चिकित्सा-का काम भी मेरे ऊपर था। सबसे अरुचिकर काम था भूत-प्रेत झाड़ना, मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग करना। जिन लोगोंका इन बातोंपर विश्वास था, वह तर्क और युक्तिको माननेके लिये तैयार नहीं थे। घंटों या दिनों तक मत्थापच्ची करनेकी जगह यही बेहतर था, कि वहाँ जाकर कुछ मन्त्र जप दिये जायें। लाभ हो गया तो अच्छी बात है, न हो गया तो उसके लिये भी लोग बुरा नहीं मानते थे।

मैं अभी जवान था। उद्यानमें एक जाड़ा तथा पयारमें कुछ समय बिताने-के बाद ही मेरा रंग-रूप और स्वास्थ्य पहलेकी अपेक्षा भी अच्छा हो गया। हमारे उद्यानमें भिक्षुसे फिर गृहस्थ बन जाना मामूली बात थी। भिक्षु-जीवन-में आदमी जो शिक्षा और अध्ययन करता है, उसका गृहस्थ जीवनमें उतना उपयोग नहीं है, तो भी शिक्षित होनेके कारण भिक्षुसे गृहस्थ हुये व्यक्तिका मूल्य बढ़ जाता है। उद्यानकी सुन्दरियोंको तो तरुण भिक्षुओंको अपनी ओर खींचनेमें बड़ा आनन्द आता है। वह अपनी सफलतापर उसी तरह सन्तुष्ट होती हैं, जैसे कोई शिकारी शिकार करनेमें सफल होने पर। मेरे साथियोंमें, अधिकांश मुझसे अधिक उमरके थे, जन्म और उपसम्पदा दोनों-के ख्याल से, लेकिन अपनी विद्या और तजर्बेके कारण मुझे ही मुख्य माना जाता था। एक शक-कुमारीके प्रेमपाशमें बँधकर मैं बाल-बाल बचा, और नहीं चाहता था, कि फिर उस तरहकी कोई कठिनाईमें पड़ना पड़े। काषाय वस्त्र इस तरहके फंदेसे बचानेमें अधिक सहायक होता है। उसे शरीरपर रखते ही गृहस्थ, विशेषकर स्त्रियों से घनिष्टता स्थापित करनेके सभी रास्ते बन्द हो जाते हैं। नाचना-गाना वर्जित, साथ बैठकर खान-पान निषिद्ध, एकान्त सेवन भी असम्भव। लेकिन, अगर वह इतना असम्भव होता, तो समय-समयपर होनेवाली कितनी ही घटनायें कैसे घटित होतीं ? हमारे गाँव वालोंके डेरोंके पास ही येथा लोगोंका भी एक डेरा था। येथा प्रायः सभी घुमन्तू थे और शकों तथा खसोंकी तरह अभी उनके स्थायी गाँव नहीं बस पाये थे। वह चाल-व्यवहार और शिक्षा-दीक्षामें बहुत कुछ दूसरों जैसे होते जा रहे थे। तो भी, अभी उनमें यायावरों की स्वच्छन्दता अधिक मात्रामें थी। यायावरोंके धार्मिक विश्वास किसी दर्शनपर आधारित नहीं होते। भोले बच्चों जैसा धार्मिक विश्वास सभ्यतामें आगे बढ़े लोगोंको पसन्द नहीं आते, इसलिये शिक्षा-दीक्षामें आगे बढ़नेका मतलब होता है, आगे बढ़े हुये लोगोंके धार्मिक विश्वासको स्वीकार करना। येथा लोगोंमें अब तथागतके धर्मका प्रचार था, विशेषकर उद्यान जैसे तथागतके एकान्त भक्त देशमें तो वह अब हमारे लोगों जैसे ही हो गये थे।

कश्मीरमें मैंने येथा सरदारोंको सूर्य और महेश्वरका पूजक देखा था। गोपगिरि (ग्वालियर) में मैंने अपनी आँखों मिहिरकुलके पिता तोरमाण द्वारा बनवाये पाषाणके सुन्दर सूर्य देवालयको देखा था। ब्राह्मणोंका धर्म हमारे यहाँ प्रधानता नहीं रखता था।

हमारे पासके डेरेमें एक येथा कुमारी कितने ही समयसे भूत द्वारा पीड़ित थी। मैंने जहाँ-तहाँ मन्त्र-तन्त्रके प्रयोग किये, जिसमें कुछ सफलता मिली थी। इसलिये लड़कीके घरवालोंने मुझसे आग्रह किया और मुझे वहाँ जाना पड़ा। उसकी आयु १८ वर्षसे अधिककी नहीं थी। भूतबाधाके कारण उसका शरीर कृश मालूम होता था, लेकिन उससे उसके सौन्दर्यमें कोई कमी नहीं हुई थी। उसके चेहरेको देखकर मेरे हृदयमें भद्राकी स्मृति जाग उठी और साथ ही मेरा मन सशंक हो गया। मैं वहाँसे भागना चाहता था, लेकिन उसका कोई बहाना नहीं था। एक उपासककी कन्याको इस तरह कष्टमें पड़ा देखकर बिना कुछ उपचार किये मैं वहाँसे कैसे निकल सकता था? आखिर मुझे मन्त्र जाप करना ही पड़ा। तरुणी पहले अन्यमनस्क सी अधिकतर आँखें नीचे किये बैठी रही, फिर एक बार उसने मेरी ओर देखा। उसकी नीली पुतलियाँ चमक उठीं, भौहों तक पड़े अपने पीले बालोंको हटानेकी उसमें सुध आ गई। घर-वालोंने इसे मेरे मन्त्रका भारी चमत्कार समझा। मुझे अगले दिन फिर बुलाया गया। लड़की पहलेसे अधिक प्रकृतिस्थ थी। मेरे वहाँ पहुँचनेके समय उसकी माँ वहाँ मौजूद थी, लेकिन वह भी किसी कामके बहानेसे वहाँसे हट गई। हम दोनोंही झोपड़ीके कोनेमें रह गये। अभी निश्चित संख्यामें मन्त्र जाप नहीं कर सका था, और मैं शङ्कित हृदयसे जल्दी-जल्दी भुनभुनाते यही मना रहा था, कि उसकी माँ जल्दी आ जाये। लेकिन वह इतनी जल्दी कब लौटनेवाली थी? मेरे हृदयकी घबराहटका प्रभाव शायद मेरे चेहरेपर था, अथवा मेरी किंकर्त्तव्यविमूढ़तासे उसको पता लग गया। वह कुछ देर तक मेरे चेहरेकी ओर एकटक देखती रही। मुझे अपने मन्त्रबलका इतना विश्वास नहीं था, किन्तु अब उसका चेहरा बिलकुल खिला हुआ था। मानसिक

अस्वस्थता ही तो थी, जिसका प्रभाव कुछ शरीरपर भी पड़ा था, लेकिन आज उसका सौन्दर्य पूरी तौरसे निखरा हुआ था। मेरी ओर ताकती उसकी आँखोंमें असाधारण स्नेहके साथ-साथ एक तरहकी करुणा झलक रही थी, जैसे मूकवाणी में वह मुझसे कोई याचना कर रही हो। मेरी ओरसे किसी तरहका उत्तर या संकेत न पाकर उसने संकोच हटाकर कहा :

—आप उपदेश जितना मधुर देते हैं, उतना मधुर हृदय नहीं रखते।

मुझे पहले जवाब देनेके लिये कोई शब्द नहीं सूझा। मैं उसके लिये तैयार होकर आया भी नहीं था। बोधिसत्त्वोंके परोपकारमय जीवन पर भाषण देते मैंने कितनी ही बार कहा था, कि दूसरोंके दुःखको हटानेके लिये बोधिसत्त्वों और उनके मार्ग पर चलने वाले के लिये कुछ भी अदेय नहीं है। तन प्राण सबका उत्सर्ग बोधिसत्व-पथके पथिकके लिये जब साधारण सी बात है, तो मैं बचनसे भी सान्त्वना न दूँ, यह कब ठीक कहा जा सकता है। तरुणीके वाक्य-को सुनकर मेरा मन अपने भीतर उलझ गया। मैं समझ गया, कि उसके यह वाक्य किन भावोंसे प्रेरित होकर निकले हैं। मुझे यह भी सोचनेमें देर नहीं लगी, कि इस तरहका उत्सर्ग मेरे लिये न वांछनीय है और न सम्भव। फिर भी मुझे उत्तर तो देना ही था और साथ ही ऐसे शब्दोंमें, जिनसे उसके हृदयको ठेस न लगे। मेरे मुँहसे जवाब निकलनेमें कुछ क्षण जरूर लगे, लेकिन मैंने अपने ऊपर संयम करके जहाँ तक हो सका कोमल शब्दोंमें कहा :

—मुझे यह जानकर प्रसन्नता है, कि तुम्हारा रोग हट गया।

—रोग हट गया, नहीं कहिये, आपके आनेसे वह कुछ समयको खिसक गया, लेकिन यदि आपने मेरी ओरसे मुख मोड़ा, तो मेरी फिर वही हालत हो जायगी।

—मैंने तुम्हारे भूतको निकालनेके लिये मन्त्रजाप किया है, वह अब फिर तुम्हारे पास नहीं लौटेगा।

—आप बहुत भोले हैं। मैंने तो सुना था, आपने बहुतसे देश देखे हैं, बहुत विद्या पढ़ी है। मेरा भूत इस तरह जानेवाला नहीं है।

मैं समझ तो गया था, लेकिन यों ही टालना चाहता था। मेरे मुँहसे कोई शब्द न निकलते देख तरुणीने कहा :

—भद्राके साथ ही आपके प्रेमका स्रोत सूख गया क्या ? मैं सुन्दरतामें भद्राका मुकाबिला नहीं कर सकती, लेकिन प्रेममें मैं वैसी नहीं निकलूँगी।

—तुम भद्रापर नाहक दोष लगा रही हो।

—यदि भद्राने प्रेम किया होता, तो इतनी आसानीसे दूसरेकी नहीं बन जाती। मुझपर विश्वास रक्खो। तुम्हारे गुणोंको मैं बहुत सुन चुकी हूँ, और बहुत समयसे हृदयके भीतर-भीतर ही तुम्हें चाहती हूँ। मेरे घरवाले कभी बाधक नहीं होंगे।

—लेकिन सुमुखी, तुमने ठीक कहा, मेरे प्रेमका स्रोत सूख गया है। कृतिम प्रेम दिखलाकर मैं अपना और तुम्हारा दोनोंका अकल्याण करूँगा।

—मैंने एकाएक आवेगमें आकर तुम्हारे साथ प्रेमकी स्वीकृति नहीं प्रकट की। मैं प्रतीक्षा करनेके लिये तैयार हूँ। यदि तुम केवल इतना कह दो, कि मैं इस समय तुम्हारे प्रेमको ठुकरा नहीं रहा हूँ, मैं इसके बारेमें फिर सोचकर जवाब दूँगा, तो मुझे संतोष हो जायगा।

मैंने उसी वक्त दो टूक इन्कार करना चाहा, लेकिन फिर उसमें सफल न होकर निराशाका पलड़ा भारी करते हुये भी विचार करनेका वचन दिया, और वहाँसे चला आया। लड़कीके स्वास्थ्य-लाभको देखकर लोगोंकी श्रद्धा मेरे मंत्र-के ऊपर अधिक बढ़ गई, लेकिन मेरे लिये तो वहाँ अब एक दिन भी ठहरना मुश्किल हो गया। पर, अपने चारों साथियोंके साथ रहते हुये मैं अपने वर्षावास को तोड़ कैसे सकता था ? बादमें अपने उपदेशोंमें उस तरुणीको मैं बराबर देखता था। वह बड़े ध्यानसे मेरे मुँहकी ओर देखा करती। उसकी आकृतिमें कोई परेशानी न देखकर मुझे आत्मग्लानि होती : वह मुझपर विश्वास कर रही होगी, और मैं उसे धोखा दे रहा हूँ।

महाप्रावारणा एक महीने बाद आई। एक ओर उसके नजदीक आनेसे हृदयपर रक्खा भार कुछ हल्का होता दिखाई पड़ता था, किन्तु दूसरी ओर यह

सोचकर वह बढ़ता भी जा रहा था, कि अधिक सूझ और समझ रखते हुये भी मैं वंचना कर रहा हूँ। बोधिसत्त्वोंके परोपकारमय जीवनके बारेमें उत्साहपूर्ण व्याख्यान देना अब मेरे लिये मुश्किल हो गया था। यदि हर तरहसे दुःख दूर करना ही हमारे जीवनका उद्देश्य होना चाहिये, तो मैं इस अलहड़ तरुणीकी हृदयवेदनाको हटानेकी कोशिश क्यों नहीं करता? लेकिन, क्या इस तरह बोधिसत्त्व व्रतका पूरा करना व्यवहार्य है? क्या हरेककी हृदय-वेदना दूर करना एक आदमीके बसकी बात है? और इस प्रयासका फल क्या होगा? हजारों और लोगोंकी तरह मैं भी गृहस्थ बन जाऊँगा; फिर बालबच्चों तथा कुटुम्बके पालनमें सारा जीवन बिताना पड़ेगा। उस समय मैं कैसे अपने तन-मन-धनको बोधिसत्व-व्रतके पालनमें लगा सकूँगा। अवश्य कोई सीमा-रेखा खींचनी होगी, यह मुझे साफ दिखाई पड़ने लगा। मेरा हृदय कहने लगा, इस तरहका निस्सीम बोधिसत्त्व-व्रत पालन करना खतरनाक भी हो सकता है। मैंने आश्रममें ऐसे महायानका भीतर ही भीतर प्रसार होते देखा था, जिसमें बोधिसत्वके परोपकारमय जीवनकी आड़में उन्मुक्त कामनाओंकी तृप्ति की जाती थी। अभी उसके लिये सूत्र और शास्त्र नहीं बने हैं, लेकिन कौन जानता है, मनुष्यकी इस तरहकी प्रवृत्ति उससे क्या-क्या नहीं करवायेगी।

पयारसं रहनेका बाकी एक महीना ही नहीं, बल्कि पीछे भी कितने ही समय तक मैं इस विचारमें मग्न रहता था: शील और सदाचारका निर्वाह करना बोधिसत्वके निस्सीम व्रतमें आवश्यक है या नहीं? निरी कामुकता और स्वार्थलिप्सा तथा इस प्रकारके निस्सीम व्रतको कैसे अलग-अलग पालन किया जा सकता है? तथागतने शीलका प्रत्याख्यान कहीं नहीं किया है और बराबर शील, समाधि और प्रज्ञाके तीन स्कन्धोंके पालन करनेपर जोर दिया है। अपने और अपने साथियोंके इतने दिनोंके जीवनके अनुभवको देखते हुये मैं कभी-कभी निराश हो जाता। कामका रोकना, अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करना, विशेषकर तरुणाईमें मुझे करीब-करीब

असम्भव मालूम होता था। फिर सोचता था : तब ऐसी असम्भव बातपर इतना जोर क्यों दिया जाता है? उच्च व्रत और परोपकारमय जीवन व्यतीत करनेके लिये गृही बनना भारी बाधा है, यह मुझे अच्छी तरह समझमें आता था। बालबच्चोंको रखते कैसे अपने और परायोंके साथ समदर्शिताका बर्ताव किया जा सकता है? आखिर अपनोंकी जिम्मेवारी अपने ऊपर जितनी है, उतनी परायोंकी नहीं है। मेरा-तेरासे ऊपर उठनेके लिये गृही-जीवनका परित्याग जरूरी है। किसीको बीमार देखकर मैं जिस तरह प्राणपनसे अपना सारा समय लगाकर उसकी सेवा अब कर सकता था, चार बच्चोंका बाप हो जानेके बाद मैं वैसा कैसे कर सकता था? मुझे जीविका-अर्जनके लिये मेहनत करनी होती। जहाँ तक अकेले अपनी जीविकाका सम्बन्ध है, मैं आसानीसे गुजारा कर सकता हूँ। अपनी विद्या, बुद्धि तथा सेवाओंके रूपमें मैं बहुतेरोंको अधिक दे सकता और रूखी-सूखी भिक्षापर गुजारा कर सकता। अपनी अवश्यकताओंकी सीमायें अत्यन्त संकुचित कर सकता, लेकिन गृही बननेपर वह नहीं हो सकता।

बोधिसत्त्वके परोपकारमय जीवनको भी सीमारहित न रखकर उसमें मध्यम मार्गका ही बर्तना मनुष्यके लिये साध्य तथा उचित है, इस परिणामपर मैं अन्तमें पहुँच गया। अखण्ड ब्रह्मचर्यके बारेमें कोई फैसला करना मेरे लिये हमेशा कठिन रहा; यद्यपि मैंने उसके पालनके लिये अपनी सारी शक्ति लगाई और मानसिक भावोंको छोड़ देनेपर मैं काफी हद तक उसमें सफल हुआ। यदि मैं इसमें सफल न होता, तो इतने दिनों तक अपने उन्मुक्त यायावर-जीवनको कायम न रख सकता था। यायावर (घुमक्कड़)का जीवन मुझे बहुत प्रिय है। ७० वर्षकी हड्डियाँ अब बहुत घिस गई हैं, मेरे पैरोंमें वह शक्ति नहीं रही, जो दुर्लंघ्य पर्वतों और उत्तरंगित असीम समुद्रोंको कुछ भी नहीं समझती थीं।

महाप्रावारणाके दिन पयारके उपासकों और उपासिकाओंने हम पाँचों भिक्षुओंके लिये तरह-तरहके सुन्दर भोजन दिये, जिसमें मांसकी प्रधानता थी, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। उन्होंने हमारे लिये अपने हाथसे बुने-कते

सूक्ष्म कोमल ऊनी वस्त्रके रँगे चीवर प्रदान किये—मेरे लिये कठिन चीवर (विशेष महत्व रखनेवाली ऊपर ली जानेवाली चादर) दिया। हमारे विहारके लिये उन्होंने बहुत सा मक्खन, मांस तथा दूसरी चीजें प्रदान कीं, जिन्हें वहाँ पहुँचाना उन्हींका काम था।

हम लोग कार्तिकके मध्य तक सुभूमि विहारमें लौट आये। मेरे आचार्य-उपाध्याय गुणवर्द्धन और जिनवर्मा अब नहीं थे, लेकिन भिक्षुओंका अपने विहारके साथ परिवार जैसा स्नेह हो जाता है, और विहारवासी एक दूसरेके साथ बड़ी आत्मीयता रखते हैं। मैं वर्षावासके लिये वहाँसे गया था, और मेरा वहाँ लौटकर आना निश्चित था। विहारके नये नायक स्थविर और दूसरे भिक्षु चाहते थे, कि मैं मूल विहारमें उसी कोष्टकमें रहूँ, जिसमें भदन्त जिनवर्मा रहते थे। मेरी भी इच्छा थी, कि विहारने जिस तरह मेरी शिक्षा-दीक्षा दी, मैं भी उससे उऋण होनेके लिये वैसा ही करूँ। उद्यानके दक्षिण बहुत दूर तक वर्षों यात्रा करके मैंने कुछ आत्म-तृप्ति भी लाभ की थी, इसमें सन्देह नहीं। विहारमें लौटकर अब मैं वहाँ अध्यापनका काम करने लगा। अपने ज्ञानको बढ़ानेमें अब स्वाध्याय छोड़कर और कोई साधन नहीं था।

भिक्षुओंका सामूहिक जीवन अपने कितने ही दोषों और विकर्षणोंके रहते भी बहुत आकर्षक होता है, खासकर ऐसे आदमीके लिये, जिसमें निजी स्वार्थ-सिद्धि और अहम्मन्यताकी मात्रा अधिक न हो। ये दोनों बातें औरोंकी अपेक्षा मुझमें कम थीं, जिसे मैं अपने बड़े सौभाग्यकी बात समझता हूँ। दूसरोंकी मित्रता और सौहार्द्र लाभ करना मेरे लिये बड़े आनन्दकी बात थी, और उसका खोना दिनों नहीं सप्ताहों और महीनोंकी नींद हराम करनेके लिये पर्याप्त था। एक बार जिसका सौहार्द्र प्राप्त कर लिया, उसे खोनेके लिये मैं हर्गिज तैयार नहीं था। मैं उसकी रक्षाके लिये सब कुछ करनेको तैयार था। चाहे दोष दूसरेका हो, किन्तु उसे मैं अपना दोष समझकर हर तरहसे प्रतीकार करनेके लिये तैयार हो जाता। इसीका फल यह था, कि मैंने जीते जी शायद ही किसी मित्रको खोया, और मरनेके बाद भी जब उनकी स्मृतियाँ मेरे हृदयपटलपर

एकके बाद एक प्रतिबिम्बित होती हैं, तो वह एक तरहकी मीठी टीस पैदा करती हैं—मैं जीवनव्यास स्मृति परम्पराको अपनी अनमोल निधि समझता हूँ।

अपने विहारमें पहले चार वर्ष रहते समय भी मेरा सम्बन्ध विहारवासियोंसे अच्छा था, और अब तो उसमें और भी वृद्धि हुई थी। अपनी विद्यासे मेरा गौरव जितना बढ़ा था, अपने मधुर बर्तावसे वह और भी बढ़ गया था। मेरे पास सबसे अधिक विद्यार्थी आते थे। छोटेसे छोटे श्रामणेर और काफी पढ़े हुये विद्वान् सभीको पथ-प्रदर्शन करते हुये आगे बढ़ाना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था। भिक्षु होनेका मतलब यह नहीं, कि आदमी सब तरहके दोषोंसे मुक्त हो। हमारे विहारमें यद्यपि चुने हुये श्रामणेर और भिक्षु दीक्षित किये जाते, लेकिन तो भी इस जीवनके लिये अनुपयुक्त कितने ही व्यक्ति आ जाते। कितने ही पीछे वहाँसे हट भी जाते, लेकिन कुछ जैसे-तैसे बने रहते। ऐसोंके कारण विहारके शान्त वातावरणमें कभी-कभी अशान्ति फैलती। मैं अभी तरुण भिक्षु था। ७०-७०,८०-८० वर्षके ज्ञान वयोवृद्ध भिक्षुओंके सामने मेरी क्या हैसियत थी, लेकिन मैं विहारमें अजातशत्रु समझा जाता था, और जिस कलह और विवादको कोई नहीं शान्त कर सकता था, उसके निपटारेकी जिम्मेवारी मुझ पर दी जाती थी, जिसमें मैं सदा ही सफल होता।

विहारके भिक्षुओंकी सेवाके लिये तो मैं तत्पर रहता ही था, साथ ही नदी पारके गाँवके लोगोंमें भी यदि किसीको कोई दुःख होता, तो वह मेरे पास पहुँचता। मैं बतला चुका हूँ, चिकित्साशास्त्रका ज्ञान मेरा मामूली था और हर तरहके रोगोंके दूर करनेकी जिम्मेवारी मैं अपने ऊपर नहीं ले सकता था। सुभूमि विहारके मेरे गुरु वृद्ध चिकित्सक अभी भी जीवित थे, और उनके हाथमें यश भी काफी था। उनके दो-तीन शिष्य भी कुशल वैद्य थे। लेकिन, गाँव-वाले सबसे पहले दौड़े-दौड़े मेरे पास आते। उनको विश्वास था, कि रोगीको आशीर्वादसे जितना लाभ हो सकता है, उतना ओषधिसे नहीं। मैं भी उनको निराश नहीं करता था। मुश्किलसे दो साल मुझे विहारमें रहनेका मौका मिला,

इसी बीचमें मेरा परिचय और प्रभाव बहुत बढ़ गया। मेरे पास भेंट-पूजा भी बहुत आती थी, जिसे मैं संघके भण्डारमें भेज देता। जब तक मैं विहारमें रहता और जब तक जाड़ोंके लिये परले गांववाले लोग नीचे नहीं चले जाते, तब तक मैं केवल भिक्षापर ही गुजारा करता। गाँवमें जानेपर स्त्रियाँ और बच्चे टकटकी लगाये मेरी बाट जोहा करते और मुझे कुछ ही घरोंमें इतनी भिक्षा मिल जाती, कि मैं वहाँसे ही लौट आता। भिक्षापात्रके पूर्ण हो जानेपर मैं फिर आगे नहीं बढ़ता और न भिक्षा लेता, यह सभीको मालूम था, इसलिये कोई आग्रह नहीं करता था। लेकिन, सबकी श्रद्धाको पूरा करनेके लिये मैं बारी-बारीसे गाँवके भिन्न-भिन्न छोरोंसे भिक्षाटन करता, और लोगोंको भी समझता, कि अधिक मात्रामें भोजन मेरे पात्रमें न डालें। यदि लोग मात्रामें कम करते, तो भोजनों में विशेष स्वाद वृद्धि कर देते। स्नेहका मूल्य मैं सम्मानसे भी अधिक समझता था, इसलिए बाल-वृद्ध या नर-नारीके अकृत्रिम स्नेहके प्राप्त करनेकी मेरी कोशिश रहती। भिक्षाटनके समय यदि किसीको रुग्ण या अस्वस्थ सुनता, तो उसे देखने और सान्त्वना देने जरूर जाता। यदि किसीके घरमें अन्न बिना उपवास होने की बात सुनता, तो उसकी सहायता किये बिना नहीं रहता।

यह बतला चुका हूँ, कि उद्यानके और विहारोंकी तरह हमारा सुभूमि विहार एक सर्वास्तिवादी अर्थात् हीनयानी विहार था। वहाँ सर्वास्तिवादके विनय-नियम और परम्पराके पालन करनेकी कोशिश की जाती थी। परन्तु भीतर ही भीतर वहाँ भी महायान प्रवेश कर चुका था। आरम्भमें आनेके समय मैं चाहता था, कि महायानका प्रचार करके अपने विहारको उसका गढ़ बना दूँ, किन्तु पयारमें येथा सुन्दरीके साथ जो घटना घटी थी, उससे महायानके बारेमें खुलकर मुँह खोलनेमें मुझे भारी संकोच होने लगा। वाणीकी जगह मैंने उसे आचरण में लाना ही पसन्द किया। मैं नहीं कह सकता, अपने दो सालके जीवनमें मैंने कभी महायानपर किसी श्रोतृमंडलीमें उपदेश दिया। वैसे पढ़ाते समय जहाँ प्रकरण आता, वहाँ महायानकी बातें बतलाये बिना नहीं रहता, लेकिन तो भी

मेरी कोशिश हीनयान और महायानके समन्वय करनेकी ओर होती। मेरे विद्यार्थी सभी अध्यापकोंसे अधिक मुझसे संतुष्ट थे, यद्यपि मैं सदा अपने ज्ञानको दूसरोंके मुकाबिलेमें कम बतलाता। अपनेसे वृद्धोंके प्रति, चाहे वह विद्यामें मुझसे बड़े न हों, मैं स्वाभाविक रीतिसे बहुत नम्रता दिखलाता। जिसका ही फल था, कि इतने थोड़े समयमें प्रभावके बढ़ जानेपर भी मुझसे कोई ईर्ष्या नहीं करता था। विहारका छोटेसे छोटा काम करनेमें मुझे न कभी न आलस होता न संकोच। वर्चस्कुटी (पाखाना) को स्वच्छ रखना मैंने अपने जिम्मे लिया था, और प्रतिदिन एक बार मैं चक्कर लगा आता था। हमारे ठंडे देशमें शौचमें पानीके इस्तेमाल करनेकी प्रथा नहीं है, लेकिन विनय-सूत्रोंमें इसका विधान है, इसलिये हमारे विहारोंमें भिक्षु उसका पालन करते हैं। मैंने अब तक जितने देशोंकी यात्रा की, वहाँ सभी जगह विहारोंमें वर्चस्कुटी बड़ी शुद्ध देखी थी। मैंने सिंहल द्वीपके महाविहारमें जब एक सबसे बड़े भिक्षुको वर्चस्कुटी-शोधनको व्रतके तौरपर पालन करते देखा, उस समयसे मेरा ध्यान इस ओर गया। कहींपर भी कोई कूड़ा-कर्कट या गन्दगी मुझे पसन्द नहीं थी, जवानी और शारीरिक सबलताके कारण मुझे न थकावटका डर था, न आलस्य था। ऐसे आदमीके साथ विहारवासियों और दूसरोंका कैसा सम्बन्ध होगा, यह आसानीसे समझा जा सकता है।

बीच-बीचमें देशाटन और चारिकाके विचार मेरे हृदयमें पैदा न होते हों, यह बात नहीं थी। लेकिन धीरे-धीरे मकड़ीके जालेकी तरह मेरे चारों ओर स्नेहका जाल बिछता जा रहा था। येथा कुमारीको मुझे अपने निश्चय सुनानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, जब कि अपने घरवालोंसे मेरी अद्भुतचर्याकी बात उसने सुनी। विहार और उससे सम्बन्ध रखनेवाले भिक्षुओं और उपासकोंका जिस तरहका सम्बन्ध स्थापित होता जा रहा था, उससे मुझे तो यही मालूम हो रहा था, कि मेरे पैरोंमें अब सोनेकी बेड़ियाँ पड़ चुकी हैं, वह दिनपर दिन और मजबूत होती जा रही हैं। मेरें पंख कटते जा रहे हैं। शायद अब मैं फिर कभी स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकूँगा।

कभी-कभी चारिका करनेपर भी वह उद्यान और कश्मीर-गन्धार तक ही सीमित रहेगी। लेकिन घटनायें सदा ही क्रमबद्ध नहीं हुआ करतीं। कार्यकारणका नियम वैसा नहीं है, जैसा कि नैयायिक तथा दूसरे स्थिरतावादी कहते हैं। वह सर्पगतिसे नहीं, बल्कि मंडुकप्लुति (मेंढक-कुदान) से होता है, प्रतीत्यसमुत्पाद—इसके बाद यह होता—का नियम सर्वत्र व्यापक है। किसको मालूम था, कि एक दिन वह मजबूत होती सोनेकी बेड़ियाँ, वह स्नेहजाल अपने आप छिन्न-भिन्न हो जायेंगे, मेरे पंख फिर जम जावेंगे।

एक दिन विद्यार्थियोंको पढ़ानेके बाद संध्याके समय में मूलविहारसे दक्षिणकी ओर द्राक्षा-उद्यानकी ओर घूम रहा था। मेरे साथ तीन-चार तरुण भिक्षु कुछ शास्त्र-चर्चा कर रहे थे। इसी समय हमारी दृष्टि अपनेसे दक्षिणकी ओरके घने जंगलोंमेंसे उठते धुयेंपर पड़ी। धुआँ बहुत अधिक नहीं था, लेकिन यह तो मालूम हो गया, कि जंगलमें आग लगी है। उस समय हमें किसी भय की आशंका नहीं हुई। हम विहार में लौटकर धुयेंकी बात भूल अपनी कोठरियोंमें सो गये। रातको अचेत सोते समय दक्षिण से बहुत तीव्र हवा चलने लगी, लेकिन हमको क्या पता था, कि वह आगको बड़ी तेजीके साथ हमारे विहारकी ओर ला रही है। अभी दो-तीन घड़ी रात बाकी थी, जब कि कोलाहल सुनकर मेरी आँख खुली। दरवाजा खोलकर बाहर निकला, देखा चारों ओर दिनकी तरह रोशनी है। वसन्त बीत चुका था, गर्मियोंका पहला महीना था, तो भी अभी हमारे यहाँ उतनी गर्मी नहीं होती। बड़ी तेज गर्मी मालूम हो रही थी। जल्दी-जल्दी नीचे उतरकर देखा आग विहारके पश्चिमवाले जङ्गलमें धाँय-धाँय करके जल रही है। हवाका वेग रुकना नहीं चाहता था। गीले दरख्त इतने जल सकते हैं, इसका मुझे कभी ख्याल भी नहीं था। उनकी तड़तड़ाती शाखायें अग्निबाणकी तरह दूर-दूर तक गिर रही थीं, जिनके कारण आग और भी तेजीसे बढ़ रही थी। हमारे द्राक्षा-उद्यानमें लताओंको चढ़ानेके लिये लकड़ियोंकी थूनी और छप्पर सा बनाया गया था, अब उसने ईंधनका काम देना शुरू किया था। इस दृश्यको खड़े होकर

देखने और उसपर विचार करनेका अवसर नहीं था। आग इतनी नजदीक आ गई थी, कि किसी भी समय विहारको अपने क्रोड़में कर सकती थी। बिना एक क्षणकी देर किये जितनी भी सामग्री बचाई जा सके, उसे हमें बचाना था। रक्षाका स्थान नदीके परले पारवाला गाँव था। पहली टोलीके साथ जब चारपाईपर बहुत सी पुस्तकें तथा दूसरा सामान लादकर हम दो भिक्षु गाँवमें पहुँचे, तो गाँवके सभी स्वस्थ स्त्री-पुरुष विहारकी चीजोंको हटानेके लिये दौड़ पड़े। अब वस्तुतः एक ओर आग और हवा थे, और दूसरी तरफ विहार और गाँवके सारे लोग। विहारकी रक्षा नहीं हो सकती थी, यह सबको मालूम हो गया। एक प्राचीन स्तूपको छोड़कर बाकी सारी इमारतें तो अधिकतर काष्टकी बनी थीं, और सो भी शताब्दियोंके सूखे। उस अग्निके प्रकाशमें हमने विहारकी चीजें ढो-ढो कर परले पार पहुँचाना शुरू किया। कामकी प्रायः सभी चीजें हम ढो चुके थे और एक अष्टधातुकी विशाल प्रतिमाके हटानेका प्रबन्ध कर रहे थे, इसी समय उसी प्रतिमा-गृहपर एक जलती हुई शाखा छूटकर आ पड़ी। इसमें सन्देह था, कि हजारों मन भारी उस प्रतिमाको उठाकर हम परले पार पहुँचानेमें सफल होते। अब हमें उस चिन्तासे भी मुक्ति मिल गई। विहार एकके बाद एक जलने लगे। हम परले पार जाकर केवल निराशाके साथ आँखें फाड़-फाड़कर उन्हें देख सकते थे। सूर्योदय होते-होते सभी विहारोंसे बड़ी-बड़ी ज्वालाकी लपटें निकलने लगीं। हवा अब बन्द हो गई, इसलिये वह सीधे ऊपरको उठ रही थीं। हवाकी सहायता न होनेपर भी आग इतनी प्रचण्ड थी, कि उसके सामने हमारा कोई बस न चल सकता था।

शाम तक विहार निर्धूम अंगारेका रूप ले चुके थे। यद्यपि बीचमें नदीकी सूखी और पानीवाली धार इस जगह काफी चौड़ी थी, और परला गाँव भी शताब्दियोंके तजर्बेको देखकर नदीकी बाढ़की पहुँचसे काफी दूर बसाया गया था, तो भी जिस तरहकी प्रचण्ड हवा पहिले चल रही थी और जिस तरह जलती हुई डालियाँ दूर-दूर तक उड़कर आग लगा रही थीं, उसके कारण गाँववालोंको भय लग रहा था, कि कहीं आग परले पार न आ जाये।

जो हो चुका, उसके लिये चिन्ता करना, छाती पीटना मेरे स्वभावमें नहीं है। तो भी मुझे अफसोस था, कि अत्यन्त प्राचीनकालसे चला आता हमारा विहार और उसमें सुरक्षित कितनी ही प्राचीन वस्तुयें सदाके लिये जलकर राख हो गईं। मैं यह भी सोचता था, कि क्या बनकी आगकी रोक-थाम नहीं की जा सकती थी। आखिर नदीने बीचमें आकर गाँवकी रक्षा कर ही ली, क्या इसी तरह विहारके पासवाले उत्तर और दक्षिणके जंगलोंको यदि बीचके वृक्षोंको काटकर अलग कर दिया गया होता, तो पासवाले जङ्गल और उसके कारण विहारकी रक्षा नहीं कर सकते थे?

अध्याय ११

हिमालयपार (५५० ई०)

बातकी बातमें प्राचीन सुभूमि विहार बिल्कुल नष्ट हो गया। उसके साथ बहुत सी चीजें बर्बाद हो गईं, किन्तु जहाँ तक भिक्षुओंकी जीवन-यात्राका सम्बन्ध था, उसके लिये कोई कष्ट नहीं था। खाने-पीनेकी कुछ चीजें अपने भण्डारसे बचा पाये थे, गाँवमें भी वह सुलभ थीं, और जब दूर-दूरके लोगोंने अपने पवित्र विहारके जलनेकी खबर सुनी, तो वह सब तरहसे सहायता करने लगे। यदि हम पुराने विहारकी जगह लकड़ी और पत्थरके साधारण ढाँचोंसे संतुष्ट रहना चाहते, तो उसका बनाना कोई मुश्किल नहीं था। प्राचीन पाषाण-चैत्यको बहुत कम क्षति हुई थी। उसके शिखरपर कुछ काष्टका उपयोग किया गया था, जो जल गया था, और कहीं-कहीं कुछ पत्थर चटक गये थे, जिनकी मरम्मत करनेमें देर नहीं लगी। लेकिन, हम सुभूमि विहारको फिर पहले जैसा देखना चाहते थे। हमारे विहारके महास्थविर ही नहीं, बल्कि देशके उपासक-उपासिका भी अपने विहारको और भी अधिक भव्य रूपमें देखना चाहते थे। उद्यान अब कपिशा, गन्धार, कश्मीर तथा दूसरे देशोंकी तरह एक बड़े महाराजाके अधीन नहीं था। मिहिरकुल पहले ही अपने राज्यके बहुत से पूर्वी भागको खो चुका था। कम्बोज तथा वक्षु पारका भाग तो उसके बापके मरनेके समय ही दूसरे येथासामन्तके हाथमें चला गया था। सभी जगह येथा-सरदारोंने अपने अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य कायम कर लिये थे, और कहीं-कहीं हमारे उद्यानकी तरह पुराने राजवंशों ने अपनी प्रभुता फिरसे स्थापित की थी। यदि तोरमाणके समय यह घटना हुई होती, तो उसके हुकुमकी देर थी, और सुभूमि विहार पहलेसे भी सुन्दर रूपमें खड़ा हो सकता था। इस तरहकी कोई सहायताकी सम्भावना न रहनेके

कारण यदि हम अपने सपनेको सत्य करना चाहते थे, तो हममेंसे हरेकको उसके लिये प्रयत्न करना था। सुभूमि विहारमें कम्बोज, तुषार, सोग्द, काँस्य और कूचा देशके भी कुछ भिक्षु रहते थे। चारिका-प्रेमी होनेसे मैं उनसे वहाँके बारेमें कितनी ही बातें पूछता रहता था। मुझे मालूम था, कि उन देशोंमें सोने और रतनकी भारी-भारी खानें हैं। मेरे मनमें आया, क्यों न वहाँ चलकर द्रव्य-संचय किया जाय। मेरे विचार विहारके उच्च अधिकारियोंको भी पसन्द आये, और एक दिन चार और भिक्षुओंको साथ लिये मैं सुभूमिसे चल पड़ा।

पृथिवी अनन्त है, या कि हमारे आजकलके आर्यभट्ट जैसे कितने ही ज्योतिषियोंके विचारों के अनुसार वह सान्त है, इसके बारेमें मैं कुछ नहीं कह सकता। तो, अपने तजर्बेसे इतना मैं जानता हूँ, कि अपने देशसे दस-बीस दिनके रास्तेपर अवस्थित भूभागका भी हमें कितना धुँधला और अद्भुत सा ज्ञान होता है। हम समझते हैं, कि वहाँ हमारी तरहके मनुष्य नहीं रहते, बल्कि देवताओं और असुरों जैसे दूसरी तरहके कुछ प्राणी बसते हैं। वहाँके वृक्ष-वनस्पति और दूसरी चीजें भी हमारे यहाँकी चीजोंसे बिल्कुल विलक्षण होती हैं। कानों और आँखोंके बीच चार ही अंगुलका अन्तर है, लेकिन हरेक चीज आँखों द्वारा देखे जानेपर ही पूरे प्रकाशमें आती हैं, कानसे सुनी सुनाई बात वास्तविकतापर बहुत धुँधला प्रकाश डालती है। यही कारण है, जो हमारे प्रमाणशास्त्री कानसे सुनी बातों (शब्द) को प्रमाण नहीं मानते। दिग्नाग और वसुबन्धु तो प्रत्यक्ष-को ही एकमात्र स्वतः प्रमाण मानते हैं, अनुमानको भी वह उतनी ही हद तक माननेके लिये तैयार हैं, जितना कि उसे प्रत्यक्षका समर्थन प्राप्त है। हिमालय पार उत्तरके देश किस तरहके हैं, इसका पता लोगोंसे सुन-सुनाकर कुछ लगा। हमें कम्बोजका ही एक भिक्षु साथी मिल सका, दूसरे देशोंके भी अगर मिल सके होते, तो उनसे हमें बड़ी सहायता प्राप्त होती। हम पाँचोंमें एकको छोड़कर बाकी सभी उद्यानवासी थे। सभीकी मेरे प्रति पूर्ण आस्था थी,

और हममेंसे कोई भी ४० सालसे ज्यादाका नहीं था। कम्बोज भिक्षु तो २२-२३ वर्षका तरुण था, जिसने हमारे ही विहारमें उपसम्पदा ग्रहण की थी।

प्रस्थान का दिन आ गया। सुभूमि विहारसे हम कुछ दूर नीचेकी ओर उतरे फिर हमारा रास्ता ऊपरकी ओर चला। उद्यानकी एक नगरी (चित्रालय चितराल) में पहुँचनेसे पहले हमें कुनर नदी पार करना पड़ा। यह नगरी करीब-करीब उतने ही शीत स्थानमें है, जितनी हमारी सुभूमि, हाँ, यहाँ उपत्यका और अधिक चौड़ी है। आगे हमारा रास्ता पश्चिमोत्तर दिशाकी ओर था। दो दिन तक हम एक छोटीसी नदीके सहारे ऊपरकी ओर बढ़ते गये। मुझे मालूम हो रहा था, कि जैसे हम किसी पयार (बुकयाल) की ओर जा रहे हैं। उसी तरह ऊँचाईके बढ़नेके साथ-साथ हमारे पैरोंको चलनेमें थकावट हो रही थी, उससे अधिक साँस लेनेमें कठिनाई मालूम होती थी। उसी तरह साधारण वृक्षोंके स्थानमें केवल देवदारु-जातीय वृक्षोंकी प्रधानता होती जा रही थी। दृश्य वैसे ही रमणीय और हरियाली वैसी ही मोहक थी, जैसे कि उद्यानमें बहुत जगहोंपर देखी जाती है। अग्राम (नुकसान) डाँडेके काफी पहले ही वृक्ष खतम हो गये, लेकिन चढ़ाई अभी खतम नहीं हुई। कम्बोज भिक्षु सुमनने बतलाया, कि अब वृक्षोंके जंगलको:देखनेका फिर कभी मौका नहीं मिलेगा, और साथ ही यह भी, कि डाँडे पर डाकुओंका बराबर डर रहता है। हम भिक्षुओंको डाकुओंसे बहुत डर नहीं था, क्योंकि हमारे पास कोई धन नहीं था। लेकिन इन दुर्गम पथोंकी यात्रा लोग सार्थ (कारवाँ) बनाकर ही करते हैं। हमारे सार्थमें पचाससे अधिक आदमी और माल लादे बहुत से घोड़े-गदहे थे। उद्यान ही नहीं, गन्धार और कश्मीरके भी कितने ही व्यापारी एक उद्यान-निवासी सार्थवाहके नेतृत्वमें चल रहे थे। अभी शाम नहीं हुई थी, जब कि हम जंगलके छोरपर पहुँचे थे। यहाँ उद्यानियोंके कुछ अस्थायी झोपड़े थे, जो पशुओं और मनुष्योंके ईंधनचारेको बेचनेके लिये वहाँ रहते थे। रातके लिये हम वहीं ठहर गये। सवेरे सूर्योदयसे बहुत पहले ही यात्रा करना इन डाँडोंमें आवश्यक समझा जाता है। पहले ही से मालूम था, कि

डाँडेके ऊपरकी बर्फ कभी नहीं पिघलती और वह उद्यानकी ओर जितनी है, उससे कहीं अधिक परले पार होती है। यह भी मालूम था, कि हमें सार्थके आगे नहीं जाना चाहिये।

रातके वक्त कुछ बर्फ भी पड़ गई, लेकिन तीसरे पहर जब हम चलने लगे, तो आसमान निरभ्र था, और चन्द्रमाकी किरणें दूधकी तरह चारों तरफ फैल रही थीं। विश्राम ले लेनेके बाद चढ़ाईमें हमारा उत्साह कुछ बढ़ गया। जवानीका खून भी हमारी नसोंमें लहरें मार रहा था। हम यह इच्छा जरूर रखते थे, कि सार्थसे अलग होकर आगे नहीं बढ़ेंगे।

हमारे डेरेके स्थानपर वर्फ नाममात्रकी ही पड़ी थी, लेकिन आगे वह और मोटी होती गई थी। सर्दी उतनी ही थी, जितनी सुभूमि विहारमें जाड़ोंमें पड़ती। सर्दीके लिये हम पूरी तौरसे तैयार थे। मोटे ऊनी कंटोपसे हमारे घुटे हुये सिर और कान ढँके थे, ऊनी संघाटी और चीवरसे हमने सारे शरीरको ढाँक लिया था था और विशेष सावधानीके लिये तूलाजिनका अंसकूट (जाकट) पहन रक्खा था। पैरोंमें ऊपर रोमवाले और नीचे साधारण चमड़ेका दोहरा जूता था। इस पोशाकमें हम भीषण सर्दीको सह सकते थे। यद्यपि हम अपने पैर तेजीसे नहीं बढ़ा रहे थे, और आशा रखते थे कि सार्थके लोग भी तुरन्त ही पहुँचनेवाले हैं; लेकिन ध्यान-से सुननेपर भी हमें पशुओंकी घंटियोंकी आवाज नहीं सुनाई देती थी। शायद हम डेरेसे बहुत पहले चल पड़े थे। अब बर्फ भी बहुत मोटी हो गई थी, चढ़ाई बहुत प्रखर नहीं थी, लेकिन हरेक पग उठानेमें कलेजा मुँहको आता था। यदि ताजी बर्फ न पड़ी होती, तो शायद हमें रास्तेका पता लगता। कम्बोज भिक्षु तीन ही साल पहले इस रास्तेसे गुजरा था। उसका अपनी स्मृति-पर पूरा विश्वास था। हम पाँचों साथ-साथ चलनेकी कोशिश कर रहे थे। थोड़ी ही देरमें मैंने देखा, कि हम चार ही रह गये हैं। पाँचवाँ भिक्षु कहाँ गया? सुमनने बतलाया, इस डाँडेपर दैत्योंका बहुत जोर है, वह एक्के-दुक्के यात्रियोंको भुलवाकर पथभ्रष्ट कर देते हैं, और फिर उन्हें खा जाते हैं। हम नीचेकी तरफ

लौटे। कुछ ही कदम चलनेपर दाहिनी ओर हमें अपने साथीके चिल्लानेकी आवाज सुनाई दी। यदि कुछ ही क्षण और देर हुई होती, तो हम पाँचकी जगह चार ही रह जाते। दानवने हमारे साथीको पकड़ रक्खा था। मैंने पहुँचकर एक मन्त्रका जाप किया, शायद मन्त्रके जापके या हम लोगोंको पास देखकर वह होशमें आया। उसे लेकर अब हम फिर ऊपरकी ओर बढ़े। भिक्षुने एक चट्टानके पास पहुँचनेके बाद बतलाया, कि यहीं चार आदमी हमें दूसरी ओर जाते दिखाई पड़े, और मैं उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। कुछ ही दूरके बाद वह अन्तर्धान हो गये। फिर मुझे सुमनकी बात याद आई और मैं डरके मारे चिल्ला उठा। पाँचवें साथीको जीवित पाकर हम सबको बड़ी प्रसन्नता हुई, लेकिन खतरा तो अब भी सामने था। हमें मालूम था, कि इस डाँड़ेपर दैत्यों और डाकुओंका बराबर भय बना रहता है। सुमन यह भी नहीं बतला सकते थे, कि हम ठीक रास्तेपर हैं या नहीं। थोड़ी देर तक बैठकर बाट जोहते रहे, लेकिन न सार्थके जानवरोंकी घंटियोंकी अवाज सुनाई दी, न आदमियोंकी बोलचाल। हम पछता रहे थे अपने उतावलेपनपर। लेकिन, यहाँ बैठे रहनेसे तो कोई फायदा नहीं था। यदि सार्थ आगे चला गया, तो वह डाँड़के ऊपर पहुँचकर न हमारे लिये रुका रहेगा, न हमारी खोज-खबर लेनेके लिये आदमी भेजेगा। ऐसे अवसरपर यह प्रथा मुझे पसन्द है, कि चारके लिये चालीसके प्राणोंकी बलि न दी जाय। अन्तमें हम लोग फिर उठकर ऊपरकी ओर बढ़ने लगे। सुमनके अन्दाजसे हमारा पथ-प्रदर्शन किया। पर्वतका आरोहावरोह खड़ा नहीं था, इस-लिये आगे बढ़नेमें हमें बहुत बड़े संकटका सामना नहीं करना पड़ा।

हम रास्तेसे काफी दूर हट गये थे। पहाड़की रीढ़पर पहुँचनेके समय अब भी पह नहीं फटी थी। उतराई जहाँ कहींसे एकाएक करनेके लिये हम तैयार नहीं थे। कहीं हम और किसी आफतमें न पड़ जायें। अब पूर्व दिशामें सूर्यकी लाली दिखलाई पड़ने लगी। पर्वतमेरुसे हमने चारों ओर नजर दौड़ाई। जिस स्थानको हम इतना ऊँचा समझते थे, वह उतना ऊँचा नहीं था। उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम चारों दिशाओंमें बर्फसे ढँकी स्तूपाकार चोटियाँ दिखाई पड़ रही थीं, जिन-

पर सूर्यकी प्रभातकालीन किरणें पड़कर उन्हें सोनेका रूप दे रही थीं। मैंने पढ़ा और सुना था, कि उत्तर दिशामें सुमेरु पर्वत सारा सोनेका है। लेकिन, सुमेरु तो एक सोनेका शिखर है, और यहाँ इस समय सैकड़ों सोनेके शिखर दिखलाई पड़ रहे थे। उद्यानवासी होनेके कारण मैं समझता था, कि सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे ये हिमशिखर सोने-चाँदीके बनते रहते हैं। यदि कहीं ये वस्तुतः सोनेके होते और हम किसी तरह वहाँ पुराने अर्हतोंकी तरह आकाश मार्गसे पहुँच जाते, तो विहार बनवानेके लिये सोना ढूँढ़ते मारे-मारे फिरनेकी जरूरत नहीं थी।

हम सुमनको अपना मार्ग-दर्शक बनाये थे, और वह निश्चय नहीं कर पा रहा था, कि कहाँसे नीचेकी ओर उतरा जाय। तो भी हम देर तक असमंजसमें अपनेको रख नहीं सकते थे। धूप हो जानेपर बर्फके नरम हो जानेसे उसके गिरनेका डर रहता है। हमने अन्तमें भाग्यपर छोड़कर बुद्धि नहीं आँखों और पैरोंके सहारे आगे बढ़ना शुरू किया। शायद एक घड़ी गये होंगे, इसी समय कुछ आदमियोंकी आवाज सुनाई दी। बहुत प्रसन्न होकर अपने सार्थके मिलनेकी आशासे हम उधर लपके। इसी समय लम्बी-लम्बी तलवारों, और धनुष-वाणसे सज्जित दस-बारह आदमियोंने हमें घेर लिया। सुमन उनकी भाषा समझता था। उसने कुछ इशारे और कुछ शब्दोंमें बतलाया, कि यह कम्बोजके डाकू हैं। डाकुओंको यह जानकर बड़ी निराशा हुई, कि हम पाँचों रास्ता भूले भिक्षु हैं। सुमनने बतला दिया, कि हमारे पास मामूली कपड़ों और भिक्षापात्रके अतिरिक्त कोई धन नहीं है। डाकू भिक्षुओंकी दिव्य शक्ति और मन्त्रबलपर विश्वास रखते थे, इसलिये उन्होंने हमारे साथ कोई कठोरताका बर्ताव नहीं किया। उनके सरदारने बल्कि अपनी बीमार पत्नीके लिये मन्त्र पढ़ देनेकी प्रार्थना करते हुए कोई यन्त्र माँगा। भुर्जपत्र, और कलम-दावात हमारे पास थी, उसे एक यन्त्र लिखकर दे दिया। डाकुओंने बतलाया, कि हम रास्तेसे बहुत दूर पश्चिमकी ओर हट आये हैं। यहाँसे उस डाँड़ेवाला रास्ता भी बहुत दूर नहीं है, जिसके पास उद्यानवाली सीमामें तप्तकुण्ड पड़ता है। पर

हमें तो अपने सार्थवालों का साथ पकड़ना था। वही हमारे भोजनादिका प्रबन्ध करके अपने साथ ले जा रहे थे। सरदारने दो आदमियोंको हमारे साथ कर दिया और दो घड़ीके बाद हम अपने रास्तेपर पहुँच गये। वहाँ आदमियों और जानवरोंके ताजा पड़े पैरोंके निशान बर्फपर अच्छी तरह दिखाई पड़ते थे। दोनों डाकुओंको हमने आशीर्वाद दिया, और वह हमें छोड़कर चले गये। दो-दो संकटसे हम बचे थे, इसकी प्रसन्नता होनी ही चाहिये। अब सूर्यके प्रकाशमें बर्फ ढँकी भूमिको पार कर लेनेके बाद हमारा आत्मविश्वास और अधिक बढ़ गया। सुमनने भी फुर्ती दिखलाई और पहर भर दिन चढ़ते-चढ़ते हम नदीके किनारे एक खुली सी जगहमें जाकर बैठे। सुमनके बतलानेसे हमें यह मालूम ही था, कि अब जङ्गलों और उनके वृक्षोंके देखनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

शरद्का अन्त हो रहा था, इसलिये सारी पर्वतस्थली हरियालीसे बिल्कुल वंचित थी। वर्षामें इन पहाड़ोंपर हरे रोयेंकी तरह दूर-दूरपर हाथ-डेढ़ हाथ ऊँची घासें उग आती हैं, जो अब बिल्कुल सूख गई थीं। आगे हमारे साथी मिले। सार्थने अपना डेरा डाल दिया था। किसीने तम्बू गाड़ लिये थे, और कोई ऐसे ही आसमानके नीचे अपने सामान लगाकर बैठे थे। हिमालयके इस पार लकड़ीका ईंधन अब सपनेकी बात थी। कंडे और मेंगनी ही यहाँ मिल सकते थे। सार्थोंके पड़ाव जहाँ पड़ा करते हैं, वहाँ यह बहुतायतसे मिलते हैं, किन्तु सार्थोंके पशुओंके कारण आसपासकी घास खतम हो गई रहती हैं और पशुओंको चरनेके लिये दूर भेजना पड़ता है। सार्थवाले हमारे पहुँचनेपर बड़े प्रसन्न हुये। सभी व्यापारी भिक्षुओंके प्रति आस्था रखनेवाले थे, और उद्यानी तो हमारे सगे-सम्बन्धी थे, इसीलिये वह बड़े चिन्तित थे। उनको विश्वास हो गया था, कि दैत्योंने पाँचों भिक्षुओंको मारकर खा डाला होगा। लेकिन, उनका क्या कसूर था? उन्होंने तो बार-बार हमें साथ चलनेके लिये कहा था। जब एक भिक्षुको दैत्य-मुँहसे निकालनेकी बात सुनी, तो उन्हें

जहाँ अपनी बातपर विश्वास हुआ, वहाँ साथ ही यह जानकर बहुत संतोष हुआ, कि मैं दैत्यका मुँह चीरकर प्राण बचानेकी दिव्य शक्ति रखता हूँ। अब मेरे प्रति उनका भाव और भी अधिक बढ़ गया और डाकुओंको किस तरह हमने अपने वशमें कर लिया, इसे सुनकर तो हम अब उनके लिये पूरे देवता बन गये। डाकुओंको यद्यपि सार्थके संख्या-बलके कारण हिम्मत नहीं हुई थी, लेकिन लोग समझते थे, कि यह भी हमारे ही साथ रहनेका फल है, जो कि धन और शरीरसे अक्षत वह डाँडेको पार कर सके।

कश्मीरके गृहपतियोंने उस दिन गन्धशालीका बहुत स्वादिष्ट भात बनाया, उद्यानियोंने बड़े प्रेमके साथ माँस पकाया। मध्याह्नके समय हम पाँच भिक्षुओंको बैठाकर जिस तरह भोजन कराया जा रहा था, उससे मालूम नहीं होता था, कि हम किसी निर्जन बयाबानमें बैठे हैं। आजकी यात्रा बड़ी कठिन और पशुओं तथा मनुष्योंके लिये भारी मेहनतकी थी, इसलिये सारे दिन और रात उसी जगह मुकाम करना पड़ा। अगले दिन फिर हम वहाँसे रवना हुये। पहाड़ तो सब एक ही तरहके थे—जंगल और वृक्षोंसे शून्य तथा कहीं-कहीं पीली पड़ गई छोटी-छोटी घासें। उनमें पत्थर कम और मिट्टी अधिक दिखाई पड़ती थी। हमें बराबर नदीकी धारके साथ नीचे उतरना पड़ रहा था। सारा दृश्य इतना समान था, कि पहचान करना हमारे लिये मुश्किल था। हम जाड़ोंमें भी देवदारकी हरी पत्तियोंके देखनेके आदी थे, इसीलिये कुछ दिनों तक तो हमें कुछ सूना सूना सा दिखाई पड़ता रहा। इसी बीच हम ऐसी जगह पहुँचे, जहाँसे दो रास्ते फट रहे थे, दाहिनी ओर काँस्य देशको जानेवाला रास्ता था और बाईं ओर कम्बोज नगर (बदख्शाँ) का। हमें दोनों जगहों में जाना था, और यदि कुछ लोग काँस्य देशकी ओर जानेवाले होते, तो निश्चय करनेमें कठिनाई होती। अब तो सभीको कम्बोज नगरीकी ओर जाना था, उसी ओर कि नदीकी धार हमें ले जा रही थी। शायद नीला

रंग होनेके कारण ही इस नदीका नाम नीलाप (कोकूचा) पड़ा था। नदीके आरपार हमें आगे दूर-दूरपर कहीं-कहीं गाँव भी मिल रहे थे, लेकिन मैंने इतने दरिद्र ग्राम कभी नहीं देखे थे। कपिशामें भी हरियाली कम है, लेकिन वहाँके मकान सिर्फ मिट्टी और अनगढ़ पत्थरोंके ढेर नहीं होते। बाजवक्त तो पासके पहाड़ और इन घरोंमें भेद करना मुश्किल हो जाता। कम्बोज लोग हमारे उद्यानियोंसे भी अधिक गोरे वर्ण के थे। गरीबीके कारण किसी-किसीके शरीरमें खून और माँस कम भले ही दिखाई पड़ता हो, लेकिन वैसे वह बल और रूपमें कम नहीं थे। उनके घोड़े तो सचमुच ही यथानाम तथागुण थे। अपने सुपुष्ट और ऊँचे कद, सुन्दर रूपके कारण यहाँ के घोड़े सभी जगह प्रसिद्ध हैं। ऐसी दरिद्र पहाड़ी भूमिमें कैसे इतने सुन्दर घोड़े पैदा होते हैं? इन घोड़ों के रेवड़ोंको देखकर मुझे चकित होते देख सुमनने बतलाया: ये घोड़े विश्व विजेता यवनराज अलिक्सुन्दर के अपने घोड़ेकी औलाद हैं। उद्यानी व्यापारियोंने बतलाया: ये श्यामकर्ण घोड़े हैं, जिनकी चीन और पारसीक तक बड़ी माँग है। कम्बोजोंके गाँवोंके अतिरिक्त हमें रास्तेमें येथोंके डेरे भी मिले। येथा हमारे उद्यानमें भी हैं और अभी भी वह गाँव बसाकर बहुत कम रहते हैं, लेकिन यहाँके येथा तो बिल्कुल बर्बर थे, उनमें दया और नम्रताका पता नहीं था। कम्बोज लोग भीरु नहीं होते, लेकिन इन येथोंने उनकी हिम्मतको कुचल दिया है। ये लोग घोड़ीके बालके बने हुये अपने तम्बुओंमें रहते हैं। इनका डेरा एक बाकायदा बसा हुआ गाँव सा मालूम होता था। हम जितने ही कम्बोजपुरीके नजदीक जा रहे थे, उतने ही गाँव भी नजदीक आते जा रहे थे, नदीका पानी और धार भी बढ़ती जा रही थी और खेती भी अधिक दीख पड़ती थी। कम्बोजपुरीमें पहुँचने तक हमने अनेक येथों (हेफ्तालों) के अनेक डेरे देख लिये थे और उनके जीवन और स्वभावसे परिचित हो गये थे। उनकी तुलना हमारे उद्यानके येथोंसे नहीं की जा सकती थी। इनके ऊपर नागरिक और ग्रामीण जीवन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।

सरदारोंके डेरोंमें चीनी रेशम, भारतीय बारीक वस्त्र तथा एकसे एक विलासकी सामग्री देखनेमें आती थी। पोशाक बहुत कुछ अपनी रखते हुए भी वह बहुमूल्य थी, लेकिन वह अपने बयाबानके पशुपालन-जीवनको गर्वकी बात समझते थे। उनको न विद्यासे कोई मतलब था; न दर्शन तथा उच्च विचारोंसे।

कम्बोजपुरीमें हम इसी ख्यालसे आये थे, कि वहाँसे हमारे विहार के लिये पद्मराग (लाल) और दूसरे रत्न प्राप्त होंगे। कम्बोजका पुराना राजा अब भी मौजूद था और तथागतके शासन में उसकी बड़ी श्रद्धा थी, किन्तु राजशक्ति अब येथोंके हाथमें थी, जिनका एक सेनापति पुरी और देशका सर्वेसर्वा था। कम्बोजराज उसके हाथका खिलौना ही नहीं था, बल्कि सम्पत्ति भी उसके हाथ से जाती रही थी। हेफ्तालोंने पुरी पर पहिले पहिल अधिकार करते समय बड़ी लूट-पाट मचाई थी, और विहारोंको उन्होंने अकिंचन बना दिया था। राजविहारकी दीवारें और छतें अब भी खड़ी थीं, उसमें तीस-एकके करीब भिक्षु रहते थे, लेकिन हेफ्तालोंने धन नामकी कोई चीज विहारमें रहने नहीं दी थी। काँसे-पीतलकी मूर्तियों तकको गलाकर उन्होंने बेंच दिया था, सोनेके ताल पत्र पर लिखी पुस्तकों और सुन्दर चित्रों और फूल-पत्तोंसे अलंकृत सुनहली पट्टियोंको इन बर्बरों ने ठोस सोना समझकर जला दिया। कितने ही समय तक देवालयों और विहारोंमें उनके सैनिक डेरा डाले पड़े रहे। कम्बोजके धार्मिकोंने बहुत से घोड़े और दूसरी चीजें प्रदान करके उन्हें उनसे खाली करवाया। तोरमाणके शासनमें अवश्य अवस्थामें सुधार हुआ, वह नागरिक-जीवनके महत्त्वको समझता था। उसके मरनेके बाद ही हिमालयके इस तरफका राज्य मिहिरकुलके प्रतिद्वन्दी दूसरे हेफ्ताल राजाके हाथमें चला गया। आज तक कम्बोज की कालरात्रि उसी तरह चली जा रही है। यहाँ के सभी श्रेणीके लोग हेफ्तालोंके लिये घोड़ेकी दूब जैसे भी नहीं हैं। उनमें इतना भी धैर्य और दूरदर्शिता नहीं है, कि लोगोंको कुछ संतोषके साथ रक्खें, जिसमें वह अधिक धन-धान्य उत्पन्न कर सकें। कम्बोज किसी समय ऊँची जातिके अपने घोड़ोंके लिये ही नहीं, बल्कि रत्नकी खानोंके

लिये भी प्रसिद्ध था। यहाँका पद्मराग (लाल) सारी दुनियामें मशहूर था। लोहे, सीसे, ताँबे, फिटकिरी, गन्धक, इंगुर आदिकी यहाँ बहुत सी खानें थीं, लेकिन जब शासनके नामपर केवल लूट-खसूट चलती हो और लोगोंके पल्ले कुछ न पड़ता हो, तो कौन मेहनत करके धन पैदा करनेकी कोशिश करेगा ?

राज्यविहारके भिक्षुओंने हमारा बड़ा स्वागत किया। भारतीय पंडित भिक्षु समझकर वह मुझे सिर-आँखोंपर बैठाने के लिये तैयार थे। उन्होंने देशकी दुर्दशा, विशेषकर विहारों और भिक्षुओंकी दयनीय स्थितिकी गाथा सुनाई। यदि कभी कोई बड़ा दान मिलता भी था, तो भी वह अपने विहारको सजाने और सँवारनेकी कोशिश नहीं करते थे, क्योंकि उसका मतलब था येथोंको फिर लूटके लिये बुलाना। भारतीय भिक्षु और उनके बड़े गुरुके आनेकी बात सुनकर येथा सामन्तने हमें एक दिन बुलाया। मैं अब तक जिन-जिन देशोंमें गया था, वहाँ सामन्त और राजा चाहे बुद्धभक्त हों, या तीर्थिकोंके अनुयायी, भिक्षुओंको देख. कर आसनसे उठकर अभिनन्दन और अभिवादन करते सम्मान प्रदर्शित करते थे, किन्तु इस येथा-सरदारको कोई पर्वाह नहीं थी। वह वैसे ही बैठा रहा और उसके अनुचरने हमें वहाँ नीचे पड़े एक आसनपर बैठ जानेके लिये कहा। हम इसके लिये पहले हीसे तैयार थे। विहारके एक भिक्षु मन्त्र-विद्याके लिये कुछ ख्याति रखते थे। उन्होंने मेरी भी महिमा गाई थी, और सुमनने दैत्यके मुखसे एक भिक्षुके बचानेकी बात कहकर उनको ऐसा करनेके लिये प्रेरणा दे दी थी। बीमार और दुखी कहाँ नहीं होते। विपत् और संपत्के झोंके बड़े-बड़े स्थानोंपर भी बारी-बारीसे पहुँचते रहते हैं। हफ्ताल-सामन्तको अपने राजाके दरबारमें कुछ नीचा देखना पड़ा था। यद्यपि उसके अपने सैनिकोंका वह निरंकुश राजा था, कहिये लुटेरोंका सरदार था। फिर जब तक लूटकी छूट रहे, तब तक अनुयायी हाथसे बाहर कैसे जा सकते हैं ? लेकिन, पश्चिमका हेफ्ताल राजा दुर्बल होते हुये भी अभी काफी शक्ति रखता था, इसलिये इस हेफ्ताल सेनापतिको रातको नींद नहीं आती थी। उसने अनिष्ट शान्तिके लिये हमसे कहा और हमें भी मजबूर होकर कुछ पाठ-पूजा करनी पड़ी। हमारे आनेके उद्देश्यकी बात सुनकर उसने भी पद्मरागके कुछ

कराके दिये, कम्बोज-राजाने भी कुछ दिये। हमने अपने उद्यानके सार्थवाहको यहाँ पाये इन रतन-खंडोंको यह कहकर सौंप दिया, कि वह उन्हें सुभूमि विहारमें पहुँचा दें।

जल्दी ही हमारा मन वहाँसे ऊब गया। राजविहारके भिक्षु बहुत चाहते थे, कि जाड़ोंके लिये हम वहीं रह जायें। उन्होंने बतलायाः "जाड़ा सिरपर है, काँस्य देशके लिये जानेवाला हर वक्त कोई सार्थ नहीं मिलता। अकेले दुकेले जानेका साहस करना मौतके मुँहमें पड़ना है। आगेके लोग स्वयं जाड़ोंमें बड़े कष्टमें रहते हैं, उनके यहाँ आरामसे रहनेका कोई प्रबन्ध नहीं हो सकेगा।" परन्तु, जब मन उचट गया, तो उसे फिर कैसे रोका जा सकता है? खासकर यह मालूम करके हमने जल्दी ही प्रस्थान करनेका निश्चय कर लिया, कि जाड़ा ही नहीं, वसन्त तक पाँच-छ महीने हमें कोई सार्थ नहीं मिलेगा।

बालोर—अब हमें पामीरकी ओर बढ़ना था, जिसे लोग आधे आकाशमें टँगा बतलाते हैं। नीलाप (कोकूचा) नदी वक्षुमें गिरती थी। वक्षु, सिन्धु, सीता ये संसारकी बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, जिनके भीतर जानेवाले पानी इस भूभागको आपसमें बाँटे हुये हैं। हिमालयके जिस बड़े डाँडेको पार कर हम कम्बोजमें दाखिल हुये थे, उसके पारका जल सिन्धुमें जाता है। हमारे दरद और उद्यान-वाले तो सभी नदियोंको सिन्धु कहा करते हैं। महासिन्धु हम कई बार पार कर चुके थे। उसके परिवारकी छोटी-बड़ी नदियोंका जाल बहुत दूर तक बिछा हुआ है। उसी तरह इधरकी सभी नदियाँ वक्षुमें जाकर मिल जाती हैं। कम्बोजपुरीसे अब हमें वक्षुकी बड़ी धाराकी ओर जाना था। अगर नीचेकी ओर जाते, तो बहुत सुभीते होते, गाँव अधिक मिलते, चढ़ाईकी जगह उतराई अधिक पड़ती, पर हमें वक्षुके उद्गमकी ओर बढ़ना था। अग्राम डाँडेके पार करनेके बाद वक्षु तट और काँस्य देशको जानेवाले मार्गको हम छोड़ आये थे। हमें उस रास्तेको फिर नापनेकी जरूरत नहीं थी। रास्तेमें छोटे-मोटे डाँडे भी मिले, जो कि वक्षुकी शाखा-नदियोंके सीमांतों पर अवस्थित थे। सिन्धु और वक्षुकी तरह

सीता भी एक महानदी है, जो कांस्यदेश और कुश (कूचा) द्वीपमें बहती है। हमें वक्षुके क्षेत्रसे सीताके क्षेत्रमें पहुँचना था। इन दोनों महानदियोंके सीमान्त-पर बहुत विस्तृत और ऊँचा मैदान है, जिसे पामीर कहते हैं। इसी पर्वत श्रेणीको चीनके लोग पलाँडु गिरि (चुंग-लिंग) कहते हैं, जो हमारे हिमालय-की तरह ही बहुत दूर तक चला गया है। हिमालय पार करनेमें भी हमें कम कठिनाई नहीं पड़ी थी, लेकिन पामीर (पलाँडुगिरि) को पार करनेमें जिन कठि-नाइयोंकी बात हमने सुनी, और जिनका हमें स्वयं अनुभव हुआ, वह वर्णनातीत है। प्राकृतिक दृश्य उसी तरहका वृक्ष-वनस्पतिहीन और दरिद्र।

हमें वक्षु तट पर अवस्थित वक्षुग्राम (किला-पंज) तक जानेके लिये वहींके आदमी मिल गये; इसलिये जहाँ तक रास्तेका सम्बन्ध था, उसे भूलनेका डर नहीं था। वहाँ पहुँचनेमें उतना आराम तो नहीं रहा, जितना कि उद्यानसे आते समय, किन्तु यह अपेक्षाकृत ही कह सकते हैं। आदमी अधिक कष्टसे भेंट होनेपर पहलेके कष्टको भूल जाता है। आखिर, हम एक दिन वक्षुग्राममें पहुँच गये। येथों (हेफ्तालों) से पिंड छूटना भी एक आनन्दकी बात थी। वह नाहक आदमियोंको तङ्ग करते हैं। हम भिक्षु तो इस तरहके बर्तावके अभ्यासी नहीं हैं। ग्राम वक्षुके तटपर है। वक्षुकी बहुत सी शाखायें हैं, जो हिमगलित होकर बनती हैं। सभी शाखाओंके किनारे रहनेवाले लोग अपनी नदीको मूल वक्षु बतलाते हैं। यहाँके लोगोंका कहना था, कि वक्षु कही जानेवाली दूसरी किसी नदीमें न इतना पानी है। वह बहुत दूरसे आती है। इस उपत्यकाका नाम वह वक्षु-उपत्यका (वखान) कहकर साबित करना चाहते हैं, कि मुख्य वक्षु यही है।

अभी हम इस इलाकेके सबसे निम्न भाग पर थे, और यह गाँव इस इलाकेका सबसे बड़ा गाँव तथा स्थानीय राजाकी राजधानी कहा जाता था। इन पहाड़ोंमें जिसके भी अधीन सौ-दो सौ घर हों, उसे राजा कहलानेका अधि-कार है। यह कोई धन-धान्य सम्पन्न देश नहीं है, इसलिये हेफ्ताल लोग यहाँ

बहुत कम आते हैं। स्थानीय राजा उनके पास भेड़ें, पोसतीन तथा कुछ दूसरी चीजें भेंटके रूपमें पहुँचा देता है। अभी तो गेहूँकी फसलवाले इलाकेमें हम थे, लेकिन एक ही दिनके रास्तेपर चलनेके बाद गेहूँकी फसल नहीं पकती। लोग बिना भूसीके जौकी खेती करते हैं। यहाँका जौ हमारे जौसे दूनासे भी अधिक बड़ा होता है और रोटी भी उसकी स्वादिष्ट होती है। जौके अलावा हरी-हरी छोटी कलाय (मटर) भी पैदा होती है, लेकिन ये लोग खेती नाममात्रके लिये करते हैं। इनकी मुख्य जीविका भेड़ें-बकरियोंका पालन है। एक-एक घरमें पाँच-पाँच छ-छ सौ भेड़ोंका रेवड़ होना मामूली सी बात है।

इस ग्रामसे आगे बढ़ना जाड़ोंके चार-पाँच महीनोंके निवासके लिये अनुकूल नहीं था, इसलिये काँस्यदेशकी यात्राको हमने तब तकके लिये स्थगित कर दिया, जब तक कि व्यापारियोंके सार्थ चलने न लगें। यहाँसे उत्तर-पूर्वमें कुछ दिनोंके रास्तेपर सुवर्ण सरोवर (ज़रकुलके) बारेमें बहुत सी बातें सुनीं। लोग बतला रहे थे : वहाँ जमीन मैदान जैसी दिखाई देती है। सरोवरका नाम यद्यपि सुवर्ण सरोवर है, लेकिन उसका रङ्ग नीलम जैसा नीला होता है। गर्मियोंमें वहाँ लाखों हंस और दूसरे जल-पक्षी आकर रहते हैं। बर्फ पिघलते ही सब जगह घास निकल आती है। सरोवरको १२ योजन लम्बा और ७ योजन चौड़ा बतलाते यह भी कहते थे, कि दक्षिणवाले जम्बु-द्वीपके यह बीचोबीचमें है। वहाँ अर्हत (मुक्त पुरुष) अब भी निवास करते हैं। महिमा सुनकर, उसे देख आनेका निश्चय किया। हमने इस तरहकी बातें बहुत सुनी थीं, और कहीं भी हमें अर्हतोंके दर्शनमें सफलता नहीं मिली थी, लेकिन कुछ बारकी असफलतायें क्या आदमीकी हिम्मत तोड़ सकती हैं। वक्षु ग्राममें भी एक विहार है। उपत्यकाके लोग जीवनमें बहुत पिछड़े हैं। उनके पास नागरिक विलासकी कोई चीज नहीं है। उनका राजा भी खालकी पोशाक पहनता और देखनेमें लोगों जैसा दीखता है। लेकिन लोगोंमें तथागतके प्रति बड़ी भक्ति है। वह अपने पास जो कुछ भी हो, उससे भिक्षुओंका सत्कार करनेके लिये तैयार रहते हैं।

विहारके एक भिक्षुने बड़े उत्साहके साथ हमारा पथ-प्रदर्शन करना स्वीकार कर लिया। रास्तेके लिये खाने-पीनेकी चीजें हमने साथ बाँध लीं, जिसके लिये तीन गदहे और चार आदमी हमें राजाने दे दिये। रास्ता कठिन था, लेकिन एक दिन हम सरोवरके तटपर पहुँच गये। जाड़ा शुरू हो गया था, यहाँ कोई प्राणी नहीं दिखाई देता था। लेकिन, बतला रहे थे, कि गर्मियोंमें यहाँ खूब घास होती है, कंकाल मात्र रह गया घोड़ा भी यहाँ आये, तो बीस दिनकी चराईमें इतना मोटा हो जाता है, कि उसके खालके फटनेका भय लगने लगता है। नीचेसे बीमार होकर भी यदि कोई आदमी यहाँ पहुँचता है, तो उसका रोग छूमन्तरकी तरह भाग जाता है। पानीकी भी बड़ी महिमा है। हमें उद्यानके पयारोंके जीवनका तजर्बा था, इसलिये पामीरके इस मैदानकी महिमाको अति-शयोक्ति होनेपर भी आसानीसे समझ सकते थे। सरोवर अब भी हिममुक्त था। शामको पूर्ण हम वहाँ पहुँचे थे, उस वक्त हवा चल रही थी, उसमें उठती बड़ी-बड़ी लहरोंको देखकर मुझे सिंहल द्वीपका समुद्र याद आ रहा था। अगले दिन सबेरे हवा शान्त थी और सरोवरका स्थिर अभिनील जल देखनेमें सुन्दर मर्कतसा मालूम होता था। गर्मियोंमें डेरा डालनेवाले पशुपालोंके स्थान जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ रहे थे। ईंधनके लिये हमें कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि कण्डे और मेंगनियाँ वहाँ बहुत थीं। सरोवरका दर्शन करके किसी अर्हतके भेंट करनेका सौभाग्य प्राप्त किये बिना हम फिर वक्षु ग्राममें चले आये। अब जाड़ों भरके लिये हमें यहीं विश्राम करना था।

उपत्यकाके लोगोंके सीधे-सादे जीवन और सच्चाईसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। लोग बाण चलानेमें बड़े सिद्धहस्त और कुशल शिकारी हैं। लड़नेमें भी संख्यामें कम रहते ये किसीसे डरते नहीं। इन्होंने अपने गाँव पहाड़ोंमें ऐसे दुर्गम स्थानोंमें बना रक्खे हैं, जहाँपर वह शत्रुसे अच्छी तरह मुकाबिला कर सकते हैं। पुरुषोंकी पोशाक छालेकी होती है, स्त्रियाँ भी छालेका व्यवहार करती हैं, लेकिन उनका अन्तर्वासक सूती होता है, और एक-एकमें एक-एक थान कपड़ा लग जाता है। जितना ही ज्यादा कपड़ा लगाये, उतना ही उनके धन

और सौन्दर्यका प्रमाण मिलता है। कपड़ोंकी तहकी तह लगाकर वह विकट नितम्बा बनना चाहती हैं, जिसे मुखके सौन्दर्यसे भी अधिक माना जाता है।

हमारा भोजन थोड़ा सत्तू या रोटी और अधिकतर मांसका था। शरद्में ही यहाँ लोग पाँच-छ महीनेके खानेके लिये जानवरोंको मारकर मांस जमाकर लेते हैं। बीच-बीचमें शिकार भी वह करने जाते हैं और कोशिश करते हैं कि संचित मांस जल्दी खतम न हो। सर्दीके कारण मांसके सड़नेका डर नहीं। भेड़ोंको नुकसान पहुँचानेवाले भेड़िये यहाँ बहुत हैं, जिनके चमड़ेको पोशाकके लिये इस्तेमाल किया जाता है। भात यहाँ नहीं पकता और दाल भी हमने अपने पथारोंमें भी यह देखा था।

अध्याय १२

कांस्य देशमें (५५१ ई०)

जाड़ोंमें सचमुच ही बहुत तकलीफ हुई। अधिवासी स्वयं गरीब थे। कृषिका सहारा उनको बहुत कम था, और अधिकतर वह अपने पशुओं और शिकारपर निर्भर करते थे। यदि हम कम्बोजपुरीमें ही रह गये होते, तो अच्छा हुआ होता। पर अब क्या करना था? घोर जाड़ेके आ जानेसे रास्ते बन्द हो गये थे। मैं और सुमन पीछे पैर रखनेके विरोधी थे, किन्तु हमारे साथी भिक्षु उतनी हिम्मत नहीं रखते थे। आदमी वैसे स्वभावतः यायावर है, लेकिन एक सीमा ही तक। हरेकके हृदयमें अज्ञात देशोंके देखने और अननुभूत कष्टोंको झेलनेकी लालसा नहीं होती। फिर जब उसके साथ रोगका भी सामना करना पड़े, तो साधारण आदमीकी हिम्मत टूट जाती है। बालोरमें एकके बाद एक हमारे तीनों साथी पेटकी बीमारीमें बुरी तरह फँस गये। आगे चल कर खूनका पाखाना होने लगा। तीनोंके प्राण संकट में पड़ गये, किन्तु मृत्युने एक हीको साथ लिया। यदि हेमन्त समाप्त होनेके बाद वसन्त उस साल जल्दी शुरू न हो गया होता, तो इसमें संदेह है, कि हमारे बाकी दोनों साथी भी बच पाये होते। गरम दिनोंके आने तक उनके शरीर में केवल हड्डियोंका ढाँचा रह गया था। मेरा अपना विश्वास है, कि हरेक देशके लोग अपने यहाँकी गर्मी-सर्दीके अनुरूप अपना भोजन-छाजन रखते हैं। पीढ़ियोंके तजर्बेके बाद वह जान लेते हैं, कि भिन्न-भिन्न समयोंमें उन्हें किस तरह रहना चाहिये। हम भिक्षु अपने नियमोंके कारण एक तरहकी वस्त्रभूषा धारण करनेके लिये मजबूर हैं, किन्तु तथागतने भी सर्दी-गर्मीका ख्याल करके नियम बनाये थे। शीतल देशोंमें उन्होंने विशेष प्रकारके जूते और कपड़े पहननेकी अनुमति दी थी। हमारे उद्यानके भिक्षु वही वस्त्र नहीं पहनते, जो सिंहलके। सिंहलवाले दाहिना

कन्धा नंगा करके चीवर पहनते हैं, और आशा करते हैं, कि सभी भिक्षु इसी वेषमें रहें। लेकिन, क्या उद्यानमें एकांस-चीवर पहनकर कोई जाड़ोंको पार कर सकता है? बालोरकी सर्दी हमारे उद्यानसे भी ज्यादा कठोर थी। जब मैंने वहाँके भिक्षुओंको जाड़ोंमें कमरबन्दकी जगह रोम-सहित चमड़ेकी पट्टी पेटपर बाँधते देखा, तो समझ लिया, कि यहाँके जाड़ोंके लिये इसका कोई उपयोग है। सुमनने भी मेरी बातका समर्थन किया, और हम दोनोंने पहले हीसे पट्टी बाँध ली। हमारे साथी इसके लिये तब तैयार हुये, जब सर्दी खाकर उनके पेट खराब हो गये। मेरे जैसा यायावरीमें एकान्त निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति पद-पदपर मृत्युका स्वागत भले ही करनेके लिये तैयार हो, लेकिन वह जीवनके ऐसे ही बेकार फेंकनेके लिये तैयार नहीं हो सकता। शायद इसी सावधानीका फल था, जो कि मैं सभी तरहके देशोंमें घूमते हुये अपनेको स्वस्थ और कर्मण्य रख सका।

आगेका रास्ता और भी कठिन था। हमारे दो भिक्षु इच्छा रहनेपर भी इस अवस्थामें नहीं थे, कि यात्राको पूरा कर सकें। उनका स्वास्थ्य कुछ सुधर गया, और इस बातको पसन्द किया, कि आगे न बढ़ कर वह अपने देश लौट जायें। वसन्त बीता हमारे उद्यानसे भी पीछे शुरू होता है। मध्यमंडलमें तो वह तीन महीने बाद आता है। ठंडे मुल्कवाले ही वसन्तके आनन्दको जानते, जब कि शरदसे ही नंगे हो गये वृक्ष हरी पत्तियोंका वस्त्र पहनते हैं, जगह-जगह रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं। वक्षुके इस ऊपरी छोरपर प्रकृति अपना दूसरा ही रूप रखती है। यहाँ वन्यवृक्ष है ही नहीं, हाँ, बर्फ पिघल जानेपर घास जरूर उग आती है और पशुओंके लिये वह बड़ी पुष्टदायक होती है। यहाँ के लोगोंके लिये हरित तृण और कहीं-कहीं ताजे खिले फूल परम-प्रिय वस्तु हैं।

देश बहुत छोटा और दरिद्र है, व्यापार-वाणिज्यके लिये भी तो पर्याप्त धनकी अवश्यकता होती है, जिससे कि यहाँके लोग वंचित हैं, अतएव वह अपने देशके बाहर व्यापर करने के लिये नहीं जाते। हाँ, इनके जानवर

बोझा ढोनेका काम देते हैं। कोई-कोई चाकर और पथ-प्रदर्शक बन कर भी सार्थों के साथ जाते हैं। कांस्यदेश जानेके लिये हमें कम्बोज, तुषार, बाह्लीक, कपिशाके सार्थवाहों की प्रतीक्षा करनी थी। अपने आनेकी खबर भी तो सार्थ खुद अपने साथ लाते हैं, इसलिये पहले सालोंमें जिन जिन दिनों वह आते हैं, उन्हीं दिनोंमें आनेकी आशा थी। हरेक सार्थ हमको अपने साथ ले जानेके लिये तैयार होगा, इसकी भी आशा नहीं थी, क्योंकि हम उनके लिये बेकारके बोझ थे। हम उनके काममें कोई सहायता नहीं कर सकते थे, उल्टा हमारे खाने-पीनेका भार उनके ऊपर पड़ता। लेकिन, मिलनेवाले सार्थों में अधिकतर बुद्धभक्तिक थे, वह विश्वास रखते थे, कि भिक्षुके साथ रहनेसे हम देवी और मानवी विपत्तियोंसे बच, पुण्य अर्जित कर सकते हैं।

पहला सार्थ बाह्लीक लोगों का आया, जिसके साथ एक भिक्षु भी थे। हमें उनसे परिचय प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। मेरे जैसे बहुपर्यटित, तथा कुछ विद्या पढ़े भिक्षुसे मिल कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके द्वारा सार्थवाहसे भी हमारा परिचय हो गया। हम दोनोंके पास पाथेयके लिये कुछ धन था, लेकिन नव-परिचित सार्थवाहने बतलाया : "हम कांस्यदेश तक आपको अच्छी तरह पहुँचा देंगे, और वहाँके लोग भिक्षुओंकी बड़ी पूजा करते हैं।" अब हमें कोई चिन्ता नहीं रह गई। देश लौटनेवाले भिक्षुओंको भी रास्ते के लिये कुछ चाहिये था। हमने यह भी अच्छा समझा, कि यदि कुछ बच कर हमारे विहारमें पहुँच जाये, तो अच्छा। कम्बोजपुरीके जानेवाले आदमी पहले मिल गये। तब तक हमारे भिक्षु कुछ चलने-फिरने लायक हो गये। उनके विदा हो जानेपर मुझे बहुत संतोष हुआ।

बाह्लीक-सार्थके साथ अब हम वक्षुकी एक शाखाके साथ पूर्वकी ओर बढ़े। रास्तेकी भूमि अब कई सप्ताहोंके लिये एक सी थी। पहाड़ नंगे और छोटे छोटे, उपत्यकायें चौड़ी जिनमें नदीकी धारा पतली रेखाकी तरह मालूम होती थी। पत्थर नदीकी धाराके पास ही अधिक दिखाई पड़ते थे, पहाड़ोंमें उनकी अपेक्षा मिट्टी अधिक थी। हमारे सार्थने यहाँके लोगोंके बहुतसे जानवर किराये

पर लिये थे, जिनपर उन्होंने घास, चारा और कुछ ईंधन भी लाद लिया था। चढ़ाई बहुत कठोर नहीं थी, लेकिन कहीं-कहीं रास्ता ऐसी जगहसे था, जहाँ नदी शिलाओंको काटकर बह रही थी। ऐसी जगह रास्ता बहुत सँकरा और दुर्गम हो गया था। कहीं-कहीं ऐसी जगहोंसे बचने के लिये हमें दूरका चक्कर काटना पड़ता, और कहीं सारे सार्थको लग कर रास्ता बनाना पड़ता। दो ही दिन जानेके बाद आबादी खतम हो गई। अब आगे रास्तेमें कोई गाँव नहीं था। पशुपाल घासोंके जमनेपर इधरसे जाते हैं, इसलिये कंडोंका हमें सुभीता था। घास पूरी तरह तो वर्षामें होता है, जो यहाँ बहुत कम होती है, तो भी वह एक बार प्रकृतिको सजीव बना देती है।

अभी तक मेरी की गई यात्रा तैयारीकी यात्रा थी। अब मैं अपनी वास्तविक यात्राको आरम्भ हुये मानता था। रह-रहकर मुझे ख्याल आता—"कितनी आनन्दप्रद यह यात्रा होती, यदि आज बुद्धिल मेरे साथ होते।" सुमनका मेरे साथ स्नेह था, लेकिन उनसे मैं कुछ सीख नहीं सकता और न उनके सामने अपनी समस्याओंको खुलकर रख सकता था। पाँच ही सात दिन रहनेके बाद मालूम हो गया, कि बाह्लीक-भिक्षु भी सुमनकी तरह ही अच्छी प्रकृतिक हैं। यात्रामें चिरकाल तक साथ रहनेके लिये साथियोंमें कुछ खास गुणोंकी आवश्यकता है, तभी यात्रा सुखद होती है। मेरे दोनों साथी-भिक्षुओंमें वह गुण मौजूद थे, लेकिन वह मुझे अपना गुरु मानते थे। गुरु और शिष्यमें, पिता और पुत्रमें जो अन्तर होता है, वह हमारे बीचमें भी था, जिसे मैं पसन्द नहीं करता था। बस यही अभाव मुझे खटकता था और बुद्धिल बराबर मुझे याद आते रहते थे। राज्योंकी तरह नदियोंका भी अपना राज्य होता है। राज्योंकी सीमाओंको लाँघनेके समय कितनी ही जगह मानवी बाधायें उपस्थित होतीं। वणिक-सार्थ राजाके लिये लाभदायक होते हैं; इसलिये वह उनके यातायातमें बाधा नहीं डालते; किन्तु इन दुर्गम पहाड़ोंमें अवस्थित नदियोंके राज्योंकी सीमायें बड़ी दुर्लंध्य होती हैं। हम सिन्धुके राज्यको पार करते वक्त जिस कठिनाई में पड़े थे, उसी तरहकी कठिनाईकी यहाँ भी सम्भावना थी।

वक्षुके राज्यको पार कर अब हम सीता (तरिम्) नदीके राज्यकी ओर बढ़ रहे थे। चलनेमें बड़ी कठिनाई हो रही थी। बड़ी जल्दी साँस फूलने लगती; दोपहर बाद हवा चलने लगती, उस वक्त सर्दी बहुत तेज हो जाती। सबेरेके वक्त चलते, तो रास्तेमें पानी जहाँ भी मिलता, जमा हुआ मिलता और वह मध्याह्नके करीब ही जाकर पिघलता। कभी-कभी बूँदें पड़तीं, तो वह भी पानी-की जगह हिमके रूपमें ही। बस्तियोंके छोड़नेके बाद तीन-चार दिन तक चढ़ाईका रास्ता मिला। फिर हम एक डाँड़ेको पारकर दूसरी ओर शुरू हुई एक छोटी नदीके किनारे पहुँचे।

बालोरसे जो घास-चारा ढोकर लाया गया था, उसे खतम करके पिछले डाँड़ेको पार करनेके बाद ही वहाँके लोग लौट गये थे। कुछ दूर तक हम उसके किनारे चले। फिर वह उत्तरकी ओर घूम गई। हमारे दाहिने, पर पूर्वकी ओर उसी तरह हिमाच्छादित शिखरश्रेणियाँ दीख पड़ रही थीं, जैसी मेरी जन्मभूमिमें उत्तरकी ओर दीखती हैं। इसे खशगिरि कहते हैं, यह सुनकर मेरे मनमें ख्याल आने लगा, हमारी जातिके लोगोंका क्या इन पहाड़ोंसे कोई सम्बन्ध था। कितने ही दिनों तक हम उसके साथ साथ निर्जन भूमिमें चलते रहे। कभी-कभी मेषपालोंके डेरे मिल जाते, जिनसे हमारे सार्थको माँस भरका लाभ होता। ये पशुपालक अपने साथ बहुत कम अन्न रखते थे, जिसे किसी मूल्यपर भी वह देनेके लिये तैयार नहीं थे। आगे बाईं ओर एक सरोवर मिला, हमारे पहले देखे हुये सुवर्णह्रदके सामने यह पुष्करिणी सा था। तो भी इतनी बड़ी जलराशिको देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसपर बहुत से जलपक्षी तैर रहे थे, जो इस बातका परिचय दे रहे थे, कि मध्यमंडलमें अब आगकी तरह गरम हवा चल रही होगी। इस सरोवरके पास जानेके पहले हमें दो हिमाच्छा-दित पर्वतश्रेणियोंके बीचमेंसे होकर पूर्वकी ओर बढ़ना पड़ा था। फिर हमारा रास्ता एक नदीके किनारेसे चला, जो हमें अपेक्षाकृत एक विशाल सरोवरपर ले गया, जिसे शिलापति कहा जाता था। दो दिन पहले हीसे सर्दी कम हो गई थी, और सरोवरके किनारे गर्मियों की ऋतु साफ दिखलाई पड़ती थी।

तीन तरफ दूर-दूर खड़े पहाड़ थे, जिनके पास तक बालुका भूमि थी। इसीमें यह सरोवर लम्बा चला गया था। बालुका भूमिके कारण सरोवरका कलेवर अवश्य कम हुआ है। यदि यह न होती, तो वह और भी बड़ा होता। एक बड़ा सा गाँव मिला। कई हफ्तोंसे पशु पेट भर कर खाना नहीं पाये थे, खश-गिरि (काशगर) नगर अब दूर नहीं था। नगरमें जानेपर खाने-पीनेकी चीजोंका मोल बढ़ जाता और पशुओं को भी इतनी यात्रा करनेके बाद कुछ आराम देना आवश्यक था, इसलिये सार्थवाहने यहीं पाँच दिन रहनेका निश्चय किया।

मुझे इससे बहुत संतोष हुआ, क्योंकि दुर्लंघ्य हिमवान्‌को पारकर अब मैं कांस्यदेशमें पहुँच गया था। सार्थके ठहरनेकी जगहसे कुछ दूरपर सरोवरके किनारे एक विहार देखकर हमारी इच्छा वहाँ जानेकी हुई। अगले दिन हम तीनों भिक्षु वहाँ गये। भारतीय भिक्षु समझ कर मेरा स्वागत होना स्वाभाविक था। जैसी वह कांस्यदेशके लोगोंकी भक्तिकी प्रशंसा मैंने सुनी थी, वह वैसी ही मालूम हुई। कई घण्टें तक हमारी बातचीत होती रही। कांस्य-देश की एक भाषा नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न राज्योंकी भिन्न-भिन्न भाषा थी, किन्तु, भिक्षुओंने बतलाया—हमारे विहारोंमें दो भाषायें चलती हैं, अपनी और मध्यदेश (भारत) की। वहाँके भिक्षुओंमें बहुत विद्याप्रेम है। लोगोंका भी हमारे उद्यानियोंके रूप-रंगसे फर्क इतना ही था, कि उनमें हमारी अपेक्षा अधिक नीली आँखों और भूरे बालोंवाले आदमी मिलते थे।

परिचयके बाद अब वहाँके भिक्षुओंके आग्रहको हम ठुकरा नहीं सके, और उसी दिन अपने सार्थवाहसे बिदा लेनेके लिये मजबूर हुये। आगे रास्ता आसान था, गाँव दूर-दूर थे, पर लोग आते-जाते रहते थे। पामीरकी कठोर शीतल भूमिको हम पीछे छोड़ आये थे। अब यदि शिकायत हो सकती थी तो गर्मीकी। लेकिन मैं भीषण गर्मीको देख चुका था। यह एक छोटा सा विहार था, इसलिये यदि मैं वहाँ सबसे बड़ा पंडित मालूम होता था, तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन, कांस्यदेशमें आनेका एक उद्देश्य अपने जले विहारको फिरसे बनवानेके

लिये कुछ धन-संग्रह करना भी था। मैंने देशकी स्थितिके बारेमें पता लगाया, तो मालूम हुआ, वह ऐसी नहीं है, जिससे कोई आशा की जा सके। हूणोंके वंशज अवार पहले इस भूमिके अधिपति थे। खशगिरि (काशगर), कुस्तन (खोतन), कूची आदिकी अपनी-अपनी भाषा और अपनी जातिके राजा थे, लेकिन सभी अवारोंके अधीन थे। लोगोंको घुमन्तू अवार अधिकसे अधिक चूसना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके प्रतिद्वन्द्वी तथा पहिले उन्हींके अधीन त्योर्क (तुर्क तुरुष्क) अब उनके जानके ग्राहक बन गये थे। कई सालोंसे वह बागी हो अपने स्वामियोंकी शक्तिको खोखा कर रहे थे। कांस्यदेशके लोग आवरोंको पसन्द नहीं करते थे। सफेद नम्देके तम्बुओंमें रहनेवाले ये बर्बर घुमन्तू अपने सामने किसीको कुछ लगाते नहीं थे, इसलिये यदि लोग उनका अहित चाहते हों, तो यह स्वाभाविक था। कई बार उनके यहाँ खबर उड़ी कि तुर्कोंने अवारोंको हरा दिया, लेकिन अवार घोड़सवार उनकी बस्तियोंमें जब तक नोंच-खसोट करनेके लिये आते रहते, तब तक वह कैसे विश्वास करते कि अवार पराजित हो गये। इस साल (५५१ ई०) की खबर कच्ची नहीं मालूम होती थी। मालूम हुआ, तुर्कोंके सरदार तूमिनने अवारोंको बुरी तौरसे पराजित करके उनका भारी संहार किया, और अब वह इलिखानके नामसे गद्दीपर बैठा है। यह भी मालूम हुआ, कि कूचीके परेवाले प्रदेशोंमें तुर्क अब भारी लूट-ससूट मचा रहे हैं। भुक्खड़ घुमन्तुओंका नया राजवंश कायम हुआ था, फिर उन्हें सबसे पहले अपनी भूख शान्त करनी थी।

राज्य-परिवर्त्तन की खबर सुनकर मुझे मालूम होने लगा, कि पहलेसे ही लुटे कांस्यदेशमें किसी समय भी तुर्क पहुँच जायेंगे, और उसकी वह हड्डियाँ भर ही रहने देंगे। अब कांस्यदेशके धन-प्राप्तिकी आशा मैं नहीं कर सकता था। लेकिन मेरी यात्राका धन-संग्रह ही उद्देश्य नहीं था। वस्तुतः देशाटनकी लालसा मुझे यहाँ खींच लाई थी। मुझे अपने उद्यानी भिक्षुओंके लौट जानेसे अब और भी प्रसन्नता हुई, क्योंकि उनके रहते मुझे धन-संग्रहकी चिन्ता अधिक होती। सुभूमि विहारके लिये यदि मैं दो-चार तोला सोना या और कोई चीज संग्रह कर

जाता, तो उससे बहुत कुछ बननेवाला नहीं था। मैंने अब अपने सामने केवल वही एक उद्देश्य रक्खा था, जिसके बारेमें मैं और बुद्धिल वर्षों बातचीत करते रहे।

शिलापति विहारमें दो-तीन सप्ताह रहनेपर वर्षाकी फुहारें आईं। कांम्यदेशका वर्षावास शुरू होनेवाला था, लेकिन विनयके अनुसार हम पाँचवें मास (श्रावण) के आरम्भकी जगह छठे माससे भी उसे शुरू कर सकते थे। भिक्षुओंने बहुत जोर दिया, किन्तु हमने खसगिरिमें ही जाकर वर्षा बितानेका निश्चय किया। खसगिरि, वहाँसे उत्तर-पूर्वके कोणपर था। हम दो दिनकी यात्रा करके वहाँ पहुँचे। नगरके आसपासके गाँव दरिद्र प्रकृतिसे घिरे भी बहुत हरे-भरे थे। वहाँ मेवोंके बाग और खेत दूर तक दिखलाई पड़ते थे। हरेक गाँवमें भिक्षु और छोटा-मोटा विहार जरूर होता। विहारोंके साथ द्राक्षा दूसरे फलोंके बाग और फुलवाड़ियाँ रहतीं, जो कि इस समय अपने सौंदर्यसे आसपासकी शोभाको बढ़ा रही थीं। कपासकी खेती यहाँ बहुत होती है और लोग भी मध्यमंडलकी तरह कपासके कपड़े अधिक पहनते हैं। हाँ जाड़ोंमें ऊनी कपड़ोंकी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि यहाँ मध्यमंडल जैसी कोमल सर्दी नहीं है। खसगिरि नगर खस नदीके तटपर बसा हुआ है। यहाँके शिल्पी बड़े कुशल होते हैं। कपड़े, धातु या पाषाणकी चीजें उनके हाथमें जाकर सौंदर्यकी प्रतिमूर्ति बन जाती हैं। लेकिन, खसगिरिकी समृद्धि अपने कपास, अपने अंगूरों और अपनी शिल्पकलाके कारण ही नहीं है। दुनिया भरके व्यापारिक यहाँ देखे जाते हैं। चीनका महार्घ रेशमी वस्त्र और दूसरी बहुमूल्य चीजें यहीं होकर पश्चिमके देशोंमें दूर-दूर तक जाती हैं। यहाँसे सोग्द जानेका अलग रास्ता है। उत्तरी घुमन्तुओंके देशमें भी यहाँसे वाणिज्य-सार्थ जाया करते हैं। अभी तक मैंने पाशुपत, निर्ग्रन्थ (जैन) आदि धर्मोंके ही देवालयों और विहारोंको देखा था। कपिशामें पारसीक धर्मियोंको देखनेका मौका मिला था, लेकिन खसगिरिमें और कितने ही नये-नये धर्मोंके अनुयायियों और उनके पूजा-स्थान देखनेको मिले। मसीही (नेस्तोरी) भिक्षुओंका यहाँ मठ है।

पारसीकोंके मानी निकायके भी श्वेतपट भिक्षु-भिक्षुणी यहाँ मैंने देखे। दुर्लंघ्य पहाड़ोंके पीछे ऐसे नगरके पानेकी मुझे आशा नहीं थी, जहाँके लोग इतने उदार, शिक्षित और विद्याप्रेमी हों। कांस्यदेशमें यद्यपि और धर्मों के लोग भी रहते हैं, लेकिन तथागतके धर्मकी ही प्रधानता थी। ऐसा होते हुये भी यह बात मुझे बहुत पसन्द आई, कि वहाँके लोगोंमें सँकीर्णता नहीं है। वह मसीही या मानी भिक्षुओंको भी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। कांस्यदेशीय तथागतके श्रावक अपने देशभाई मसीही या मानी भिक्षुओंके साथ पूरा बन्धुत्व रखते हैं। यहाँका राजा और रानीकी वेष-भूषा जम्बू-द्वीपके राजाओंसे भिन्नता, और येथा (श्वेत-हूण) सामन्तोंकी पोशाकसे कुछ समानता रखती है। यहाँ की स्त्रियाँ सिरपर रंग-बिरंगी सूत या जरीका काम की हुई टोपियाँ पहनती हैं। उनके पैरों में पहने पाजामेको घुटने तक एक लम्बा जामा ढाँके रहता है, जो गलेके पास अपने छोरोंको मोड़कर इतना खुला रहता है, जिसमें भीतरकी कंचुकपर उनके बहुमूल्य आभूषण दिखलाई पड़ते हैं। जामों पर हाथोंसे सुन्दर काम किया रहता है। उत्तरीय (चादर) वह अपने सिरपर नहीं रखतीं, जिससे उनका हाथ और शरीर बहुत चुस्त मालूम होता है। राजा और दूसरे पुरुषोंकी भी पोशाक करीब-करीब वैसी ही है, फर्क केवल उनकी महार्घतामें होता है।

खसगिरिके सबसे प्राचीन और सबसे बड़े राजविहारमें हम वर्षावासके लिये ठहरे। यहाँके लोगोंकी भाषाका परिचय वर्षावासके दो महीनों में कुछ हो गया; पर, सीता-उपत्यकामें कई भाषायें चलती हैं, जिसके कारण किसी एक भाषासे सब जगह काम नहीं चलता। विहारोंमें तो मध्यमण्डलकी भाषा (प्राकृत) को जाननेवाले मिल जाते हैं। यहाँकी लिपि करीरब-करीब वही है, जो कि मध्यभारतकी। खसगिरि नामसे ही मुझे सन्देह हो गया था, कि यह खसों की भूमि होगी। वहाँकी परम्पराओंने इनकी पुष्टि कर दी। जान पड़ता है, पहाड़ ही पहाड़। हमारे पूर्वज खसी किसी समय यहाँसे ही दक्षिणकी ओर गये थे। यहाँके विहारमें कनिष्कका बनवाया एक स्तूप है, जिससे मालूम होता है, कि

जिस धर्मराजाकी कृतियोंको मैंने कपिशासे पाटलिपुत्र तक देखा था, उसका शासन यहाँ पर भी था। खसगिरि नगरमें हर पाँचवें वर्ष एक बड़ा महोत्सव धूम-धामसे मनाया जाता है। उस समय तथागतकी अस्थि-धातुकी शोभायात्रा निकाली जाती है। सारे देशके लोग उसके दर्शनके लिये आते हैं। कुषाण-वंशाक स्थान जैसे हमारे देश और सोग्द-बाह्लीकमें येथों (श्वेत-हूणों) ने लिया, उसी तरह यहाँ पर भी उनकी प्रभुता रही। उनकी शक्ति क्षीण होने पर यहाँ के लोग अवारों और येथों दोनोंकी सत्ता मानते थे। विहारमें कुछ चीनके भिक्षुओंसे मेरी मुलाकात हुई, जो वज्रासन (बोधगया) के दर्शनके लिये जा रहे थे। उन्होंने बतलाया, चीनमें बुद्ध-शासन फैल रहा है, भारतकी भाषासे पुस्तकोंका अनुवाद हो रहा है। इसे सुनकर चीन जानेकी मेरी इच्छा बलवती हो गई।

वर्षावास समाप्त कर हम अब आगेकी ओर बढ़े। सीता (तरिम्)-उपत्यका बहुत विशाल देश है। इसके दक्षिण, पश्चिम और उत्तरमें ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जो ऊपर उठते-उठते हिमशिखरोंकी पंक्तियों में परिणत हो जाते हैं। बीचकी भूमि पहाड़के आसपास उर्वर और अनूपकी है, लेकिन आगे दिनों तक चले जाइये, बालू ही बालू मिलता है। इस बालुका-भूमि (तकला मकान) में सीता और उसकी कितनी ही शाखा-नदियाँ जाकर उसी तरह शुष्क मरुभूमिमें विलीन हो जाती हैं, जैसा कि मैंने स्थाण्वीश्वर की सरस्वतीके बारेमें सुना था। खसगिरि हो, या यारकन्द, कुस्तन हो, या कूची सभी मरुभूमिके छोरपर बसे हैं। इनका बहुत सा भाग मरुभूमिसे छीना गया है। राजा-प्रजाने मिलकर नदियोंसे नहरें निकालीं, और उनके पानीसे सींच-सींच कर मरुभूमिको हरे-भरे खेतों और लहलहाते बागोंमें परिणत कर दिया। वस्तुतः यहाँ मनुष्य और मरुका संघर्ष चल रहा है। यदि मनुष्यने जरा भी शिथिलता दिखलाई और अपनी कुल्याओं (नहरों) को बेरम्मत छोड़ दिया, तो इसमें सन्देह नहीं, कि मरुराक्षस इन हरे-भरे ग्रामों और नगरोंको निगल जायेगा। खसगिरि से कुछ दूर जाकर हम मरुभूमिमें घुसे और उसे पार कर यारकन्द पहुँचे। मरुभूमिको किनारेसे ही

अंग-भङ्ग करनेकी कोशिश नहीं की गई है, बल्कि उसके उदरमें भी जहाँ-कहीं मिल सका है, कुछ हरे-भरे गाँव आबाद कर लिये गये हैं। इस देशमें हरेक छोटेसे छोटे गाँवमें भी विहार होनेकी तो बात ही क्या, हरेक घरके सामने पूजा के लिए स्तूप होता है। भिक्षुओंका भी बहुत आदर-सम्मान है, और एक जगह से दूसरी जगह जाने में हमें ऐसा ही मालूम होता था, जैसे टहलनेके लिये जा रहे हैं।

कुस्तन (खोतन) की भूमिकी महिमा मैं बहुत सुन चुका था। कुस्तनका अर्थ है पृथ्वीका स्तन, जिससे यह समझा जा सकता है, कि वहाँ दूधकी नदियाँ बहती होंगी। इसमें शक नहीं, यहाँ की भूमि बड़ी समृद्ध है। बुद्धि-शासनका खस-गिरिसे भी यहाँ अधिक सम्मान है। गाँवोंमें घर एक जगह न होकर आकाशमें बिखरे तारोंकी तरह छिट्-फुट् होते हैं, जिससे यही सिद्ध होता है, कि साधारण दस्युओंका यहाँ भय नहीं है। यहाँ भी हरेक घरके सामने स्तूप हैं, जो शायद ही बीस हाथसे कम ऊँचे हों। पर्यटक या भिक्षुके आनेपर लोग दिल खोल कर उनका आतिथ्य करते हैं। विहारोंके पास लोगोंने अभ्यागतोंके ठहरनेके लिये मकान बना रक्खे हैं। नगरमें गोमती-विहार बहुत पुराना और राजकीय विहार है। उसके अतिरिक्त तीन और बड़े-बड़े संघाराम हैं। प्रतिवर्ष चौथे महीने (आषाढ़) के प्रथम दिनको नगरको खूब सजाया जाता है, राजमार्गों पर जलका छिड़काव होता है। नगरके मुख्य द्वारपर राजा-रानी और उनके परिचारक लोग आ बैठते हैं। उस दिन गोमती-विहारसे तथागतकी यात्रा निकलती है। बाजा-गाजाके साथ आनन्द-मंगल मनाते लोग सड़कों पर चलते हैं। मूर्तिकी स्थापनाके लिये नगरसे एक कोस बाहर ३० हाथ ऊँचा रथ सज्जित करके रक्खा जाता है, जो चलता-फिरता प्रासाद सा मालूम होता है। इसके ऊपर रेशमका चँदवा और पताकायें लहराती हैं, बहुमूल्य रत्न उसकी शोभा बढ़ाते हैं। रथके बीचमें तथागतकी मूर्ति होती है, जिसका अगल-बगलमें दो बोधिसत्व— अव-लोकितेश्वर और मंजुश्री खड़े रहते हैं। गोमती-विहार यद्यपि विनयमें सर्वास्ति-वादका अनुयायी है, किन्तु वहाँके भिक्षु महायानके माननेवाले हैं, शायद इसीलिये बुद्ध-मूर्तिकी अगल-बगलमें सारिपुत्र और मौद्गल्यायनकी मूर्तियोंको

न रख कर बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ रक्खी जाती हैं। रथमें परिचारकके तौरपर चौदह-पन्द्रह और भी देवताओंकी मूर्तियाँ रहती हैं। सभी मूर्तियाँ कलाकी दृष्टिसे बड़ी सुन्दर और सुनहली-रुपहली होती हैं। जब रथ नगर द्वारसे सौ पग दूर रह जाता है, तो राजा अपने राजमुकुटको छोड़ सफेद नवीन वस्त्र पहने हाथ में पुष्पगन्ध ले नंगे पैर रथके पास जाता है। उसके पीछे-पीछे दो पांतियोंमें उसके परिचारक चलते हैं। तथागतकी प्रतिमाके पास पहुँचकर वह साष्टांग प्रणाम करके पूजा और पुष्प-वृष्टि करता है। जब रथ सिंहद्वारसे नगरमें प्रवेश करने लगता है, तो उसके ऊपर बैठी रानियाँ और उनकी परिचारिकायें चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा करती हैं। गोमती-विहारके रथके बाद अगले दिन किसी दूसरे विहारका रथ आता है। इसी तरह चतुर्दशी तिथि तक उत्सव चलता रहता है। उसके बाद ही राजा-रानी अपने प्रासादमें लौटते हैं।

यहाँके नगरोंमें हमें कितनी ही जगह भारतीय नर-नारी भी मिले। उनमें से कितने ही बहुत पीढ़ियोंसे यहाँ आकर बस गये हैं। उन्हें यह भी नहीं मालूम; कि उनके पूर्वज कब इस देशमें आये। उनकी भाषा करीब-करीब वही है, जो कि मध्यदेशमें बोलने-चालने और लिखने-पढ़नेके काम आती है। मध्यदेशकी बहुत सी बातोंका यहाँ प्रभाव देखा जाता है। यहाँके नाप-तालमें भी कुछ-कुछ समानता है। प्रस्थ (अँजली) को यहाँवाले प्रस्त कहते हैं। कितने ही शब्द भी समानता रखते हैं, यद्यपि वह मध्यदेशकी-आजकी बोलीकी अपेक्षा पुरानी बोली के नजदीक हैं। तीनको ये लोग त्रे कहते हैं, और त्रयोदश (तेरह) को त्रोदस। यहाँके कुछ नगरोंमें काम-काजके लिये भी भारतीय भाषाका प्रयोग यही बतलाता है, कि कभी यहाँपर भारतीयोंकी काफी बड़ी बस्ती थी, जो धीरे-धीरे यहाँके लोगों में सरिता-सागरके संगमकी तरह मिलती गई। उपाधियोंमें भी मध्यदेशकी छाप मिलती है, जैसे—महरयतिरय, महनुव, महरय (महाराजाधिराज महानुभाव महाराज) और महरज रजतिरज (महाराज राजाधिराज)।

कुस्तनमें हम एक महीने रहे। यात्रीको यदि उस देशका कोई सहयात्री मिल जाये, देश तो अपरिचित सा नहीं मालूम होता। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब

भिक्षु संघिलसे मेरी घनिष्ठता बढ़ गई। वह विद्या-प्रेमी थे। इसीके लिये वह भारत जानेकी सोच रहे थे। मैं घर बैठे ही उन्हें मिल गया। वहाँ रहते कुछ प्रमाणशास्त्र उन्होंने मुझसे पढ़ा। अब आगेकी यात्राके लिये तीनकी जगह हम चार थे। हमें मालूम हो चुका था, कि सीताकी मुख्यधारा खसगिरिसे पूर्वकी ओर उत्तरी पर्वतमालाके समीपसे जाती है, जहाँ कूचाकी प्रसिद्ध नगरी है, जिसकी भी धर्मके बारेमें बड़ी ख्याति थी, लेकिन अवार और तुरुष्क-संघर्षकी खबरें उधरसे आया करती थीं, इसलिये हमने चीनकी तरफ बढ़नेके लिये उत्तर-का रास्ता न पसन्द कर मरुभूमिसे दक्षिणके मार्गको पसन्द किय था। रास्ता मरु-भूमिके दक्षिणी छोरसे जाता है। दक्षिणी हिमवानसे निकल कर आनेवाली नदियाँ इस हरी-भरी भूमिके जीवनका कारण थीं, जो उत्तरकी तरफ अनेक नहरोंमें विभक्त होकर मरुभूमिमें सूख जाती थीं। अधिकतर हमें मरुभूमिसे हटकर हरे-भरे गाँवोंमें होकर चलना पड़ता था, लेकिन कभी-कभी रास्ता रेगि-स्तानमें भी था।

दस दिन तक हमारा रास्ता अधिकतर हरी-भरी भूमिमेंसे था। जाड़ा आ गया था, इसलिये हरियाली अधिकतर उच्छिन्न हो गई थी। लोगोंका यह कामसे विश्रामका समय था। इस समय उत्सव पूजा ज्यादा होते थे। युद्धकी खबरें जब-तक सुननेको मिलती थीं, जिसके कारण हमारे पैर जल्दी-जल्दी आगे नहीं बढ़ रहे थे। हम कृष्णा नदी (करामुरान) के तटपर उसी नामके नगरमें पहुँचे। मालूम हुआ, शायद आगेका रास्ता बिल्कुल बन्द है। लेकिन, जब तक दीवारसे सिर न टकराये, तब तक हम अपनी गतिको रोकनेवाले नहीं थे। चार आदमियोंकी हमारी भी एक सशक्त सेना बन गई थी। यद्यपि हम सशस्त्र नहीं थे, लेकिन हममेंसे कोई भी हिम्मत हारनेवाला नहीं था। ऐसा संयोग हीसे होता है, कि दो आदमियोंके स्वभाव एकसे हों। फिर हम तो चार और चार देशोंके थे। हमारे स्वभावोंमें यदि कोई भेद रहा भी, तो उससे हमारे सम्बन्धपर कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं था। मैं उपाध्याय था और वह तीनों मेरे अन्तेवासी (शिष्य)। जहाँ मन आता, वहाँ हम सप्ताह-दो सप्ताहके लिये

ठहर जाते, और जब मन करता आगे चल पड़ते। हमें मंजिल मारनेकी कोई जल्दी नहीं थी, इसलिये दिनमें एक योजनसे अधिक शायद ही कभी चलते। हम सोच रहे थे, शायद इस तरह देर करनेसे लड़ाई खतम हो जाये, और महाचीनका रास्ता खुल जाये। हमारा विचार गलत था। अवारों और तुर्कोंका भयंकर युद्ध खतम होकर फैसला तुर्कोंके पक्षमें हो चुका था। अवार हारी बाजी लड़ रहे थे। घुमन्तू स्थायी वासियोंके साथ भी बड़ी क्रूरताके साथ लड़ते, लेकिन घुमन्तुओं और घुमन्तुओंके बीचका युद्ध तो अत्यन्त भीषण और पाशविक होता है। जान पड़ता है, वह अपने शत्रुका नाम तक रहने देना नहीं चाहते।

हम उस बड़ी नदीके किनारे थे, जो पूर्वके एक विशाल क्षार सरोवर (लोबनोर) में जाकर मिलती है। इस नदीके किनारे हरे-पीले रंगके स्फटिक समान पत्थर (जैड़) मिलते हैं, जिससे चषक और दूसरे छोटे-छोटे सुन्दर पात्र बनाये जाते हैं। नदीके दोनों किनारों पर कितनी ही दूर तक या तो खेत हैं, या सरकंडेके जंगल। नगरके संघाराममें हम पन्द्रह दिन ठहरे। यहीं पहलेपहल मैंने कितने ही चीनी परिवार देखे। अब तक मैंने चीनी भिक्षुओं और भिक्षु-णियोंको ही देखा था। वैसे कांस्यदेशमें बर्षा नाम मात्र ही होती है, और लोगों-को पर्वतशिखरोंसे निकलनेवाली हिमगलित नदियोंके ऊपर ही अधिक आश्रित रहना पड़ता है, लेकिन इस भूमिमें तो वर्षों आकाशसे एक बूँद भी नहीं पड़ती। यहाँका सर्वस्व यही नदी है, जो कि दक्षिणके तुषाराच्छादित पर्वतोंसे निकल कर आती है।

हमें तो देशाटनकी लालसा खींचे लिये जा रही थी, जिसके कारण हम संकट और विपत्तिकी बातोंको सुननेके लिये तैयार नहीं थे। लेकिन, व्यापारी हमारी तरह अपने प्राणोंसे निर्मोही नहीं थे, पर वह भी हमारी ही तरह धन-लाभ-के लिये संकट-समुद्रकी ओर खिंचते चले जा रहे थे। मनुष्य कभी-कभी इतना भयभीत देखा जाता है, कि मालूम होता है, वह स्वभावतः ही भीरु पैदा हुआ है, लेकिन प्रकृत्या भीरु होनेवाले व्यापारियोंकी ओर जब हम देखते हैं, तो हमें

अपने विचारोंको बदलना पड़ता है। यह ठीक है, कि जम्बू-द्वीपके बड़े-बड़े नगरोंके वणिजोंकी तरह वहाँके जल और स्थलके सार्थवाह भीरु नहीं होते। उन्हें ऐसे संकटापन्न स्थानोंसे गुजरना पड़ता है, जहाँ सशस्त्र रक्षियोंके बिना एक कदम भी नहीं चला जा सकता। ऐसे सार्थोंके सार्थवाह केवल व्यापारियों-के सरदार ही नहीं, बल्कि सेनाके सेनापति होते हैं। उन्हें कभी-कभी दस्युओं-की भारी संख्यासे मुकाबिला करना पड़ता है, जिसमें युद्धके दाँव-पेंच काममें लाने होते हैं। महाचीनकी सीमा और उसकी महादीवार अभी महीनेके रास्तेपर थी, जहाँ पहुँच कर ही सार्थ क्षेमयुक्त स्थानमें जा सकता था। इस बीचमें उसे घुमन्तुओंके खूनी संघर्षोंवाली भूमिमेंसे गुजरना पड़ता, जहाँ पद-पदपर प्राण जानेका डर था। मैं सोचता था, यह देश-देशान्तरोंकी पण्यवस्तुओंसे अपने पशुओंको लादे महाचीनकी ओर इसीलिये जा रहे हैं, कि उनके बदलेमें वहाँके महार्घ चीनांशुक और दूसरी चीजें ले आवें। कम मूल्यपर खरीदें, और अधिक मूल्यपर बेचें, इस प्रकार लाभ उठा कर परिवार-सहित सुखी जीवन व्यतीत करें। हम देशाटनकी लालसासे चल रहे थे, और वह सुखकी लालसासे, लेकिन दोनों-के रास्ते संकटापन्न कंटकाकीर्ण भूमिसे होकर जाते थे। शायद इसीलिये हमारे साथ सार्थ अच्छा बर्ताव करनेके लिये तैयार थे। इस नगर (चेर्चेन) में बिना कहे ही एक सोग्दी सार्थवाहने आग्रह पूर्वक हमें निमंत्रण दिया था, कि हम उसके साथ चीन तककी यात्रा करें। मैंने उसे यों ही पूछ दिया : मार्ग इतना संकटाकीर्ण सुना जा रहा है, इसका तुम्हें ख्याल नहीं आता?

सोग्दी सार्थवाहने उत्तर दिया—जीवनमें कौन सी जगह है, जहाँ संकटसे आदमीका पिंड छूटता है? घरमें आरामसे रहते भी घातक बीमारीमें आदमी पड़ सकता है, अच्छी-भली छत ही आदमीके ऊपर गिर सकती, या पासकी महानदी-में ही स्नानके लिये जानेपर डूब मरनेकी सम्भावना हो सकती है। यह कृष्णा नदी है और हमारे सोग्दके उत्तरमें इससे कहीं बड़ी कृष्णा नदी (सिर दरिया) है। बहुत गहरी और विशाल होनेसे उसका पानी बहुधा काला दिखाई पड़ता है। आपने वैसी नदी नहीं देखी होगी?

—आपकी कृष्णा नदी मैंने नहीं देखी—मैंने कहा—वह बड़ी हो सकती है, लेकिन हिन्दू देशमें जितनी बड़ी नदियाँ हैं, जैसे सिन्धु (हिन्दू), गंगा आदि उतनी बड़ी वह न होगी।

—मैं इसे नहीं मान सकता। मैं चीनसे रोमक राज्यकी सीमा तक व्यापारके सम्बन्धसे आया-जाया करता हूँ, मैंने अपनी कृष्णा नदी जैसी बड़ी नदी कहीं नहीं देखी, चीनके भीतरकी पीत नदी (ह्वाँग-हो) को छोड़कर।

—आपके यहाँ वर्षा तो बहुत नहीं होती होगी?

—कांस्यदेश में हमारी जैसी वर्षा कहाँ होती?

मैंने सोचा, इसने सुवृष्टिवाले देशोंको देखा नहीं है। सोग्दमें निश्चय ही वर्षा कुछ ही अधिक होती होगी। मैंने अपनी यात्रामें देखा था, कि कम वर्षावाले देशोंमें लोग घरोंकी छतें मिट्टीकी बनाते हैं, काशी और पाटलिपुत्रकी तरफ मिट्टीकी छतें देखनेमें नहीं आतीं। वहाँकी वृष्टिमें सचमुच ही ऐसी छतें एक दिन भी नहीं ठहर सकतीं। यह सोच कर मैंने सार्थवाहसे पूछा:—

—आपके घरोंकी छतें तो यहाँकी तरह मिट्टीकी होंगी, और वह भी दो-तीन अंगुलसे मोटी नहीं?

—हाँ, हमारे यहाँ साधारण लोगोंके घरोंकी छतें, मिट्टीकी, और दो-तीन अंगुलसे मोटी नहीं होतीं, पर धनी लोग अपनी छतोंको पत्थर या दूसरी चीजोंसे बनाते हैं।

मैंने कहा—गंगा नदी ऐसे देशोंसे होकर जाती है, जहाँकी भयंकर वर्षाके कारण मिट्टीकी छतें एक दिन भी नहीं ठहर सकतीं। तुम्हारे यहाँ नदियोंको हिमगलित जलके ऊपर रहना पड़ता है, और वहाँ तीन महीने तक आकाश जलकी धारायें उड़ेलता है।

सार्थवाहको मालूम हो गया, कि मैं दुनियामें बहुत दूर-दूर तक घूमा हुआ हूँ, और मुझे झूठ बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये उसने मेरी बातका प्रत्याख्यान नहीं किया। जिस तरह उसे अपने कामके लिये चीन

पहुँचना जरूरी था, वैसे ही मुझे भी, और मैंने साथियोंकी सलाहसे सोग्दी-सार्थवाहके साथ चलनेका निश्चय कर लिया।

सार्थके साथ चलनेमें हमारे लिये बन्धन था, रास्तेमें हम अपनी नहीं, बल्कि सार्थकी इच्छानुसार चल और ठहर सकते थे। पर, चार-छ ही दिन और हम इच्छानुसार चल सकते थे, आगे फिर मरुभूमि से अकेले नहीं जाया जा सकता। इसलिये हमने सार्थ के साथ चलनेका निश्चय किया था। त्तार-सरोवर तक हमारा रास्ता अधिकतर कृष्णा नदीके किनारे-किनारे था, जिसमें आगे चलकर बस्तियोंका अभाव सा हो गया। त्तार-सरोवरके पास एक बड़ा निगम (कस्बा) और दुर्ग मिला। आगे कुछ दूर तक सरोवरके उत्तर तटके करीबसे जाना था, लेकिन भूमि बालुकामय थी। पीनेके लिये खारा पानी का उपयोग पशु और मनुष्य नहीं कर सकते, इसलिये सार्थ ऐसीही जगह ठहरता, जहाँ मीठे पानीके कुयें होते। इस मरुभूमिमें अनन्त बालुका-राशि वाली धरतीके भीतर मीठा पानी कहाँसे आ जाता है? यह सोचते हुये मुझे ख्याल आया—यदि मीठा पानी न होता, तो हमारा रास्ता ही यहाँसे क्यों होता! त्तार सरोवरसे आगे महीने भरका रास्ता ऐसी ही मरुभूमिसे जाता था, जिसमें केवल २७-२८ जगह ही मीठे पानीके कुएँ थे, और उनमें भी इतना ही पानी होता, जो सौ से अधिक पशुओं और प्राणियोंकी पिपासा शान्त नहीं कर सकता था। जाड़ोंका दिन था, लेकिन दिनकी धूपमें प्यास बहुत लगती, इसलिये सार्थ केवल रातको चलता। दिन भर पशु-प्राणी किसी कुएँके पास पड़े रहते।

मरुभूमिके बारेमें तरह-तरहकी कथायें सुननेमें आतीं। जहाँ हजारों वर्षों से मनुष्य मृत्युके मुखपर पैर रख कर चलते हों, वहाँ लाखोंने प्राण खोये होंगे। ऐसे अकाल मृत्यु पाये लोग भूत बन कर आनेवालोंको अपने जैसा बनाना चाहते हैं। हमारा सार्थवाह और दूसरे साथी बड़ी गम्भीरतापूर्वक हमें समझाते थे—"सार्थसे आगे पीछे न रहना। रातका वक्त है, मरुभूमिमें एकबार रास्ता भूले, तो वह फिर नहीं मिल सकता। भूत हर वक्त आदमीकी ताकमें

रहते हैं। वह बड़ी मीठी बोली बोल कर अपने पास बुलाते हैं। मालूम होता है, हमारे ही सार्थका कोई भद्रपुरुष है। हरेक आदमीको एक दूसरेसे सट कर चलना चाहिये।" वह कहथे थे—मरुभूमिके भूत रातको ही नहीं दिनमें भी, और अकेले नहीं, पचासोंके साथ बाजा बजाते आते हैं। "डरो नहीं, डरो नहीं" कह आदमीको बुलाकर पथभ्रष्ट कर देते हैं, और फिर मांस खाकर उनकी हड्डियाँ छोड़ देते हैं। रास्तेमें कितने ही पशुओं और कुछ आदमियोंके भी अस्थिकंकाल मैंने देखे, जिनके बारेमें साथी कहते थे, यह भूतोंके खाये हुये हैं। मेरे साथी भिक्षुओंका धारणियोंके पाठ पर बड़ा विश्वास था, रातके वक्त वह उन्हें गुनगुनाते चलते थे। मैंने भी कभी-कभी किसी सूत्रका पाठ किया, लेकिन कह नहीं सकता, भूत भगानेके ख्याल से या यों ही रास्ता काटनेके लिये। सूर्यास्तके समय सारी दुनिया रात्रि के विश्राम की सोचती, और हम उसी समय अपनी यात्रा आरम्भ करते। पथ-प्रदर्शकको उसके कामके लिये सार्थ-वाह काफी धन देते और उसका बड़ा सम्मान करते हैं। हर रात्रिकी यात्राकी समाप्तिके बाद वह वहाँ कुछ निशान रख देता, जो इस बातकी सूचना देता, कि हमें किस दिशाकी ओर जाना है। सचमुच उस मरुभूमिमें चारों तरफ एक ही तरहकी बालू फैली दीख पड़ती। जिस तरह समुद्रमें रास्ता पाना मुश्किल है, वही बात इस बालुका-समुद्रकी है। समुद्रमें जिस तरह ध्रुव या दूसरे तारोंको देख कर दिशाका ज्ञान होता है, उसी तरह यहाँ भी नक्षत्र ही दिशा बतलाते हैं।

सूर्योदयसे पहले और कभी जल्दी भी अगले मीठे कुयेंपर हम पहुँच जाते। पथ-प्रदर्शकका वचन सार्थ कभी उल्लंघन नहीं करता। जहाँ वह कहता—"ठहरो", वहीं सारे पशु-प्राणी खड़े हो जाते। आगे मीठा कुआँ कितनी दूर है, इसके बारेमें हम पूछते भी नहीं थे। वैसे बालूकी भूमि बड़ी स्वच्छ होती है। उसके पाँडु रंगमें कहीं भी कोई और रंगका सम्मिश्रण नहीं होता। कुओंके पास पशुओं और आदमियोंके रहनेके कारण कुछ गन्दगी जरूर दिखलाई पड़ती है। मरुभूमिमें जाड़ोंमें इसलिये भी लोग अधिक चलना पसन्द करते हैं, कि

इस समय आँधियाँ नहीं आतीं। बालू उड़नेपर तो रास्तेका पता लगाना मुश्किल हो जाता है। जाड़ोंमें कभी-कभी मामूली हवा चलती है, जो रातमें प्रायः बन्द हो जाती। कहीं-कहीं बालू टीलेके रूपमें जमा हो जाती है। इन टीलोंके एक ओरका भाग खाली रहता है, जिसे दिखला कर लोग बतला रहे थे, यह भूतों का काम है। वह बराबर एक जगहकी बालूको दूसरी जगह ले जाकर इसी तरह के टीले बनाते रहते हैं। भूतोंको और कोई काम नहीं है, वह इस तरहका खिलवाड़ करते रहते हैं, इसपर मेरा विश्वास नहीं था, पर यह तो समझता था, कि बालूके इस तरहके चलते रहनेके कारण रास्ता ढूँढ़ निकालना सचमुच ही बड़ा मुश्किल है। यहाँका आकाश, विशेषकर जाड़ोंमें, निरभ्र रहता, तारे बराबर दिखलाई पड़ते हैं। सिंहलमें ध्रुवताराको मैंने उत्तरी क्षितिजके पास देखा था। अपने यहाँ वह शीर्षस्थानके आधी दूरके करीब और यहाँ वह और भी ऊपर उठा हुआ था। हम ध्रुवको अपने बाँयें रक्खे पूर्वकी ओर जा रहे थे।

क्षार-सरोवरके दुर्गसे दस दिनकी यात्रा करनेपर हम एक नदी के किनारे पहुँचे। डेरा डालते वक्त सबने बड़ा संतोष किया। इसी समय कुछ नर-नारी भागते हुये हमारे पास आये। उन्होंने बतलाया "तुर्क नगरोंको लूट कर उनमें आग लगा रहे हैं। लोगोंको बुरी तरहसे मार रहे हैं। हम अवारोंको अपना स्वामी मानते थे, अब तुर्कोंको मानने के लिये तैयार हैं, लेकिन वह कुछ भी सुननेके लिये तैयार नहीं है।" सार्थवाहने खबर सुनते ही अपने आदमियोंको बुला कर सलाह की, मुझसे भी पूछा। सार्थ संकटके लिये वहीं तक नहीं डरता, जहाँ तक कि जीते रहनेकी कुछ भी सम्भावना रहती है। लेकिन, अब तो प्राण और धन दोनोंका जाना निश्चित सा मालूम होता था, इसलिये उसी वक्त पीछे हटनेका निश्चय किया गया और पाँच कोस पीछे छोड़े कुयेंपर हम उसी दिन दोपहर तक लौट आये।

यह लौटना मेरे लिये बिल्कुल दिशा-परिवर्तनका कारण हुआ। चीनमें पहुँचनेकी आशा बिल्कुल छोड़ देनी पड़ी, कमसे कम तब तकके लिये, जब तक कि

तुर्क अपने राज्यको दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं कर लेते। हम पिछले रास्तेसे ही पीछे लौट कर कृष्णा नदीके तटके उस नगरमें पहुँचे, जहाँ हम कुछ दिनों तक ठहरे थे। मुझे ख्याल आया, शायद कुस्तनसे कूचाका रास्ता निराबाध हो। पता लगा कूचाकी ओर अब शान्ति है। हम अब केवल बड़े रास्तेको पकड़ कर ही पीछे नहीं लौट रहे थे, बल्कि आसपास और दक्षिणके पहाड़ोंमें जहाँ भी प्रसिद्ध विहार या विद्वान्के होनेकी बात सुनते, वहाँ जाते। इस प्रकार तीसरे महीने (ज्येष्ठ) में हम कुस्तन राजविहारमें लौट आये। मुझे पहली यात्रामें रथोत्सवको देखनेका अवसर नहीं मिला था, इसलिये मैंने इस बातका ध्यान रक्खा, कि चौथे महीनेके आरम्भ होनेसे पहले ही कुस्तन पहुँच जायें।

राजधानीसे डेढ़ कोस पश्चिम "नूतन राजविहार" है, हमने वहीं ठहरनेका निश्चय किया। नूतन कहनेका यह अर्थ नहीं, कि यह इसी समय बना था। गोमती-विहारकी अपेक्षा यह नूतन जरूर था। इसे ढाई सौ वर्षके करीब पहले कुस्तनके एक राजाने बनवाया था। तबसे दस-ग्यारह राजा हो गये। विहारका चैत्य ढाई सौ हाथ ऊँचा और सोने-रूपेके सुन्दर कारुकार्यसे युक्त जगमग-जगमग करता है। इसके निर्माणमें बहुमूल्य द्रव्योंका दिल खोल करके उपयोग किया गया है। इस महाचैत्यके पीछे प्रतिमागृह है, जिसे भी उसी तरह सुन्दर बनाया गया है। इसके स्तम्भ, द्वार, गवाक्ष सभी सुवर्णमंडित हैं। भिक्षुओंके आवासोंको भी बनानेमें इसी तरह सुरुचि और धनका मुक्तहस्त व्यय किया गया है। यहाँके राजाओंके नामोंके आरम्भमें विजय शब्द जरूर आता है। हमारे वहाँ रहनेसे पाँच सौ वर्ष पहले विजयसम्भवने इस राजवंशकी स्थापना की। वह अपने अभिषेकके पाँचवें वर्ष बुद्धधर्ममें दीक्षित हुआ। उसके गुरु भिक्षु वैरोचनने भारतीय लिपिसे वह अक्षर तैयार किये, जिनमें खोतनी भाषा आज भी लिखी जाती है। सिंहलके राजा-प्रजा जिस तरह बुद्ध-धर्ममें एकान्त-निष्ठा रखते हैं, वही बात कुस्तनके बारेमें कही जा सकती है। राजवंश धन-धान्यके रूपमें अपनी श्रद्धाको इस प्रकार प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि राजकुमार

और राजकुमारियाँ भी भिक्षु-भिक्षुणी बन कर संघमें प्रविष्ट होते हैं। यहाँके भिक्षु चाहे महायानके हों, या हीनयानके, सभी विनयके पालन करनेमें बड़ी तत्परता दिखलाते हैं। तथागतके धर्मका प्रभाव यहाँके लोगोंपर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका बर्ताव सुन्दर होता है। स्वभावतः वह कोमल प्रकृतिके होते हैं और सत्य न्यायनिष्ठ होते हैं। साहित्यसे उनको बहुत प्रेम है। बड़े खुले दिलके होते हैं और मेला-महोत्सव मनानेमें बहुत तत्पर दिखाई देते हैं। संगीत और नृत्यका असाधारण प्रेम भी इसीके कारण है। कई शताब्दियों पहले एक चीन-राजकन्या व्याह कर यहाँ आई थी। उसीने पहलेपहल इस देशमें चीनांशुक (रेशम) का प्रचार किया था। साधारण लोग सफेद सूती कपड़े अधिक पहनते हैं, और धनी लोग हल्के रेशमको ज्यादा पसन्द करते हैं। जाड़ोंमें ऊनी और चर्मकी पोशाक भी पहनी जाती है, यद्यपि साधारण लोग रूई भरे जामे पहनते हैं।

अध्याय १३

कूचीमें (५५२-५५३ ई०)

चार महीने कुस्तन (खोतन) में रहनेपर हमें यहाँके लोगोंके और भी घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेका अवसर मिला। इनके जैसे अतिथि-प्रेमी और मधुर-स्वभाववाले लोग विरले ही मिलेंगे। उस वक्त यही धारणा थी, किन्तु कूचियोंके देशमें पहुँच कर हमें मालूम हुआ, कि इन और ऐसे ही और कितने ही गुणों से विभूषित संसारमें अद्वितीय कूची जाति है। खसगिरिसे सीता (यारकन्द) नदीसे कूचियोंके देशमें आसानीसे पहुँचा जा सकता था, लेकिन कुस्तनवाले अपने नगरके नामकी नदीके किनारे-किनारे मरुभूमिके भीतरसे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँपर सीता और कुस्तन नदियाँ मिलती हैं। यहाँके लोग नदियों को अपनी राजधानियों के नामसे पुकारते हैं। भिक्षु अपनी इच्छानुसार दोनों मेंसे एकको सीता कहते हैं। मेरे लिये यह करना मुश्किल था, कि कुस्तनको सीता कहा जाये, या दूसरी को। इसमें शक नहीं, कि पानी अधिक कुस्तनमें है, और वैभव, विद्या और दूसरी बातोंमें कांस्यदेशका सबसे बड़ा नगर कुस्तन है। कुस्तन नदी राजधानीसे सीधे उत्तरकी ओर बहती है, और एक ही दिन जाने पर नदीके दोनों तरफ अनन्त बालुकाराशि आ जाती है। बालू नदीको सोखना चाहता है और नदी अपराजित हो उत्तराभिमुख बढ़ती जाती है। लोग बालुका और नदी के इस संघर्षमें अपना काम बनानेपर तुले हुये हैं। नदीके पानीकी तरावट जहाँ तक जाती है, वहाँ तक गाँव या सरकंडेके जंगल पड़ते हैं। लोगों ने पानी से नहरें बना, कृषि और बगीचेके लायक बहुत सी भूमि निकाल ली है। क्षार-सरोवरसे आगेकी यात्राकी तरह यहाँ मरुभूमिमें भटकनेका डर नहीं है, क्योंकि नदीने स्वयं हमारे रास्तेसे बालूको दूर हटा दिया है। लेकिन, कुस्तन नदी आगे बढ़ती कुछ क्षीण होती गई है। अन्त में पश्चिमसे आने वाली अपनी बहिन (यारकन्द) नदीसे जहाँ मिलती है, वहाँ वह और भी क्षीण

है। हमारा संगम दोनों नदियोंके संगमके पहले हीसे बालुका नगरीको जाता था, तो भी संगम देखनेके लिए हम वहाँ गये। संगमके बाद यह सीता (तरिम) नदी हो जाती है, इसमें कोई विवाद नहीं। आगे उत्तर तरफ हिमाच्छादित शिखर-पंक्तियोंवाले पहाड़ दिखाई पड़ते हैं, और दक्षिणमें अनन्त मरुभूमि। उत्तरके पहाड़ोंसे श्वेत नदी (अक-सु) जहाँ पर सीता नदीसे मिलती है, वहाँसे हम उसे पार हो उत्तरकी ओर नदीके किनारे-किनारे बढ़े। मुख्य धारा से जितना ही आगे बढ़ते गये, उतना ही मरुभूमिसे दूर हटते गये। बालुका नगरीके निवासी वही हैं, जो कि कूचा (कुरी) के। उनकी भाषामें बिल्कुल नाम मात्रका अन्तर है। वहाँ के भिक्षु विनयमें सर्वास्तिवाद और विचारोंमें महायान के अनुयायी हैं। बालुका नगरीसे उत्तर-पश्चिमकी ओर एक वणिकपथ दुर्गम पहाड़ोंमें घुसकर समुद्र जैसे एक महासरोवरके किनारे जाता है। इतना शीतल स्थान होनेपर भी जाड़ोंमें इस सरोवरका पानी बर्फ नहीं बनता, इसीलिए लोग इसे तप्तसरोवर (इस्सिक-कुल) कहते हैं। हमारे हिमवान्‌की तरह यह पर्वत भी दुर्लंघ्य और रमणीय है। लेकिन, हरेक चमत्कारिक दृश्यकी बात सुन कर आदमी यदि अपनी यात्राकी दिशाको मोड़ता रहे, तो उसकी स्थिति सूखे पत्तों की तरह हो सकती है। हमारे लिये कूची नगरी और भी दर्शनीय थी, इसलिये हमने तप्तसरोवर जानेकी इच्छाको रोका। बालुका नगरी और उसके आसपासका जनपद एक पृथक् राजाके अधीन है। चीनने वीर कूची जातिको निर्बल करनेके लिये देशको दो राज्योंमें बाँट दिया, इसीका यह फल है, नहीं तो पहले यह एक ही कूची राज्य था।

बालुकापुरीके विहारमें पाँच-सात दिन रह कर हम लोग पूर्वकी ओर बढ़े। बाँये उत्तरमें पहाड़ बिल्कुल नजदीक दीखता था, यद्यपि यह केवल भ्रम था। शरद् और हेमन्तमें आकाश निर्मल और नीरज होता है, इसीके कारण आदमी को ऐसा भ्रम होता है। पहाड़ोंकी ओरसे कितनी ही छोटी-छोटी नदियाँ आ मिलीं, लेकिन बहुतोंमें पानी नाम मात्र था। पहाड़के भीतर हम दूर नहीं जा सकते थे, लेकिन जिन विहारोंकी महिमा और प्रसिद्धि हमने सुनी, वहाँ हम जरूर गये। बालुकापुरीसे कूची नगरी सौ कोससे अधिक दूर नहीं है, लेकिन

जानेके लिये हमें कोई जल्दी नहीं थी, इसलिये हम वहाँ एक महीनेमें पहुँचे। अब नवें महीने (अगहन) का अन्त शरद् ऋतु समाप्त हो हेमन्तका आरम्भ था। नहीं सोचा था, कि हमें कूचामें दो साल रहने पड़ेंगे। दो वसन्तों और दो बरसातोंके देखनेके बाद बिना पत्र और हरियालीकी उस भूमिको देखते उतना आकर्षण नहीं मालूम होता था। इस देशमें गेहूँ, चावल, बाजरा बहुत होता है, और उससे भी अधिक वह अपनी द्राक्षा (अंगूर), दाड़िम, खूबानी, नासपाती, आड़ू आदिके लिये मशहूर है। सोना, ताँबा, लोहा, सीसा, राँगा यहाँसे उत्तरके पहाड़ोंमें निकलता है, जो भी देशकी समृद्धिका एक बड़ा कारण है। इतने सुशिक्षित, विद्याप्रेमी ईमानदार लोग दुनियामें बहुत कम मिलेंगे। गीत-वाद्य-नृत्यमें इतने कुशल और कहीं नहीं हैं, यह महाचीनवालोंकी भी मान्यता है। चीन-दरबारमें यहाँके कलाकारोंकी बड़ी माँग है। गर्मियोंमें लोग सूती कपड़े पहनते हैं, लेकिन मुख्यतः इनकी पोशाक ऊनी है। पुरुष बालोंको छोटा करके रखते हैं, और कोई-कोई ही दाढ़ी रखनेके शौकीन हैं। इनके सिर पीछेकी ओर अधिक चिपटे होते हैं, जिसके लिये कहा जाता है, कि मातायें अपने शिशुओंके सिरको दबा कर ऐसा रूप देती हैं।

राजधानीमें इतना देर करके पहुँचनेका एक फल हुआ, कि हमारे आगमनकी सूचना वहाँ पहले ही पहुँच गई थी, और भारतीय पंडित-भिक्षुके आगमनकी बड़ी प्रतीक्षा हो रही थी। कूची देशमें सौसे अधिक संघाराम हैं, जिनमें भिक्षुओंकी संख्या पाँच हजारसे अधिक बतलाई जाती है। उनका अधिक भाग राजधानीके आसपासके विहारोंमें रहता है। राजविहार यहाँका सबसे बड़ा और समृद्ध विहार है। हमारे रहनेका प्रबन्ध वहींपर किया गया था। महायानने अपने भिक्षुओंको मांस खाना वर्जित कर रक्खा है, किन्तु सर्वास्तिवाद, महाविहार और दूसरे पुराने (हीनयान) निकायों के विनयमें त्रिकोटि-परिशुद्ध मांसके खानेका निषेध नहीं है। खानेके लिये जो पशु जान-बूझ कर नहीं मारा गया, उसे वह अन्नके समान मानते हैं। बहुतसे विहारोंमें महायान

स्वीकृत करनेके बाद जिस तरह मांस वर्जित हुआ, उस तरह कूचीके विहारोंमें नहीं है। वहाँके भिक्षुओंके भोजनमें मांस भी सम्मिलित है। विनयके पालन करनेमें भी यहाँके भिक्षु अधिक तत्पर दिखाई पड़ते हैं। नगरसे दो योजनपर पहाड़के पास दो प्राचीन संघाराम है, जिनमें अत्यन्त सुन्दर बुद्ध-प्रतिमायें स्थापित हैं। पूर्वी विहारकी उपस्थानशालामें एक पीले रंगका जेड़ पाषाण है, जिसके ऊपर बुद्धके चौदह अंगुल लम्बे और छ अंगुल चौड़े चरण-चिह्न बने हुये हैं। चरण-चिह्नके दर्शन करनेके लिये हम भी गये। सिंहलमें भी एक अत्यन्त उन्नत पर्वतशिखरपर हमने तथागतके चरण (श्रीपाद) के होनेकी बात सुनी थी। वहाँ जाना भी चाहते थे, लेकिन दुर्घटनाके कारण हम नहीं जा पाये। बुद्धिलके संसर्गसे हमें मालूम था, कि बहुत पुराने समयमें तथागतकी प्रतिमायें नहीं बनती थीं, उस समय चैत्य, पीठासन या बोधिवृक्ष पूजे जाते थे। शायद उसी समय चरण भी पूजे जाने लगे। प्रतिमाओंकी पूजा कनिष्क राजाके समयके आसपास ही शुरू हुई, इसलिए यहाँके तथागतके श्रीपादको देखनेपर मुझे ख्याल आया, शायद इस देशमें यह सबसे पुरानी पूजा-प्रतीक है। लेकिन जिस महार्घ और आकारमें दुर्लभ पाषाणमें यह बनी हुई हैं, उससे डर लगता है, कि कहीं किसीकी लोभी आँखें इसपर न पड़ें। इसके लिये इस श्रीपादको ही क्यों दोषी ठहराया जाये, जबकि विहारोंमें हरेक राजा और हरेक पीढ़ी अपार सोना-रूपा और रत्नसे सजानेकी कोशिश कर रही है।

राजधानीके पश्चिमी दरवाजेके बाहर रास्तेके दोनों तरफ ६० हाथसे अधिक ऊँची बुद्धकी दो विशाल प्रतिमायें खड़ी हैं। पंचवार्षिक महोत्सव यहींपर हुआ करते हैं। यह महोत्सव शरद्-पूर्णिमाके समय दस दिन तक रहता है, जिसमें सारे देशके नर-नारी उपस्थित होते हैं। वैसे हर साल भी उत्सव दस दिन मनाया जाता है। कुस्तनकी तरह यहाँपर भी रथोंके ऊपर बुद्ध-प्रतिमाको बैठ कर हरेक संघाराम बारी-बारीसे अपनी शोभा-यात्रा निकालता है। इस जगहसे पश्चिमोत्तर तथा नदीके किनार आश्चर्य-विहार। यह विहार अपने भिक्षुओं-

के विनयपालन और विद्याके लिये बहुत प्रसिद्ध है। कूचाके भिक्षु अपनी भाषाके अतिरिक्त जम्बू-द्वीपकी भाषामें धर्म-ग्रंथोंको पढ़ते हैं। वहाँ केवल पिटकोंको ही नहीं, बल्कि पाणिनिके व्याकरणसूत्र और व्याकरण महाभाष्य जैसे ग्रंथोंका इतनी अच्छी तरहसे पठन-पाठन होता है, जितना मध्यमण्डलके विहारोंसे बाहर कहीं नहीं दिखलाई पड़ता। इसीसे यहाँके भिक्षुओंके विद्यानुरागका पता लगता है। यही कारण है, जो दूर-दूरसे लोग यहाँ विनयपिटक और दूसरे शास्त्रोंके अध्ययनके लिये आते हैं।

कूचीको कुशी या कुश भी कहा जाता है। वस्तुतः यहाँके लोग च और श के उच्चारणमें बहुत कम भेद कर पाते हैं। इनकी भाषा हमारी भाषाओंसे बहुत भेद रखती है, यद्यपि वह उसी वंशकी है, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	कूची	संस्कृत	कूची
अवीचि	अविश	७ सप्त	श्पद्ध
द्वीप	द्विप्	८ अष्ट	औकध्
कलियुग	कलियुक्	९ नव	ञु
रूप	रूप्	१० दश	शक्
अंजलि	अंचलीयि	११ एकादश	शक्शपि
अमात्य	आमाश्	१२ द्वादश	शक्वेपि
चक्र	चक्कर	२० विंशति	विकी
गंगा	गङ्क	३० त्रिंशत्	तरियाक्
मार्गफल	मार्कंपल	४० चत्वारिंशत्	श्वराक्
राम	रामे	५० पंचाशत्	प्याजक्
लक्ष्मण	ल्याक्ष्मं	६० षष्टि	शक्शक्
दसग्रीव	दशग्रीवे	७० सप्तति	शक्तुक्
लंका	लांक	८० अशीति	ओक्तुक्
१ एक	श	९० नवति	ञुक्

संस्कृत	कूची	संस्कृत	कूचो
२ द्वे	वे	१०० शत	कन्ध
३ त्री	त्रि	१००० सहस्र	वल्त
४ चत्वारि	त्वर	१०००० दशसहस्र	तूमा
५ पञ्च	पज	कोटि	कोरि
६ षट्	षक्		

कुचीनगरीमें कनिष्क राजा का बनवाया विहार नहीं है। लोग कुछ स्तूपोंको कनिष्क और अशोकका बनवाया मानते हैं। लेकिन, कूचा या कुशके एक होनेमें मुझे कोई सन्देह नहीं। कनिष्कके वंशवाले राजाओंके लिये "कोषानो सौनानो साव" (कुषाके शाहंशाह) से इसमें सन्देह कम रह जाता है, कि कुषाण-वंश कूचा हीसे गया था और इसी कारण कनिष्कने अपनी प्राचीन मातृभूमिको बड़े प्रयत्नसे अपने राज्यमें मिलाया। कूचाके लोग जीवनको क्रीड़ा और उत्सवमें बिताते वक्त बहुत विलासीसे मालूम होते हैं, लेकिन दूसरी तरफ वह बड़े वीर हैं। चाहे नगरके हों या ग्रामके सभी जवान और प्रौढ़ योद्धा हैं। अपने संख्या-बलके कम होने तथा पासमें महाचीन या अवार-तुर्क जैसे बहुसंख्यक घुमन्तुओंके मुकाबिलेमें लड़ कर उन्होंने देख लिया कि सब कुछ करनेपर भी विजय अन्तमें हमारे हाथमें नहीं आती। इसलिये किसीकी अधिराज्यता स्वीकार करना ही वह अच्छा समझते हैं। चीनकी अधिराज्यता उन्होंने स्वीकार की थी, उससे पहले हूण भी यहाँके कितने ही समय तक अधिराज थे। अवारोंका जब बल बढ़ा, तो इन्होंने उनकी प्रभुताको स्वीकार किया। तुर्कोंकी अधीनता स्वीकार करनेमें तभी तक उन्होंने आनाकानी की, जब तक कि अवारोंके साथ तुर्कोंकी तलवारोंने अपने पक्षमें फैसला नहीं करा लिया। यहाँ आनेपर मालूम हो गया, कि जहाँ तक अवारों और तुर्कोंके संघर्षका सम्बन्ध है, वह बहुत पहले ही यहाँ खतम हो चुका है। लेकिन, चीनका रास्ता अब भी कंटकाकीर्ण है।

कूची पुरीमें रहते ही हमें यहाँके महाविद्वान् कुमारजीवका नाम सुनने

में आया था, लेकिन उनकी विद्वत्ता चीन आनेके बाद ही पूरी तरह मालूम हुई। वस्तुत: चीनमें मैंने जो काम किया, वह उनके ही चरण-चिन्हों पर चल कर किया। करीब दो शताब्दियाँ हुईं, जब यह महापुरुष इसी कूचा नगरीमें एक राजकन्याके गर्भसे पैदा हुये थे। अपने पिताके देश कश्मीर और कूचामें उन्होंने नाना शास्त्रोंका अवगाहन किया और अद्वितीय विद्वान् होकर कूची महाराजाके गुरुके तौरपर यहाँ बड़े वैभवके साथ रहने लगे। कुमारजीवकी ख्याति चीन तक पहुँची, जब माँगने पर वह नहीं मिले, तो राजा युद्धकरके विजयके रूपमें कुमारजीवको चीन ले गया। कुमारजीवका अपनी जन्मभूमिके प्रति इतना अगाध प्रेम था, कि उन्होंने संसारमें हुये अनेक बुद्धोंमेंसे ९९ को कूचामें, २५ को बालुकामें, २० को कपिलवस्तुमें, ६० को वाराणसीमें, २६ को उद्यानमें, २२५ को चीनमें, १०० को पुरुषपुरमें पैदा हुआ बतलाया। पूरा न मालूम होने पर भी इतना तो कूचीमें ही मालूम हो चुका था, कि कुमारजीवने हमारे बहुत से ग्रन्थोंका अनुवाद चीनी भाषामें किया है, और वहाँ वह सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं।

कूची-भिक्षु अपनी भाषाकी अपेक्षा भारतीय भाषामें ही धर्म-ग्रन्थोंको पढ़ना पसन्द करते हैं, और उसपर उनका असाधारण अधिकार भी है, क्योंकि वह व्याकरण और दूसरे शास्त्रोंको बड़े परिश्रमसे पढ़ते हैं। लेकिन, गृहस्थ नर-नारियोंके लिये वह उतना सुगम नहीं है, इसलिये उन्होंने बहुत से ग्रन्थोंका अनुवाद अपनी भाषामें भी कर लिया है। संगीत और नाटकसे यहाँके लोगोंका अत्यन्त प्रेम होनेके कारण इन्होंने अपनी भाषामें कितने ही नाटक लिखे या अनुवादित किये हैं। "नन्दप्रबराजन" (नन्दप्रव्रज्या), "नन्द विहार पालन" जैसे कई नाटक कूची भाषामें मौजूद हैं, जिनका वह बड़ा सुन्दर अभिनय करते हैं। मैत्रेय बुद्धके जीवनका नाटक महोत्सवके समय यहाँ कई दिनों तक अभिनीत किया जाता है। मैत्रेय बोधिसत्वकी महिमा यहाँ बहुत मानी जाती है, शायद इसका कारण यह भी है, कि बुद्धके भिक्षु वेष और आचरणके कारण अभिनयमें उतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती, जितनी कि गृहस्थ के रूपमें मैत्रेय बोधिसत्व के बारे में।

राजविहार और आश्चर्यविहार दोनोंसे मेरा सम्बन्ध हो गया था। वहाँके भिक्षुओंके बहुत आग्रहपर मैंने एक वर्षावास आश्चर्यविहारमें भी किया। समय वहाँ अच्छी तरह बीत रहा था। मेरी इच्छा न रहनेपर भी राजा और राजामात्य हर तरहसे प्रतिष्ठा और सम्मान करनेकी चेष्टा करते थे। भिक्षुओंकी कोशिश थी, कि मैं वहीं पर रह जाऊँ। लेकिन, मैंने यात्राका जो संकल्प किया था, वह इतनी जल्दी समाप्त हो जाये, यह मुझे पसन्द नहीं था। मेरे साथी तीनों भिक्षु यहाँके निवासके समयका उपयोग अच्छी तरह कर रहे थे। उन्होंने बड़ी तत्परतासे अध्ययन किया। संघिलकी प्रतिभा और साहसको देखकर मेरा उनके साथ विशेष पक्षपात था, यद्यपि मैं उसे बाहरसे दिखलाता नहीं था। कूची में एक और भी प्रथा है थोड़े समयके लिये भिक्षु बन जाना या भिक्षु बन कर एक से अनेक बार गृहस्थ और भिक्षुके रूपमें बदलते रहना। पहले मुझे यह प्रथा कुछ अच्छी नहीं लगी। सोचता था, यहाँके मोदप्रिय लोग अपने जीवनसे तो खेल करते रहते ही हैं, प्रव्रज्यासे तो इन्हें खेल नहीं करना चाहिये। फिर मुझे याद आता था, वैशालीके लिच्छवियोंके बारेमें तथागतका विचार। भगवानको लिच्छवि कुमार और कुमारियाँ त्रायस्त्रिंश स्वर्गलोकके देव-कुमारों और देव-कन्याओं जैसी प्रतीत हुई थीं। मुझे भी कूची के नर-नारियोंका जीवन उसी तरहका मालूम होता था। इतने सुन्दर नर-नारी मैंने कहीं नहीं देखे। यद्यपि उनके बारेमें यही राय चीनके लोगोंकी नहीं है। वह उनके सुनहले या अरुण केशों तथा अग्नि-समान रंग को देख कर उन्हें वानर जैसा बतलाते थे। सौंदर्य को देश-देश में लोगों ने अलग मान लिया है, इसलिये यदि चीन के लोग कूची लोगों को हमारी दृष्टि से नहीं देखते, तो इसके लिये उन्हें दोष नहीं देना चाहिये। हमारे लोग जिस रूप-रंग को चरम सौन्दर्य मानते हैं, वह कूचियों में है। भिक्षुओं के प्रति तो धार्मिक भावना के कारण उनका सम्मान और स्नेह है, किन्तु आपस में या विदेशी से भी वह उसी तरह खुल कर मिलते हैं। तुर्क और अवार दोनों ही का रंग-रूप चीनी लोगों से मिलता है। उनकी चिपटी नाकें और तिर्छी आखें, श्मश्रुहीन चेहरे हमें

उतने पसन्द नहीं आते। उत्तर के तुमन्तू अशिक्षित, क्रूर और उजड्ड स्वभाव के हैं। लेकिन, कूची के लोगों के बर्ताव से वह भी प्रभावित हुये बिना नहीं रहे। वह देखते थे, कि कूची लोग एक ओर लड़ने में बड़े वीर हैं, तो दूसरी तरफ वह दिल खोलकर हमसे मिलने के लिये भी तैयार हैं। अयारों और तुर्कों के संघर्ष में कूचा के लोगों को पिसने का डर था, लेकिन उन्होंने इतनी चतुराई से काम लिया, कि चक्की के दोनों पाटों के बीच में पड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

यहाँके भिक्षु क्यों प्रव्रज्याके साथ खेल करते हैं, इसका कारण मालूम न होने में मुझे देर नहीं लगी। त्रायस्त्रिंसके देवकुमार और देवकुमारियाँ भी ऐसा ही करते। सुखपूर्वक जीवन बितानेकी सारी सामग्री इनके पास मौजूद है, और उसके उपयुक्त ही मन भी इनके पास है। यहाँ के लोग अगर कुछ नहीं जानते हैं, तो वह है दुःख और विषाद का प्रकट करना। दूसरों के सामने इस तरहका प्रदर्शन इनके लिये अपने आत्म-सम्मानके विरुद्ध है। जबसे शिशु पैदा होता है और जब मरता है, सारे जीवन में वह हर्ष और उत्सव ही अपने चारों ओर देखता है, जीवन को यातना भोगनेका नहीं, बल्कि आनन्द मनाने का साधन मानता है। शायद सर्वास्तिवादी हीनयान से जल्दी ही महायान में जानेका भी एक कारण यही हुआ, क्योंकि उसमें जीवन संभोग की सीमायें और बढ़ जाती हैं। मैं बतला चुका हूँ, यहाँके, विशेषकर आश्चर्यविहारके भिक्षु विनयनियमों के पालन करने में बड़े कठोर होते हैं। यह भी इनकी तृप्ति, इनकी ईमानदारी की प्रकृतिके अनुकूल है। जिस वक्त जो व्रत धारण करते हैं, उसे वह मनसा-वाचा-कर्मणा पूरा करना चाहते हैं। यदि अपनेको उसके पालन में असमर्थ देखते हैं, तो चीवर छोड़ कर गृहस्थ बन जाते हैं। अप्सराओं और देवकन्याओंका देश वस्तुतः प्रव्रज्याके लिये नहीं है। तो भी पाँच हजार के करीब यहाँ के भिक्षुओंका होना यही बतलाता है, कि तथागत के उपदेशोंका इनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है।

मैंने सुना था, कुमारजीवके पिता कश्मीरमें पैदा हुये एक भिक्षु थे, जो यहाँ आकर राजमानित हो रहने लगे। फिर राजकन्याके सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गये और उन्होंने चीवर छोड़ गृहस्थ का जीवन स्वीकार किया। यहाँ के लिये यह कोई अचरज की बात नहीं थी। जहाँ सुन्दरियोंकी खान हो, मुक्त स्वच्छन्द समाजके चारों तरफ प्रेम और स्नेह की अविरल धारा बह रही हो, कुमारजीवके पिता जैसे आदमियोंका ऐसा न करना ही अचरजकी बात होती। सम्मान और स्नेह की कहाँ सीमा है, यह तरुण-तरुणियों के बीच जानना बहुत मुश्किल है। मुझे भी डर लग रहा था, लेकिन, मेरे सामने एक बड़ा उद्देश्य था, जिसको दृढ़ करनेमें बुद्धिलने बड़ी सहायता की थी। यदि मैं उससे विचलित होता, तो यह अपने मित्र के प्रति विश्वासघात होता, यह भी कारण था, जो मैंने कभी सम्मान और स्नेह की सीमाओं को मिलने नहीं दिया। लेकिन, यही बात हमारे साथी दो तरुण भिक्षु नहीं कर सके।

× × ×

बाह्लीक-भिक्षु रेवत प्रतिभासम्पन्न तरुण थे। उन्हें पढ़ने-लिखनेका शौक था, जिसके कारण वह मेरी तरफ आकृष्ट हुये थे। जिस तरहके तीन भिक्षु मुझे साथी मिले थे, वैसे विरले ही पर्यटकको मिले होंगे। हम जितना ही अधिक एक दूसरेके साथ परिचित होते गये, उतना ही हमारा स्नेह और सम्मान बढ़ता गया। यह सचमुच ही दुःखकी बात थी, कि मुझे अपने दो साथियोंसे वञ्चित होना पड़ा। बाह्लीक-भिक्षु रेवत और गुणोंके साथ असाधारण सुन्दर थे। वह उसी कुषाण राजवंशमें पैदा हुये, जिसने किसी समय भारत, सो-ग्द तथा दूसरे देशोंपर शासन किया था। राजवंशको खतम हुये दो शताब्दियाँ हो गईं, किन्तु बुद्ध-धर्मके प्रति अपना प्रेम और श्रद्धा दिखलाते हुये कुषाणोंने जो कीर्त्तियाँ अपने पीछे छोड़ी थीं, वह अब भी लोगोंके हृदयमें उनके प्रति सम्मान पैदा करती हैं। राजवंश पद-भ्रष्ट होनेसे पहले ही टुकड़ों-टुकड़ोंमें बँटा, फिर उनमेंसे कितने ही नष्ट हो गये और कुछ येथों (श्वेत-हूणों) के सामन्त बन गये। रेवत बाह्लीक (बलख) में रहनेवाले ऐसे ही एक कुषाण-सामन्तकुलमें

पैदा हुये। अपनी पैतृक श्रद्धाके कारण माता-पिताकी इच्छा पूर्ण करते हुये वह कुछ ही वर्षों पहले भिक्षु हुये थे। उनमें देशाटनकी पिपासा थी, यदि इस पिपासाके वेगका प्रतिरोध करने वाली और कोई शक्तिशाली बात न हुई होती, तो सम्भव है उनसे मुझे वंचित न होना पड़ता।

रेवतका खानदान कांस्यदेश और कूचीके अधिक नजदीक रहता था, इसलिये वह भूला नहीं था, कि कुषाण मूलतः कूचीके रहनेवाले थे। कूचीमें आनेपर रेवतके हृदयमें उस भूमिके प्रति एक तरहका अद्भुत आकर्षण पैदा हो गया। वह कूचियोंके बारेमें जाननेके लिये बहुत उत्सुक थे, और बड़ी तत्परताके साथ वहाँकी परम्पराओंकी जानकारी प्राप्त करते रहे। कूची-तरुण और तरुणियाँ रूप और रंग दोनोंमें असाधारण सुन्दर होते हैं—लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ सौन्दर्यहीन लोग होते ही नहीं। कूचीको सुन्दरियोंकी खान कहने का मतलब यही है, कि वहाँकी स्त्रियाँ और देशोंकी अपेक्षा अधिक संख्यामें सुन्दर होती हैं। रेवत कूची-राजधानीके सुन्दर तरुणोंमें किसीका भी मुकाबिला कर सकते थे। भिक्षुओंका चीवर उनके सौन्दर्यके लिये बाधक नहीं था। रंग-रूपमें वह कूचियोंकी तरह सुवर्ण वर्ण थे, आँखें उनकी भी अभिनील थीं। शरीर जैसे साँचेमें ढला हुआ था, यद्यपि उनके सिर और मुँहके बाल ही घुटे नहीं थे, बल्कि भौंहों पर भी अस्तुरा फिर जाता था। मामूली कपड़ेके काटकर सिले हुये शरीरके चीवर आगको ढाकनेवाली राखकी तरह उसे छिपानेका प्रयत्न करते थे। लेकिन, जो निसर्गतः सुन्दर है, उसे न बाहरी प्रसाधनकी आवश्यकता होती और न कोई चीज उनके सौन्दर्यको कम कर सकती है। रेवत चीवर पहने संघाटीसे शरीरको ढाँके हाथमें लोहेका भिक्षापात्र ले भिक्षा माँगनेके लिये जिस वीथोमें भी चले जाते, सैकड़ों आँखें अतृप्त हो उनकी तरफ देखने लगतीं और भिक्षा-पात्र तो चार-पाँच घरों तक पहुँचते-पहुँचते आवश्यकतासे अधिक भर जाता। मुझे इसकी भनक लग चुकी थी, इसलिये मैं रेवतको सावधान करता रहता था। उनका भी आग्रह था, कि कूची-राजधानी छोड़ दूसरे जगह चले चलें। लेकिन, अभी चीन का रास्ता साफ नहीं था।

कुषाणोंकी परम्पराके संबन्धकी उग्र जिज्ञासा उन्हें कूचीके एक राजमंत्रीके पास ले गई। वह यहाँके सामन्तोंमें अपने कुल और बहुज्ञताके कारण बहुत प्रतिष्ठित था। उसने यह बात निश्चित कर दी, कि कूचा और कुषा एक ही शब्द हैं, और यह भी कि कुषाण मूलतः इसी देशके रहनेवाले थे। उसने यह भी बतलाया—"यह देश हमारे वंशकी ही एक शाखा खसोंके हाथमें था, जिनके ही कारण हमारे एक नगरका नाम खशगिरि (काशगर) पड़ा। छ सात सौ वर्ष हुये, जब कि हमारे लोग यहाँसे महीने भरके रास्तेपर उत्तर और पूर्वमें भी फैले हुये थे। उस समय आजके अवारों और तुर्कोंके पूर्वज हूण कहे जाते थे, जो हमारे लोगोंकी सीमापर रहते थे। हमारे पूर्वज सीता-उपत्यकामें आनेसे पहले घुमन्तू पशुपाल थे। उनकी युद्धकी वीरताका कुछ अंश नागरिक बन जानेपर अब भी हमारे पुरुषोंमें है। हूण बड़े ही दुर्धर्ष थे। उनके आक्रमण बड़े भयंकर होते थे, परन्तु हमारे पड़ोसी होनेके कारण वह जानते थे, कि शक भी हमसे पीछे नहीं हैं। हाँ, शकोंकी ही एक शाखा कुषाण थे, हमसे उत्तरके पहाड़ोंमें रहनेवाले शक पहले वूसुन कहे जाते थे। चीनके लोग नगर और ग्राम के जीवनको अपनाकर कोमल प्रकृतिके हो गये थे, जो अक्सर हूणोंकी लूटके शिकार होते। उन्हींसे बचनेके लिये चीनने हजारों कोस लम्बी महादीवार बनवाई। एक समय चीन हूणोंको पूरी तौरसे दबाने और नष्ट करनेमें सफल हुआ। उस समय हूणोंको अपने मूलस्थानको छोड़नेके लिये मजबूर होना पड़ा। घुमन्तू-जीवन तो सरोवर नहीं, बहती नदीका पानी है। चलते रहना उसके जीवनके लिये साधारण सी बात है। अगर एक तरफ रास्ता रुकता है, तो नदी दूसरा रास्ता पकड़ती है। हूण अपनी भूमिसे भगाये जानेपर हमारी भूमिपर पड़े, और शक-द्वीपकी सुन्दर चरागाहोंको छीन कर उन्होंने भीषण नर-संहारके साथ हमारे पूर्वजोंको उनकी कितनी ही भूमिसे भगा दिया। इन्हीं भागे हुये शकोंमें कुष या कुषाण थे, जो इस तरफ आये और अन्य कितने ही दूसरे देशोंमें चले गये।

राजमंत्रीकी बातोंसे रेवतकी जिज्ञासा ही तृप्त नहीं हुई, बल्कि वह उसके

साथ वार्तालाप करनेके लिये उसके घर और अधिक जाने लगे। कुछ ही दिनों-में, ऐसा मालूम हुआ, जैसे राजमंत्रीका कोई भूला हुआ पुत्र बहुत दिनों बाद अपनी नगरीमें लौटा हो। दोनोंमें घनिष्ट आत्मीयता स्थापित हो गई। अक्सर हम लोग मंत्रीके गृहमें निमंत्रित होते, और बराबर हमारे पास वहाँसे खाने-पीनेकी चीजें आया करतीं। हममेंसे किसीको—रेवतको भी—अनिष्टकी कोई आशंका नहीं थी। मंत्री विद्याप्रेमी और साथ-साथ तथागतके शासनमें बड़ी श्रद्धा रखता था। उसका अगर कोई इकलौता पुत्र भी होता, तो वह खुशीसे भिक्षु-संघको दे देता। वह ऐसे ही दानका आनन्द रेवतके रूपमें अनुभव करता था। वह हमारा स्थायी दायक था। उसके एक ही कन्या थी, जो नवतरुणी होनेके साथ-साथ कूची राजधानीकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। अपने परिवारमें आनेवाले तरुण भिक्षु और अपने पिताके स्नेहपात्रको उसने भी अपने सहोदरके तौरपर स्वीकार किया था। इस तरहके स्नेह में रेवतको कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। मंत्रिकन्या अपनी माँके साथ कितनी ही बार हमारे विहारमें भी पूजा कभी भिक्षुओंको सांघिक दान (भोज) देनेके लिये आती। एक साल तक ऐसा ही चलता रहा। कूचीके लोगोंके बारेमें जो कुछ भी जानना था, वह रेवत जान चुके थे। यदि उनकी चली होती, तो उसी समय हमने पूर्वकी ओर प्रस्थान कर दिया होता।

यह बतला चुके हैं, कूची के लोग संगीत, नृत्य और नाट्य के असाधारण प्रेमी हैं। कोई तरुण-तरुणी ऐसा नहीं हो सकता, जो विभिन्न कलाओंका अभ्यास न करता। मंत्रि-कन्या सौंदर्य में नहीं, बल्कि इन कलाओंमें भी असाधारण थी। रेवतने अपने घर के किसी प्रकोष्ठमें तंत्री वाद्य के साथ गीत गाते हुये मंत्रि-कन्या को सुना था। लेकिन, उसके और गुणोंका परिचय अगले साल के महोत्सवके दिन मिला। वार्षिक महोत्सव के समय कई दिनों तक रात में अभिनय हुआ करते। "नन्द प्रव्रजन" नामक नाटकका अभिनय किया जा रहा था। महाकवि अश्वघोषके सौन्दरनन्द महाकाव्यके आधार पर कूचीभाषा में इस नाटकको किसी कवि ने बनाया था। तथागतके सौतेले

भाई नन्द असाधारण सुन्दर थे, उनकी पत्नी नन्दा सारे शाक्य गणराज्यकी जनपदकल्याणी (सर्वसुन्दरी) थीं। नया-नया विवाह हुआ था। नवदम्पतीमें असाधारण प्रेम था। इसी समय सिद्धार्थ बुद्ध होकर पहलेपहल अपनी जन्म-भूमि देखने कपिलवस्तु पहुँचे। नन्द अपने ज्येष्ठ भाईकी सेवामें उपस्थित रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे, और तथागत भी सेवाका प्रतिफल देना चाहते थे। एक दिन सम्मान प्रदर्शित करते हुये रोजकी तरह नन्दने बुद्धके भिक्षापात्रको अपने हाथमें ले रक्खा था। बुद्धको न जाने क्यों ख्याल आया—ये हाथ भिक्षा-पात्रके ही योग्य हैं। नन्दकी पत्नी कोठेके ऊपर धोये हुये केशोंको सुखाती खड़ी थीं। किसी सहेलीने आकर कहा—देखो, तुम्हारे नन्द भिक्षापात्र लिये तथागत के पीछे-पीछे जा रहे हैं। नन्दाने कोठेके ऊपरसे झाँक कर देखा। उसका हृदय काँपने लगा। नन्द चाहते थे, कि बुद्ध अपने पात्रको मांगें, और मैं घर लौट जाऊँ। लेकिन, बुद्धने ऐसा नहीं किया। नन्द भी पीछे-पीछे चलते गये। नन्दाने यह देखकर अपने संकोच को हटाकर कहा—"आर्यपुत्र, जल्दी अइयो"। लेकिन, आर्यपुत्र कहाँ जल्दी आनेवाले थे। उन्होंने सदा के लिये अपने अग्रजका पथ पकड़ लिया। इसी दृश्यका अभिनय उस दिन के नाटकमें किया जा रहा था। मंत्रि-कन्या नन्दा बनी थी। नाटक अन्तिम वियोगके स्थान पर पहुँचा, तो उसने कमाल कर दिया। हजारोंकी दर्शकमंडली आंखों से आँसू बहा रही थी, और अभिनेत्री स्वयं बेहोश होकर रंगमंच पर गिर पड़ी। भिक्षु आम तौरसे नृत्य, नाट्य देखने नहीं जाते, लेकिन यह तो तथागत और उनके श्रावकके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाला नाटक था, इसलिये इसे देखनेमें उन्हें आपत्ति नहीं हो सकती थी। रंगमंचके पास कितने ही भिक्षु प्रेक्षकके तौरपर बैठे थे, जिनमें रेवत भी थे। उस दिन उन्होंने अपने मित्रकी पुत्रीको पूर्ण रूपमें देखा। अत्यन्त करुण अवस्थामें पहुँच-कर तरुणीका सौंदर्य अपनी चरम काष्ठापर पहुँचा था। न जाने कितने समयसे अन्तस्तलमें कुछ भाव स्वयं अंकुरित हो रहे थे, जो इस समय फूट निकले। रेवत आकृष्ट हो गये। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि मंत्रि-पुत्री पहले

ही से उनपर मुग्ध हो चुकी थी। कूची में चीर-चीवर छोड़कर भिक्षुओंका गृहस्थ बनना कोई असाधारण बात नहीं थी, न इसके लिये उस तरुणी या उसके परिवार को लज्जित होने की आवश्यकता थी। कुशल अभिनेत्री वह अवश्य थी, लेकिन उस दिन जो अद्भुत अभिनय करते हुये उसने अपनी चेतना खो दी थी, उसका कारण रेवत का इतना नजदीक बैठना था।

आगेकी कथा, जहाँ तक हम लोगों से सम्बन्ध है, बहुत संक्षिप्त है। दोनोंके प्रेमको जब पिता-माता ने सुना, तो उनके हर्षका ठिकाना नहीं रहा—उन्हें एक योग्य पुत्र मिल रहा था। रेवत ने एक दिन बड़े संकोचके साथ आँखोंमें आँसू भर कर मुझसे क्षमा माँगते हुये भिक्षु-जीवन समाप्त करने की आज्ञा मांगी और चीवर छोड़कर वह मंत्रीके गृह-जामाता बनकर चले गये।

× × ×

सुमन कम्बोज-निवासी थे, हमारा उनका परिचय उद्यानसे ही हुआ था, और मेरे पास जो कुछ भी ज्ञान था, उसका अधिक भाग वह मुझसे सीख चुके थे। हमारे देश में भी और देशों की तरह कितने ही भिक्षु चिकित्साशास्त्रका थोड़ा-बहुत अध्ययन करते हैं। तथागतकी भैषज्यगुरुके रूपमें जहाँ मूर्तियाँ स्थापित हों, लोग बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे भैषज्यगुरुकी पूजा करते हों, वहाँ भैषज्य शास्त्रकी ओर भिक्षुओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। किसीको दुःखी देखकर यथाशक्ति उसकी सहायता करना भिक्षु अपना कर्त्तव्य समझते हैं, इसलिये भी सुमन भैष्ज्यशास्त्रकी ओर झुके थे। विदेशों में पर्यटन करते वह इस विद्यासे आत्मकल्याण और परकल्याण दोनों कर सकते थे। चाहे चिकित्साशास्त्रकी ओर बहुतों का झुकाव हो, लेकिन सभी कुशल वैद्य नहीं बन जाते। सुमनका इस तरफ झुकाव था। दूसरे शास्त्रोंके अध्ययनकी ओर यदि उनका बहुत ध्यान न होता, तो उन्होंने चिकित्साशास्त्र को पूरी तौरसे पढ़ लिया होता इसमें सन्देह नहीं। पढ़नेके साथ ही प्रयोगके लिये भी जब तक आदमीके पास उपयुक्त बुद्धि न हो, तब तक वह सफल चिकित्सक नहीं हो सकता। वह सुमनके पास काफी मात्रामें मौजूद थी। जब-तब उन्होंने रोगियोंकी चिकित्सा

भी की थी, लेकिन विद्याको समाप्तिपर पहुँचा कर जितना वह अब कर रहे थे, उतना कुस्तनके निवासके समयमें नहीं कर पाये थे। कूची नगरीमें पहुँचनेसे पहले ही उनकी चिकित्साका चमत्कार कई जगहों में देखनेमें आया था, और राजधानीमें पहुँचनेपर उनकी ख्याति बढ़ चली। दुखी, रोगमें असह्य-वेदना सहते नर-नारीकी सहायता पहुँचा अपनी संवेदना प्रकट करनेमें सभीको आनन्द आता है। फिर जिस महायान के हम पथिक थे, उसमें अपने प्राणों को देकर भी दूसरेको क्षणिक सान्त्वना देना सबसे बड़ा काम और कर्त्तव्य समझा जाता है। सुमनकी इस तरफ तीव्र प्रवृत्ति क्यों न हो? एक सालके निवास के समाप्त होते-होते हम रेवतको खो चुके थे और इसी बीचमें सुमन एक प्रसिद्ध वैद्य बन चुके थे। वह साधारण वैद्यों जैसी चिकित्सा नहीं करते थे। जान पड़ता था, वह अपने अन्तस्तलसे एक पवित्र साधनामें लगे हुये हैं। किसी असहाय रोगीकी सूचना मिली, कि वह वहाँ बिना बुलाये ही पहुँचते।

एक दिन अस्थि-कङ्कालके रूपमें एक लम्बा बूढ़ा उनके पास पहुँचा। आते ही वह अपने को न सँभाल रोने लगा। उसकी लड़की मौत के मुँह में पड़ी थी। सुमन उसके साथ हो लिये। बूढ़े का घर नगरीके दूसरे छोरपर ऐसी जगह था, जहाँके घरोंको देखनेसे ही मालूम होता था, कि यहाँसे सुख-संपत्ति बिदा हो चुकी है, यद्यपि वह कभी यहाँ पर थी। राजविराजी होनेपर लूट-पाट होना स्वाभाविक है। तुर्कों के आक्रमणकी खबर सुनकर कितने ही अवारोंने इधरसे भागते नगर के छोरपर बसे इन घरोंको बड़ी बेदर्दी से लूटा और कितनोंको मारा। यहाँके अधिकतर लोग इसी समय सम्पत्तिहीन हो गये, जिसमें यह बूढ़ा भी था। बूढ़ेका जवान लड़का अवारोंकी तलवारसे कत्ल हुआ। उसकी सम्पत्ति लुट गई। लड़केकी गुस्ताखीके कारण अवारोंने उसके घरको लूटकर ही संतोष नहीं किया, बल्कि उसमें आग लगा दी। अकिंचन बूढ़े की बुढ़िया भी कुछ ही महीनों बाद पुत्र-वियोगमें चल बसी और उसकी एक मात्र लड़की घर में रह गई, जो इसी समय बीमार पड़ गई। बीमारी

बढ़ती ही गई। राजधानीमें जितने भी चिकित्सक थे, सबकी चिकित्सा करवाई, लेकिन लड़की की अवस्था बिगड़ती ही गई।

सुमन बूढ़ेके साथ-साथ एक खंडहरमें गये। कूचीके अधिकांश मकान मिट्टीकी दीवारों और मिट्टीकी ही छतोंके होते हैं, जिनमें लकड़ीका कमसे कम इस्तेमाल किया जाता है। लोग मकानोंको लीप-पोत कर रंग और चित्रसे सजा बहुत अच्छा बना कर रखते हैं। बूढ़ेको इतनी छुट्टी कहाँ थी, और न उसके पास धन रह गया था, कि दूसरोंको लगाकर अपने मकानको ठीकठाक करवाता। घरको देख कर सुमनको बड़ी दया आई। वहाँ सिर्फ एक कोठरी रहने लायक थी, जिसके एक कोनेमें बहुत पुराने फटे हुये नम्देपर उसी तरहके फटे चीथड़ों को ओढ़े पड़ी हुई कोई चीज दिखाई पड़ी। पासमें एक बुढ़िया बैठी थी। भिक्षु वैद्यके आते ही लम्बी साँस ले आँसू पोंछती वंदना कर बुढ़िया उठ कर एक ओर खड़ी हो गई। कूची अपने दुःखसे दूसरोंको कातर करनेके अभ्यासी नहीं हैं, लेकिन इस संयमकी भी एक सीमा है। बुढ़िया अपने भाईकी पुत्रीको मरी समझ चुकी थी। उसके चेहरेको देख कर बूढ़ाका हृदय भी सुन्न हो गया। सुमनने जाकर कपड़ेको हटा रोगीके चेहरेको देखा। वहाँ क्या था? हड्डियोंके ऊपर पीला चमड़ा मढ़ा था। आँखें उसी तरह भीतर धँसी हुई थीं, जैसे खोपड़ीमें देखी जा सकती हैं। वह बन्द थीं, इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि रोगी जीवित है या मरा। मृत्युके लक्षण ही ज्यादा मालूम हो रहे थे, लेकिन वैद्य केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हैं। अकस्मात् ही सुमनका हाथ रोगीके हाथपर चला गया। बहुत ध्यानसे देखनेपर मालूम हुआ, नाड़ीकी गति अत्यन्त क्षीण हो गई है, किन्तु वह बन्द नहीं है। सुमनका उत्साह बढ़ गया। बूढ़ेके हाथसे अपने औषधियोंके थैलेको उन्होंने ले लिया, और कोमल पतले मृगचर्मकी सैकड़ों थैलियोंमेंसे एकके साथ बँधी हाथीदाँतकी पत्तीपर लिखे नामको पढ़ कर उसमेंसे उन्होंने अपनी कानी अँगुलीके बढ़े नखपर एक रत्ती दवा निकाली—और वैद्योंकी तरह सुमनने भी अपने दाहिने हाथकी कानी अँगुलीके नाखूनको कटाना छोड़ दिया था। उनके मनमें केवल एक ही सन्देह था, शायद मैं

इस दवाको इसके गलेके भीतर न उतार सकूँ। उनके माँगनेपर पानी भी आ गया। पानीके माँगने और थैलीके खोलनेसे ही दोनों बूढ़े-बुढ़ियाके हृदयोंमें आशाका संचार हो गया। सुमनने मुँह खोल "नमो भैषज्यगुरवे" कह कर नाखूनकी दवाई मुँहमें डाल दी और ऊपरसे एक घूँट पानी भी। साँस बन्द कर वह देखने लगे। एक ही क्षणमें रोगीने दवाको निगल लिया। प्राणीका जीवनसे कितना मोह होता है? स्वप्नमें भी वह जीवनकी कामना करता है, मूर्छामें भी वह कामना उसके हृदयसे नहीं छूटती।

सुमनने पास खड़े दोनोंको कहा—अब चिन्ता न करो।

लेकिन, वह जितना विश्वास दूसरोंको दिलाना चाहते थे, उतना उनके अपने हृदयमें नहीं था। और भी सान्त्वना देते उन्होंने कहा—आपकी लड़की मृत्युके मुखमें पहुँच चुकी थी, हमारे चिकित्साशास्त्रमें यही एक दवा है, जो प्राणोंको मृत्युके जबड़ेसे निकाल लाती है। नागार्जुनसे यह दवा शिष्य-परम्पराके अनुसार मेरे पास पहुँची है।

सुमनने जल मिला कर थोड़ा सा अंगूरका रस देनेके लिये कह शामको फिर आकर देख जानेका वचन दिया। लड़कीके बाल सारे गिर गये थे, जो छोटे-छोटे अवशेष कहीं-कहीं रह गये थे, वह रूखे और पीले दिखलाई पड़ते थे। अस्थि-कंकाल आदमीके रूपको क्या बतला सकते हैं? घरसे विदा होते वक्त उन्होंने चाहे कितना ही समझाया, लेकिन उनका अपना दिल कह रहा था—यदि पहर भर और जी गई और शामको मेरे आनेके समय तक यमदूत इसको नहीं ले गये, तो शायद बच जाये।

अपराह्नमें भिक्षु नगरके भीतर नहीं जाया करते, लेकिन वैद्य इस नियमसे मुक्त हैं। सुमन स्वयं आनेके लिये कह गये थे, लेकिन बापसे नहीं रहा गया और वह उनके पास ही पहुँच गया। पूछनेकी आवश्यकता नहीं थी। उसके चेहरेकी रेखाओंके देखनेसे ही मालूम हो रहा था, कि हताश होनेकी अवश्यकता नहीं। बूढ़ेने बतलाया, कि उनकी कहीं मात्रामें दवाको द्राक्षारस पिला दिया। लड़की हिल-डोल नहीं सकती थी, किन्तु उसमें जीवनके लक्षण दिखलाई पड़ रहे

हैं। सुमनको बहुत संतोष हुआ। उन्होंने लड़कीको देखकर पूरा संतोष प्रकट करते हुये और भी दवाई दी, अनुपान बतलाया और कहा, यदि कोई खराबी नहीं देखनेमें आये, तो मेरे पास न आना, मैं कल दोपहरको स्वयं आऊँगा।

सुमनने चिकित्साका काम बहुत वर्षों से और व्यापक रूप में नहीं किया था। इतने असाध्य रोगीकी दवा करने की तो बात अलग, उन्होंने उसे देखा भी नहीं था। अपने चिकित्सा के ज्ञानका उन्हें इस समय कुछ अभिमान होने लगा था, और साथही यह देखकर अपार प्रसन्नता भी, कि मैं भीषण कष्ट में केवल मौखिक सहानुभूति ही प्रकट न करके किसीके लिये कुछ कर सकता हूँ। जिस तरह लड़की धीरे-धीरे घुल कर एक वर्ष से अधिक दिनों में सबसे निचली सीढ़ीपर पहुँची थी, ऊपर उठने के लिये भी उसके लिये काफी समयकी आवश्यकता थी। मुर्दे को जिन्दा करना बड़े चमत्कार की बात है। लोग लड़की को मुर्दा समझ चुके थे। सूखा वृक्ष वसन्त में अनेक बार कलियों के रूप में पत्ते पल्लवित होते हर साल देखा जाता है, लेकिन वह देखनेके लिये ही चार महीने सूखा सा दिखलाई पड़ता है, कहींपर भी चोट करनेसे उसमें रस निकलता है। परन्तु, यहाँ तो उसका भी कोई पता नहीं था। सीधे-सादे लोग साफ कहते थे: भदन्त सुमन मुर्देको जिन्दा कर सकते हैं। सुमनको भी अपनी सफलतापर हर्षित होना स्वाभाविक था। हड्डियों और खालके ऊपर पहले जीवनका रंग दौड़ने लगा, धमनियोंमें रक्तका धीरे-धीरे संचार शुरू हुआ, चमड़े और हड्डीके बीचमें माँसकी तहें जमने लगीं, आँखें खोपड़ीके कोटरमेंसे बाहर निकलने लगीं, रूखे केश स्निग्ध होकर बढ़ने लगे। महीने भर बाद वह अपने शरीरको हिला-डुला सकती थी। सुमन उस सूखे वृक्षको पूरी तौरसे हरा-भरा देखना चाहते थे, इसलिये मृत्युके मुखसे पूरी तौरसे निकल आनेके बाद भी वह उसकी चिकित्सा करते रहना चाहते थे जिस तरह मैंने मुर्देको जिन्दा किया, उसी तरह उसे जल्दी स्वस्थ कर देना है। जिस तरह किसान अपने खेतमें बोये बीजको बड़ी लालसासे जाकर देखता है, उसके अंकुर फूट निकलने और बढ़नेसे प्रसन्न होता है, वही स्थिति सुमन की थी। मुझे भी बड़ा कोमल हृदय मिला है, किसीको दुःखी देखकर

मैं आत्माभिमान खोकर कातर हो जाता हूँ, किन्तु सुमन मुझसे भी अधिक दयालु थे। उनकी अपार दया को मैंने कई बार अपनी आँखोंसे देखा था। यही अपार दया उन्हें उस मुर्दा लड़कीकी ओर ले गई, और उसीके वश में होकर वह वहाँ बराबर जाते रहे। न जाने कैसे एक दिन जब वह अपनी रोगिनीके पास गये, तो देखा वह वस्तुतः वैसा कंकाल नहीं थी, जैसा कि उन्होंने उस दिन देखा था। उस दिनकी बन्द आँखें अब बड़ी-बड़ी हो बाहर निकल आई थीं, उनपर भौहोंकी कमान बड़ी सुन्दर रूपसे तन गई थीं। अलसी के फूल जैसी नीली आँखों में असाधारण चमक थी, जो अपने प्राणदाता की ओर फिरनेपर अद्भुत सौन्दर्य धारण कर लेती थीं। छ महीने बाद वह पूरी तौरसे स्वस्थ हो गई। वह बड़ी सुन्दर तरुणी थी। सुमनने उसकी बीमारीकी ही चिकित्सा नहीं की, बल्की उस लुट गये घरको फिरसे सुखी बनानेका भी प्रबन्ध किया। उनके दायकोंकी संख्या कम नहीं थी, सिर्फ कहने मात्रकी देर थी। जैसे लड़कीका कंकाल हरा-भरा हुआ, वैसे ही वह खंडहर भी आदमीके घर जैसा बन गया।

शुमनको स्वप्नमें भी कभी ख्याल नहीं था, कि अपनी दयाका उन्हें यह प्रतिफल मिलेगा। लेकिन, दयाकी मर्यादायें तभी कायम रहती हैं, जब दूसरी कोई सम्भावना न हो। पुरुष और पुरुषके घनिष्ठ स्नेहमें अपनी प्राकृतिक मर्यादा है, लेकिन पुरुष और स्त्री की घनिष्ठतामें ऐसी कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। मालूम नहीं, दया, उदारता या और कोई भावना किस वक्त कौन सा रूप ले ले। वही बात यहाँ हुई, और हमें अपने एक और मित्र से हाथ धोना पड़ा। *तरुणीके प्रति सुमन आकृष्ट हो चुके थे।*

कुचीमें रहते हमें दो वर्ष होने को आये थे। अपने दो घनिष्ठ मित्रोंको खोकर मैं और संघिल दोनों विकल हो गये। अपने ऊपर भी हमारा विश्वास जाता रहा। देवकुमारों और देवकन्याओंका देश हमारे लिये खतरनाक मालूम होने लगा, और हमने वहाँ से तुरन्त प्रस्थान करने हीमें कल्याण समझा, यद्यपि अभी हमें निश्चय नहीं था, कि महाचीन का मार्ग खुल गया है।

अध्याय १४

दिशा-परिवर्तन (५५४ ई०)

आगे बढ़ने का रास्ता निरापद नहीं था, इसी कारण कूची में दो साल रह जाना पड़ा। यद्यपि वणिक्-सार्थ घमासान लड़ाई होते समय भी आपद्ग्रस्त सीमाओं को पार होते रहते हैं, परन्तु हम मित्रों ने ऐसा करने नहीं दिया। त्युकोंने पहली बार आजसे १८ वर्ष पहले (५३६ ई०) अल्तून-इयश (अल्ताई या सुवर्ण पर्वत) के पास अपने स्वामियों को हार दी थी। तूमिन् जैसा उनको अच्छा नेता मिला था, और उधर अवार राजभोग में पड़ जानेके कारण विलासी हो गये थे। अवार (ज्वान-ज्वान, जूज़ान), त्योर्क (तुर्क) औरचीनके एक बड़े भागपर शासन करनेवाले तोपा, सभी हूण वंशके थे। [हून इनकी भाषामें मनुष्यको कहते हैं, इससे मालूम होता है, कि दूसरोंने उन्हें यह नाम दिया, जैसे हमारे यहाँ, मुंड शबरोंकी भाषा में मनुष्यको कहते हैं, किन्तु कितने ही लोगोंने उनका नाम ही मुंडा रख दिया]। चीन और पारसीक (सासानी) भी उनसे डरते थे। इन घुमन्तुओं का टिड्डीदल लाल आँखें करके जिधर भी मुँह फेर लेता, उधर प्रलय मच जाती। चीन पर शासन करनेवाले हूण वंशज तोपा लोगोंकी ही एक शाखा अशिना थी, जिसने राज्यभ्रष्ट होने के बाद भागकर दक्षिणी सुवर्ण पर्वत में शरण ली थी। तब घुमन्तुओंपर अवारोंका शासन था। अवारोंने अशिना लोगोंको अपना दास सा बना, वहाँ की लोहेकी खानोंमें उनसे काम लेना शुरू किया। आरम्भमें इनके ५०० ही परिवार थे, लेकिन इन घुमन्तुओं को बढ़ते देरी नहीं लगती। यह केवल अपनी सन्तानों द्वारा ही अपनी संख्यावृद्धि नहीं करते, बल्कि जो भी उनके नेतृत्वको स्वीकार करने के लिये तैयार होता है, उन सभी घुमन्तू जनों (कबीलों) को अपने में शामिल कर लेते हैं। सौ-सवा-सौ वर्ष अवारों के नीचे रहते वह

बड़े शक्तिशाली हो गये। यह भी याद रखने की बात है, कि जिस भूमि की ओर हम अब बढ़ रहे थे, वह ऐसे नम्देके तम्बूवाले घुमन्तुओं की थी, जो शक्ल सूरत में एक दूसरे से कोई भेद नहीं रखते थे। उनकी आँखें कम खुली, तिर्छी भौंहें ऊपर को तनी, गाल की हड्डियाँ उभड़ी, नाक बिल्कुल चिपटी और मुँह पर दाढ़ी-मोंछ के नाम पर बहुत थोड़े से बाल होते हैं। हाँ, कुछ भेद जरूर था। बाहर के लोग उन्हें देखकर यह जान नहीं सकते थे, कि कौन त्योर्क हैं और कौन अवार। त्योर्कों में भी कोकत्योर्क (नीला तुर्क, यानम तुर्क) और करात्योर्क (काला तुर्क) दो भेद थे। हमारे लिये वह सभी एक जैसे थे। उनके हाथ में पड़ कर हमें बहुत दयाकी आशा नहीं हो सकती थी। हाँ, उनमें से कुछ विशेषकर अवार-सरदार तथागत के शासन को मानने लगे थे। तोपा-सम्राट भी बुद्ध भक्त थे। उन्होंने अपनी राजधानी के पास पहाड़ोंको खोद कर विशाल गुहाविहार बनवाये थे, जिन्हें पीछे देखकर मुझे विदर्भ की (अजंता, एलूर) अनुपम गुहायें याद आती थीं। जहाँ तक त्योर्क-सरदारों का सम्बन्ध था, वह अपने तोपा वंश के अभिमान के कारण तथागत के धर्म के प्रति कुछ श्रद्धा जरूर रखते थे। हम कूची से चीन की ओर जा रहे थे। हमारा उद्देश्य उधर ही जाने का था लेकिन हमें मालूम था, कि जिस तरह की आंधी इस वक्त अवारों और तुर्कों तथा दूसरी जातियों में चल रही है, उसमें उड़ कर न जाने हम कहाँ चले जायें। मृत्यु भी पद-पदपर हमारी प्रतीक्षा कर रही थी, लेकिन मैं और संघिल उसका भय बिल्कुल ही नहीं रखते थे। संघिल के कारण एक यह भी सुभीता था। कांस्यदेश के होने से वह कूची जैसे लोगों के भाईबन्द थे, और उनकी भाषा को समझते थे, साथ ही अवारों से भी उनका सम्पर्क रहा, जिससे कुछ-कुछ उनकी भाषा और बातों से वह परिचित थे। मैं तो अँधेरे में कूद रहा था, लेकिन संघिल के लिये वह अन्धेरा कम से कम मेरे जैसा निबिड़ नहीं था।

तूमिन के बारे में हम बहुत सुन चुके थे। वह वीर तथा संस्कृत पुरुष था। बौद्ध-भिक्षुओं के साथ उसका बर्ताव बहुत अच्छा होता था। घुमन्तू जब शासक हो जाते हैं, तो विद्या और कला-कौशलके सीखनेकी आवश्यकता

पड़ती है। दूर-दूर तक फैले हुये राज्यको मौखिक आदेशों द्वारा चलना मुश्किल होता है। वस्तुतः हमने कूचीमें छः महीने ही रह कर अगर प्रस्थान कर दिया होता, तो न अपने दो साथियोंसे हाथ धोना पड़ता, और न रास्तेकी बहुत सी कठिनाइयों में पड़ना पड़ता। अधिकसे अधिक यही हो सकता था, कि एल-कआन (इलखान, जनराज) के आदमियोंके हाथमें पड़ कर हम उसके पास पहुँच जाते। हमारे कूचीसे चलनेके दो ही साल पहले (५५२ ई०) तूमिनने अवारों को अन्तिम बार पराजय दी थी। अवार कआन (राजा) ने आत्महत्या कर ली। उसके कुछ लोग पश्चिमकी ओर भागे (जो अन्तमें हुंगरी तक पहुँचे), और कुछ चीनमें जाकर बस गये। बहुतों ने अपने विजेताओंमें सम्मिलित होकर उनका नाम धारण कर लिया। तूमिन्को सफेद नम्देपर बैठा कआन (राजा) घोषित किया गया। हमारे देशोंमें जिसे सिंहासनपर बैठना कहते हैं, उसे ये घुमन्तू लोग नम्देपर बैठना कहते हैं। बुनकर नहीं, बल्कि ऊनको जमा कर एक तरह का कपड़ा (नमदा) तैयार करना इन घुमन्तुओं की अपनी विशेष कला है। इस नम्देकी नकल कांस्यदेशके लोग भी करना जानते हैं, लेकिन वह उतने मजबूत नहीं बना पाते।

घुमन्तुओंके तम्बू नम्दोंके होते हैं। पहले हीसे तैयार लचीली लकड़ीका ढाँचा इनके डेरेके साथ ऊँटोंपर चलता है। जहाँ डेरा डालना होता है, वहाँ इस ढाँचेको खड़ा कर देते हैं। फिर बहुत से नम्दोंसे उसे मढ़ देते हैं, यही उनका मकान है। यह बड़ा सुखदायक होता है, इसे मैंने अपने तजर्बेसे देखा है। जिसे भारत-भूमिमें गर्मी कहते हैं, वह यहाँ बहुत कम होती है, तो भी गर्मीके महीनोंमें खुले मैदानमें आसमानके नीचे दोपहरको उसका बिलकुल अभाव नहीं होता है। ऐसे समय घुमन्तुओंके यह नमदेके तम्बू शीतल मालूम होते हैं। हड्डीको छेदने वाली सर्दीमें ये काफी गरम रहते हैं। घुमन्तू धुँआँ निकलनेके लिये अपने तम्बुओंके बीचमें छेद रखते हैं, जिसके नीचे आग जलाते हैं। ईंधनके लिये लकड़ी दुर्लभ है। वह घोड़ोंकी लीद ऊंटों और दूसरे जानवरोंकी लेंड़ियों या

सूखे कंडेको ईंधन के तौर इस्तेमाल करते हैं। आग जल्दी जलाने और आँच तेज करने के लिये हरेक घुमन्तूके पास खालकी भाथी जरूर रहती है। जब उनका घर चलता फिरता है, और उसे बहुत बड़ा नहीं बनाया जा सकता, तो सामान रखनेमें भी इसका ध्यान रखना बहुत जरूरी है, की अनावश्यक चीजोंका भार अधिक न बढ़ जाये। तो भी सरदारोंके तम्बुओंमें बहुत तरहके सामान होते हैं। उनके यहाँ चीन, पारसीक, बिजन्तीन ही नहीं भारत तककी बनी हुई चीजें मैंने देखीं। बाकी तीन राज्य इनके पड़ोसी होनेके कारण ईर्ष्या और क्रोध के भाजन भी हैं, लेकिन भारतके प्रति इन घुमन्तुओंके हृदयमें अधिक सम्मान है, जिसका कारण शायद यह भी हो सकता है, कि वह बुद्धकी जन्मभूमि है, जिनके धर्मको इनके कितने ही सरदार मानते हैं। तूमिन् खान पिछले साल (मार्च ५५ ई०) में मर गया। उसके मरनेके बाद उसके पुत्र इस्तेमिकगान (इसिगी खान) ने बहुत थोड़े समय ही शासन किया। घुमन्तुओंमें पिताके राज्य को पुत्र पाये, इसका कोई नियम नहीं है। एक कग्राके मरनेपर उसकी जगह लेनेके लिये दूसरों में प्रतिद्वन्द्विता छिड़ जाती और जो सबसे अधिक शक्तिशाला प्रभावशाली होता है, वह नम्देपर बैठ कर अपनेको कग्रान घोषित कर देता है। हाँ, यह मैं मानूँगा, कि इन घुमन्तुओंमें कग्रानकी भेड़ बननेका रवाज नहीं है। कग्रानके मुँहपर भी उनके कबिलेके साधारण आदमी तू-तू में-में कर सकता है। कग्रानके उसका कुछ करनेका मतलब घरमें भीषण खूनी युद्ध है। जिसको यबगू, शाद या कगान बननेकी इच्छा होती है, उसे अपने लोगों की बहुत अधिक संख्याका विश्वास-पात्र होना जरूरी है। इसमें आदमी की वीरता और दूसरी योग्यता भी काम आती है, लेकिन सबसे अधिक जरूरत जन-रंजन की पड़ती है।

घुमन्तू चाहे अवार हों या त्योक, या उनसे पहलेके हूण, सभीकी राजव्यवस्था करीब करीब एक सी रही है। तूमिन कग्रानके पुत्रको हटाकर एक दूसरे वंशके सरदार मुयु (५५३-६६ ई०) ने कग्रान (राजा) का पद ग्रहण किया। उसके राज्यमें मेरे यात्रा करते समय (५५४-५७ ई०) वह पूरी तौरसे अपने सारे

थुनन्तुओंपर प्रभाव नहीं स्थापित कर पाया था। अवार और उनके संबंधी अभी भी अपने पुराने युगको भूलना नहीं चाहते थे, और इधर तूमिन्के वंशने झगड़ा करके आपसमें गृह कलह शुरू कर दी थी। पीछे मेरे चीनमें रहनेके समय थुथु खानका प्रताप वंश-स्थापकसे भी बढ़-चढ़ कर हो गया था। चीनके सम्राट सचमुच उसकी खुशामद करते थे। इसके उत्तराधिकारी तोबा खान (५६६-८० ई०) ने खान बननेके दूसरे साल (५७० ई०) में अपने ही वंशको नहीं, बलकि सारे तुर्कोंको बौद्ध-धर्ममें लानेमें सफलता पाई।

तुर्कोंकी भिन्न-भिन्न पद-मर्यादायें दूसरोंसे विचित्र हैं। ये अपने लोगोंको एल कहते हैं, जिसका अर्थ वही है जो हमारे यहाँ जनका। एलका सरदार कगान (राजा) होता है, जिसके नीचे उसके दाहिने यबगू और बांये शाद बैठते हैं और उसीके अनुसार प्रभाव भी रखते हैं। कगानकी स्त्रीको कातून (खातून, रानी) कहते हैं। इनकी भाषामें कआन या कानका अर्थ पिता भी है। सचमुच ही अपने एलके साथ कआनका सम्बन्ध हमारे यहांके राजाकी तरह न होकर बहुत कुछ पिताकी तरह होता है। ओग मांको कहते हैं, केलिन पुत्रवधू और कुल दास या हाथको। कगानसे सम्बन्ध रखनेवाले परिवारके लोग विशेष सम्मानके भाजन होते हैं, लेकिन शक्ति यबगू और शादकी ज्यादा होती है। कआन और दोनों उप-कआनोंके बाद राजकुमारोंका दर्जा है, जिन्हें तरकन, मुयुरुक और तुतुक कहते हैं। उनके नामके साथ बेग लगाया जाता है। बेगों (सरदारों) के नीचे साधारण जनताके छोटे-छोटे मुखिया हैं, जिन्हें कराबुदुन कहते हैं। नीचेसे ऊपर लेनेपर एल या जनसाधारण सबसे नीचे हैं, उसके ऊपर बुदुन, जिनके ऊपर बेग और उनके ऊपर इनियुकुल होते हैं। कआन (खान) के परिवारमें ओग (राजकुमार) उसके नीचे आता है, फिर अका और अया (राजकुमारियाँ) होती हैं, जिनके नीचे इनि, कूज और कैलीनके दर्जे एकके नीचे एक होते हैं। ये थुमन्तू इतने सीधे-सादे होते हैं और बात-चीत करनेमें इतने खुले, कि मालूम होता है इनमें पद-मर्यादाके अनुसार सम्मान दिखलाने-की उतनी कठिनाई नहीं होगी। पर, वस्तुतः यह बात नहीं है। पदोंका ध्यान

अगर न रक्खा जाये, तो कितनी ही बार उनके कठोर कोपका भाजन बननेकी नौबत आ सकती है।

घुमन्तुओंमें स्त्रियोंकी बात बहुत चलती है, कहा जा सकता है, कि साधारण घुमन्तुओंमें पतिसे पत्नीका दर्जा ऊँचा है। ये लड़नेमें भी पुरुषोंसे पीछे नहीं रहतीं। मुर्दोंको कहीं-कहीं जलाते हैं और कहीं-कहीं ऐसे ही दफना या छोड़ देते हैं। शोक प्रकट करनेके लिये अपने बालोंको नोचने, चेहरे और छाती पर नाखूनसे घाव कर लेने का इनमें रवाज है। सफेद घोड़ेकी बलि देवताको देना ये बहुत पसन्द करते हैं, और मृतात्माकी श्राद्धके लिये भी घोड़ा या किसी और जानवरकी बलि दी जाती है। इनके यहां सफेद पोशाक सौभाग्यका चिन्ह मानी जाती है, और काली शोक-सूचक।

कूचीसे चलते यह जान कर हमें इत्मीनान था, कि अभी बहुत दूर तक हमें ऐसी भूमिमें जाना है, जहाँके लोग कूची या कुस्तनकी तरह नगरों और गाँवोंमें रहते हैं, जहाँ बुद्ध-धर्मको सभी लोग मानते और भिक्षुओंका सम्मान करते हैं। उनके ऊपर तुर्क घुमन्तुओंका शासन था, जो अपने तम्बुओं, परिवार और पशुओंको लिये जहाँ-तहाँ अच्छी चरागाह देखकर पड़े रहते थे। हरेक बस्तीवासीको वह अपनेसे हीन तथा शासित प्रजा मानते उनके साथ उसी तरह का बर्ताव करते थे, इसलिये लोग उनसे डरते रहते थे। भिक्षुओंको प्रायः सभी सार्थ बड़ी खुशीसे अपने साथ ले लेते, और उनके खाने-पीनेका प्रबन्ध भी करते हैं। एक तो वह स्वयं बुद्ध-भक्त होनेके कारण भी ऐसा सम्मान प्रदर्शित करना चाहते हैं, दूसरे वह समझते हैं, कि अगर कोई दैवी संकट आन उपस्थित हुआ, तो भिक्षुओंकी पूजा-पाठ और उनके आशीर्वादसे हमारा कल्याण होगा। साथ ही वह यह भी जानते थे, कि घुमन्तू भी भिक्षुओंका सम्मान करते हैं, इसलिये उनकी सिफारिश हमारे बड़े कामकी हो सकती है। तुर्क बेग हमें रास्तेमें कई जगह मिले। उनमेंसे कुछ निरे बर्बर घुमन्तू नहीं थे। उनके शरीरपर चीनांशुक (रेशम) के चोगे थे। तम्बूकी सजावटमें भी ऐसी चीजोंका व्यवहार था, जो कि कांस्यदेशके सामन्तोंमें ही देखी जाती। हमारा रास्ता पूर्वकी तरफ

था। पहाड़ हमारे दायें था और मीना (तरिम) नदी बह रही थी, जो कभी-कभी हमारे पास आ जाती, और कभी-कभी कोसों दूर हो जाती। पहाड़से भी कितनी ही छोटी छोटी नदियाँ निकल कर दक्षिणकी ओर बहती सीतामें मिलने जातीं। मरुभूमि हमसे बहुत दूर महानदीके पार थी, इसलिये रास्तेकी कोई कठिनाई नहीं थी। जगह-जगह गाँव थे। यहाँ गेहूँ और बाजरेके अतिरिक्त दूसरे अन्न भी पैदा होते हैं। अंगूर और दूसरे फल यहाँ भी उसी तरह होते हैं, जैसे कांस्यदेशके दूसरे स्थानोंमें। हम जितना ही आगे बढ़ते जा रहे थे, उतना ही लोगोंको पोशाक सूती न होकर ऊनी होती जा रही थी। गरीब लोग बहुत मोटे-झोटे पट्टूका कपड़ा पहनते थे और धनी लोग बारीक कोमल, पर ऊनी ही। यहाँके लोग भारतकी तरह अपने बालोंको लम्बा नहीं रखते। दाढ़ी रखनेका भी शौक बहुत कमको है। घुमन्तुओं और बस्तीवासियोंका अन्तर उनके चेहरेसे भी साफ दिखाई देता है। बस्तीवासी रंग-रूपमें प्रायः वैसे ही होते जैसे कूची और कुस्तनके लोग।

पहली बड़ी बस्ती हमें अग्नि (अग्निनी, कराशार) की मिली। कूचीकी तरह यह एक अच्छा नगर है। इसका अपना राजा था, जो तुर्कोंके अधीन था। राजधानीके दक्षिण-पूर्व प्रायः ६ कोस दूर एक बहुत भारी सागर जैसा सरोवर है, जिसे चार पहाड़ोंके बीच बाँध डाल कर बनाया गया है। इसमेंसे बहुत सी नहरें निकली गई हैं, जिनमेंसे कितनी ही नगरके भीतरसे जाती हैं। अग्नि राज्यमें दसेक बिहार हैं, जिनमें दो हजारसे अधिक भिक्षु रहते हैं। सर्वास्तिवादकी ही यहाँ प्रधानता है। विनयके नियमोंको यहाँके भिक्षु उसी तरह पालन करते हैं जैसे भारतमें। विचारोंमें महायानका भी प्रभाव पाया जाता है, लेकिन यहाँके भिक्षु मांसभोजनसे परहेज नहीं करते। दस दिनकी यात्रामें हमें कोई कठिनाई नहीं मालूम हुई, जान पड़ा जैसे कुस्तन या कूचीके राज्यमें घूम रहे हैं। हम अग्निपुरीके अरण्य बिहारमें ठहरे। यहाँके भिक्षुओंको मेरे बारेमें पहले ही पता लग चुका था। भिक्षु एक देशसे दूसरे देशमें अध्ययन या परिदर्शनके लिये जाते ही रहते हैं। आते ही जिस:

प्रकारका स्वागत-सत्कार प्राप्त हुआ, उससे मालूम हो गया, कि यहाँसे भी निकलनेमें हमें कठिनाई उठानी पड़ेगी। हमने पहले हीसे निश्चय कर लिया, कि बहुत स्नेह न पैदा होने देंगे, और न कोई ऐसे काम हाथमें लेंगे, जिसके कारण और ठहरना पड़े।

अगला नगर दस दिनके रास्तेपर था। ग्राम बहुत थे, मरुभूमि की कठिनाई नहीं थी। हम शायद ही एक योजनसे अधिक चलते। अग्निमें जल्दी करते-करते भी हम दस दिन ठहर गये थे। वहाँसे जानेवाली नदी सीतामें नहीं गिरती थी। सीताको वस्तुतः हम कूचीसे ही इतना दूर छोड़ आये थे, कि उसे फिर कभी नहीं देख सके। यह नदी दक्षिणमें एक बहुत बड़े सरोवर या क्षारसमुद्र (बगरचकुल) में गिरती है। उसके किनारे भी एक बड़ा सुन्दर विहार था। जब सुना कि थोड़ीही दूरपर यहाँ एक महासमुद्र है, तो कौतूहलवश हम भी उसे देखनेके लिये चले गये। हम सिंहलकी यात्रामें महासमुद्रको देख चुके थे। यह समुद्र उतना बड़ा नहीं था। जहाँ भी विशाल जलाशय हो हवा चलनेपर वहाँ ऊँची लहरें उठती ही हैं, और आदमी किनारे-पर खड़ा होकर दूसरे पारको नहीं देख सकता। यदि चारों ओरकी परिक्रमा न करे, तो वह यही कहेगा, कि यह अनन्त समुद्र है। साढ़े तीन हाथके आदमीका अस्तित्व ही कितना बड़ा है, उसके लिये तो छोटी सी पुष्करिणी भी डुबानेके लिये पर्याप्त है।

अग्निसे फिर हम आगे बढ़े। आगेका रास्ता निरापद था। अधिकतर हम पूर्व या उत्तर-पूर्वकी ओर चले। रास्तेमें पहाड़ भी पार करना पड़ा और हरी-भरी भूमि भी। अब हम उस नगरकी ओर जा रहे थे, जिसे चीन के लोग काउ-शांग (तुर्फान) कराखीजा कहते है। बस्तियोंमें यद्यपि हमें उसी तरहके चेहरे और रीति-रवाज देखनेको मिलते थे, जिन्हें हम कांस्यदेशकी और जगहोंमें देखते आये थे, लेकिन खुली चरागाहोंमें अब घुमन्तू त्योर्क अधिक मिलते थे। सैकड़ों वर्षोंसे उत्तरी घुमन्तुओंके घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेके कारण यदि कुछ नागरिकों और ग्रामीणोंके चेहरोंपर भी उनके मुख-मुद्राकी छाप मिले, तो कोई

आश्चर्यकी बात नहीं। काउ-शांग नगरी भी अग्निकी तरह की महावणिक्-पथके ऊपर बसी होनेके कारण समृद्धि है। यहाँके वणिक् और सार्थवाह बहुत धनी हैं। समृद्धिमें यह कूची जैसी है। जिस तरह कूचीसे दो बड़े-बड़े वणिक्-पथ उत्तर और पश्चिमको जाते हैं, वैसेही यहाँसे भी एक वणिक्-पथ उत्तरके पहाड़ोंमें होकर उत्तर चला गया है और दूसरा पश्चिममें अग्नि और कूचीकी ओर। धनी व्यापारियों और सामन्तोंके मकान बड़े सुन्दर और सजे हुये थे। घरोंके साथ मेवोंके बाग जरूर होते थे। शहरसे बाहर दूर तक बाग ही बाग दिखलाई पड़ते थे। लकड़ीकी यहाँ कमी है, और मकानोंकी लकड़ीके लिये दो-तीन जातियोंके वृक्ष बड़े परिश्रमसे लगाये जाते हैं। उत्तरके पहाड़ोंमें देवदार और भुर्जके वृक्षोंके होने की बात बतलाई जाती है, मैंने उनका उपयोग विहारों और कुछ दूसरे घरोंमें देखा भी, लेकिन वह कई दिनोंके रास्तेपर हैं, जहाँसे लानेमें वह बहुत मँहगे पड़ जाते हैं, इसलिये धनी लोग ही उनको इस्तेमाल कर सकते हैं। नगरके बाहर भी कई विहार हैं। जिस विहार में हम ठहरे, वह अरण्य विहार (अग्नि) से सम्बन्ध रखता था।

हम देख रहे और सुन भी रहे थे, कि शायद अब हम दिन-पर-दिन उन लोगोंकी भूमिसे दूर होते जा रहे हैं, जिनके जीवनसे हम अधिक परिचित थे और जिनके साथ अधिक आत्मीयता अनुभव करते थे। हर कदम आगे बढ़ाते हुये हम हर तरहकी जानकारी प्राप्त करनेकी कोशिश करते थे। मालूम हुआ, कि एक महीनेमें हम चीनकी सीमामें पहुँच सकते हैं, और चीनकी महादीवार यहाँसे डेढ़ महीनोंसे अधिक दूर नहीं है। लेकिन, यह तो तब हो सकता था, जब हम अबाध गतिसे आगे बढ़नेके लिये स्वतन्त्र होते। सारी आशंकाओं के रहते भी अब तक जिस तरह हम आगे बढ़ते चले आये थे, उससे हमें यही विश्वास होता था, कि किसी न किसी तरह हम आगे बढ़ते जायेंगे।

नगर में पाँच-सात दिन रहने के बाद हमने फिर अपनी यात्रा शुरू की। दक्षिण की तरफ मरुभूमि था, जिसमें जलका अभाव, बस्तियोंका अभाव है, इसीलिये लोग उधरसे न जाकर उत्तरी पहाड़के साथ-साथ और कभी-कभी

पहाड़ के भीतर से भी चलते हैं। यहाँ हर जगह ठहरनेके लिये स्थान थे। कहीं-कहीं गाँव भी मिल जाते और पानीका सुभीताभी था। हम इसीरास्तेचलते रहे।

पहाड़ोंमें घुमन्तू अधिक दीख पड़े। इनके विचित्र चेहरे को देखकर जैसे पहले एक तरहका दुर्भाव पैदा होता था, वह अब हमारे हृदयसे हटने लगा। संघिल पहले हीसे कहा करते थे, कि आदमीका स्वभाव बहुत बातोंमें एक सा ही होता है। मेरी लम्बी यात्राके तजर्बेने भी यह बतला दिया था, कि मनुष्य प्रकृति से उदार और कोमल हृदयका है, लेकिन उसके जीवन की परिस्थितियाँ बाज-वक्त उसे कठोर बननेके लिये मजबूर करती हैं। जहाँ जीविका का एक आवश्यक साधन लूट हो, वहाँ लुटेरेकी क्रूरता तो आदमीमें आ ही जायगी। जहाँ भोजन बहुत कुछ माँस पर निर्भर हो, वहाँ माँस-प्राप्तिके लिये कठोर उपायोंको अपनाने की जरूरत पड़ेगी ही। घुमन्तुओंसे परिचय बढ़ने पर कितनी ही बार उनके बेगोंने अपने यहाँ बुलाकर हमें भोजन कराया, हमसे कितनी ही बातें पूछीं, उनकी स्त्रियोंने पूजा-पाठ करवाया। सामन्तों के घरोंमें बस्तीके रहनेवाली कूची जैसी सुन्दरियाँ कितनी ही बार देखनेमें आतीं। जान पड़ता है यह लोग भी 'स्त्रीरत्नको हीन कुलसे भी ले लेना चाहिये' की बातको मानते हैं। ये स्त्रियाँ अपने पतियोंपर प्रभाव डालतीं, उनके कारण उनके पतियोंका हृदय अधिक उदार और नर्म हो जाता और वह अपनी जातिके देवताओंके अतिरिक्त बुद्ध और बोधिसत्वोंको भी अपनानेके लिये तैयार होजाते। घुमन्तू अपना सबसे बड़ा देवता नील आकाश (कोक) को मानते हैं। उसके बाद किसी भी पहाड़ी या दूसरी जगहमें कोई विचित्रता देखकर वहाँ देवताकी पूजा करने लगते हैं। इनके अपने पुजारी होते हैं, जिनके ऊपर देवता आकर बात करते हैं। हर बातमें वह इन पुरोहितों (शमनों) से सलाह लेते हैं। हमें किसी देवतासे बैर नहीं था। तथागतकी शिक्षा ने बतला दिया था, कि आदमी अपने संस्कार और ज्ञानके अनुसार देवताओंको अपनाता है, देवताका ख्याल छोड़ानेकी कोशिश करना बेकार है। इन्द्र, कुबेर, विरूढ़क, विरूपाक्ष आदि कितने ही देवता जम्बू-द्वीपमें माने जाते हैं, जिनको प्रत्याख्यान

वहाँके भिक्षु नहीं करते, और न तथागतने ही वैसा करने के लिये कहा। हम तो यही चाहते हैं, कि सभी सुखी होवें, सभी निरोग रहें, देवता भी अपनी-अपनी क्रूरता छोड़कर दूसरों का कल्याण करें। कई देशोंमें घूमते-घूमते पहलेके अपरिचित बहुतसे देवताओंके नाम और उनकी कितनी ही मूर्तियाँ मैंने देखी थीं। उन देवताओंमें इन घुमन्तुओंके देवताओंको शामिल कर लेनेमें क्या आपत्ति थी? हाँ, हमारी यह कोशिश जरूर होती थी, कि ये देवता अपनी क्रूरता छोड़कर कोमल प्रकृति के हो जायें, खून और पशु-बलिकी जगहपर साधारण पूजासे तृप्त रहें। संधिलको पूजा-पाठसे बहुत ज्यादा स्नेह था। वह स्वयं भी प्रतिदिन कुछ घड़ी सूत्रोंके पाठमें लगाते थे। घुमन्तू-सामन्त जब हमसे पूजा पाठके करनेके लिये कहते, या किसी प्रेत-भूतकी शान्ति करवाना चाहते, तो मैं उन्हें उसके लिये भेज देता। मैंने संधिलको शिष्यके तौरपर नहीं, बल्कि भाईके तौरपर माना, लेकिन नये मिलनेवाले जब उनके मुँहसे सुनते, जो वह मुझे संधिलका गुरु मानने लगते।

पहाड़ों और मैदानोंको पार कर हम रेगिस्तानमें घुसे, और एक दिन दो रेगिस्तानोंके बीचमें पड़नेवाले एक हरे-भरे महानगर (हामी) में पहुँच गये। पहाड़में भी हम जब-तब लड़ाईकी बातें सुनते थे, और ऐसा मालूम होता था, कि कुछ जगहोंपर तो हम बाल-बाल बचते आगे बढ़े थे। इस नगरमें पहुँचकर हम वहाँके एक संघाराममें ठहरे। मालूम हुआ, अब आगे बढ़नेमें कोई बाधा नहीं है। यहाँ घुमन्तुओंको हम अधिक संख्यामें देखते थे, और उनमेंसे कुछ नगरमें भी बस गये थे। जिस विहारमें हम ठहरे, वह एक अवार राजाने बनवाया था। यहीं पहलेपहल हमने अवार भिक्षु देखे। दूसरोंकी अपेक्षा वह हमारे लिये ज्यादा कामकी बातें बतला सकते थे। मुझे जब मालूम, हुआ कि एक तुर्क श्रामणेरभी यहांपर है, तो मैंने उससे परिचय बढ़ाना चाहा। वह कोई १७-१८ वर्षका तरुण था। उसकी मुख-मुद्रा घुमन्तुओं जैसी कम थी। उसका मुँह भी अधिक लाल या गुलाबी था। मुझसे परिचय प्राप्त करनेकी उसकी स्वयं बड़ी इच्छा थी, जब उसने सुना, कि मैं जम्बू-द्वीपका निवासी हूँ। माँकी तरफसे

वह वस्तुतः कुस्तनी था, यही कारण था, कि वह संघाराममें आकर श्रामणेर बना था, नहीं तो अभी घुमन्तुओं में केवल अवारोंमें भिक्षु दिखाई पड़ते थे। तुर्क तरुण मेरे वहाँ रहते रहते भिक्षु बना और मैंने उसका नाम शान्तिल रक्खा। बुद्धिलके कारण इल शब्दसे मेरा बहुत प्रेम हो गया था। संघिल अकस्मात् इस नामके मिले, लेकिन शान्तिल मैंने स्वयं चुन कर इस तरुणका नाम रक्खा। मैं उसका उपाध्याय बना और संघिल आचार्य।

नगर (हामी) की कुछ अपनी विशेषतायें थीं। लोग उसी जातिके थे, जिसके कि कूचीवाले। इनका जीवन भी घुमन्तुओं जैसा नहीं था, यद्यपि पशु-पालन अब भी इनके यहाँ अधिक होता था। यहाँसे उत्तर स्थायी बस्तीवाले लोगोंका पता नहीं है, अर्थात् न वहाँ ग्राम है न नगर, न खेती-बारी। लोग नम्देके तम्बुओंमें रहते ऊँट, घोड़े, गाय, चंवरी और भेड़-बकरियाँ ही उनके धन हैं। घोड़सवार तो ये गजबके हैं। बिना लगाम और काठीके छोटे-छोटे बच्चे पीठपर छिपकलीकी तरह चिपके बेतहाशा दौड़ाते हैं। इससे भी बढ़ कर आश्चर्यकी बात यह है, कि यह लोग घोड़े दौड़ाते धनुष चला सकते हैं, और मजाल नहीं कि निशाना चूक जाये। पशुपालनके अतिरिक्त शिकारसे भी ये अपने लिये कुछ खाद्य-संचय कर लेते हैं। अन्नका उपयोग भोजनके तौरपर ये बहुत कम करते हैं। दूध पीते हैं। घोड़ीके दूधकी एक तरहकी मदिरा बनाते हैं। और तो और इनका घोड़ा जहाँ सवारीका काम देता है, वहाँ सवार अपनी भूख-प्यासकी निवृत्ति भी घोड़ेकी रगमें छेद करके उसका खून पीकर कर लेता है। यदि किसी जातिको अजेय कहा जा सकता है, तो हूणोंके वंशज इन्हीं घुमन्तुओंको ही। चीनकी सेना असंख्य और अपार है। वह बड़ा ही सबल राज्य है। लेकिन, वह भी इन घुमन्तुओंसे पनाह माँगता है। हारना इनके लिये कोई बात नहीं। बड़ी सेना देखनेपर ये डट कर लड़ते नहीं, बल्कि युद्ध देनेसे बच निकलते हैं। इनके गाँव नहीं, नगर नहीं, खेत नहीं कि विजेता उनकी सम्पत्तिका सर्वनाश करेंगे। उनके घर चलते-फिरते तम्बू हैं। एक घड़ी भी नहीं लगती, कि परिवारका घर-द्वार सारा सामान ऊँटकी पीठपर लद जाता

है। फिर ये लोग बड़ी तेजीसे दूर उत्तरकी ओर भाग निकलते हैं। चीनकी सेनाको पूरी रसदकी ही तैयारी नहीं करनी पड़ती, बल्कि पानी और ईंधन तकको ढोके ले जाना पड़ता है। रातके वक्त ये निश्चिन्त हो आराम नहीं लेने देते। मौका पाते ही छापा मारते हैं। घुमन्तू बिना भारी नुकसान उठाये महीनोंके रास्ते भागते चले जा सकते हैं; लेकिन, चीनकी सेना वहीं तक पहुँच सकती है, जहाँ तक वह अपने लिये पूरी रसदका इन्तिजाम कर सकती है। एक महीने के रास्तेसे और आगे बढ़कर घुमन्तुओंको खदेड़ना सारी सेनाको मौतके मुँहमें डालना है। इसीलिये अनेक बार पराजय करके स्वयं विनाशके मुखमें पड़ कर चीनके लोगोंने देखा कि घुमन्तुओंसे लड़नेकी जगह मेल रखना ही अच्छा है। अवारों और तुर्कोंके साथ जैसा खूनी संग्राम हुआ था, उससे चीन बहुत लाभ नहीं उठा सका, इसलिये गृह-युद्धमें उसने बहुत ज्यादा दखल नहीं दिया। वह इसी बातके लिये खैरियत मनाते रहे, कि जब तक ये मूजी आपसमें खून-खराबी करते रहेंगे, तब तक हमारा सीमान्त सुरक्षित रहेगा।

इस नगरको वस्तुतः राज्योंका सीमान्त नहीं, बल्कि दुनियाका सीमान्त कहा जा सकता है। नगरवासी भी अपने कूची आदि भाइयोंसे भेद रखते थे। ये कृषि, बागवानी ही नहीं, बल्कि छोटा-मोटा व्यापार भी करते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी यहाँ भी सोग्द, पारस्य अथवा कुस्तन, खर्शागिरि आदिके रहनेवाले हैं। उनकी अपेक्षा ये अधिक पिछड़े हैं, यह स्वाभाविक है; लेकिन, इनकी ईमानदारी और सरलता बड़ी मोहक है। अतिथिके लिये तो उदार ही नहीं, बल्कि प्रीति करते हैं। उसके खान-पान और सेवामें ही गृहपति नहीं लगा रहता, बल्कि अपनी पत्नी या लड़कीको भी सेवामें भेजना अपना कर्तव्य समझता है। इसके लिये लोग उनकी निन्दा करते हैं, क्योंकि वह उनके भावों-को नहीं समझ पाते। वस्तुतः शिष्टाचारकी तुलना सभी बातोंमें सभी देशोंमें एक-सा नहीं होती। वह अतिथि-सेवाको अत्यन्त पुनीत कर्म समझते हैं। उनकी यह भावना भी उसीका अंग है। इस तरहकी विचित्र अतिथि-सेवासे गृहस्थ ही नहीं, बल्कि मुझे अफसोस होता था, भिक्षु भी लाभ उठाते हैं।

यदि बाहरके लोगोंका संसर्ग न होता, तो उन्हें बुरा कहनेवाला कोई न होता। यहाँके अधिक लोग बुद्ध-धर्मको मानते हैं। कुछ-कुछ मसीही और पारसीक (मानी) धर्मके भी माननेवाले भी हैं, लेकिन कांस्यदेशकी तरह यहाँ उनमें कोई आपसी वैमनस्य नहीं है। हम उनके मठोंमें जाते, और वह दिल खोल कर हमारी आव-भगत करते।

इस नगरसे हमारा रास्ता दक्षिण-चीनकी सीमाकी ओर जा रहा था। वहाँ अब भी लड़ाई-झगड़ेका डर था और सार्थवाले डरते-डरते कदम आगे बढ़ाते थे। सारी गर्मी और बरसात वहाँ रहने के लिये हम जो तैयार हो गये, उसमें रास्तेकी भीषणता ही कारण नहीं थी, बल्कि मित्रों और विशेषकर शान्तिल और उसके परिवारका आग्रह भी इसमें कारण था। वर्षा, मैं—केवल तीन महीनेके विषयानुसारी वर्षावासके कारण कह रहा हूं, नहीं तो इस भूमिमें वर्षा बड़ी दुर्लभ चीज है—पानी बरसनेकी जगह जाड़ोंमें यहाँ हिम अधिक बरस जाती है। खतरा था, लेकिन सार्थका मिलना मुश्किल नहीं था। वह जाड़ोंमें चलना ज्यादा पसन्द करते हैं, क्योंकि उस वक्त आँधियाँ कम आती हैं और मरुभूमिमें रास्ता भूल जाने अथवा बालूके नीचे दब जाने का डर कम रहता है। मैंने स्वयं नहीं देखा, लेकिन सुना कि हिमवृष्टिकी तरह यहाँ कभी-कभी आसमानसे बालुकावृष्टि हुआ करती है, जिसके नीचे गाँव और नगर तक दब जाते हैं। यह कोई असम्भव बात नहीं है। मैंने अपनी आँखों बालू के बड़े-बड़े टीलोंको देखा। इन टीलोंकी शकल घोड़ेकी खुर जैसी होती, अर्थात् एक तरफ स्तूपकी पूरी आकृति न हो, वह खाली रहते हैं। हमारे मित्रों और परिचितोंने यह सलाह दी, कि जाड़ोंमें यात्रा करना अच्छा रहेगा। शान्तिल भी मेरे साथ चलनेवाला था। उसके माता-पिता इसे पसन्द करते थे, क्योंकि वह समझते थे, कि भारतीय पंडित भिक्षुके साथ रह कर वह भी पंडित हो जायेगा। मेरे जैसे विद्वान् वहाँ दुर्लभ थे, इसलिये वह शान्तिलके लिये इसे सौभाग्यकी बात मानते थे। शान्तिलकी माँ बड़ी ही भक्तिपरायणा स्त्री थी। वह असाधारण सुन्दरी थी, तभी तो एक वेगने उसे

अपनी पत्नी ही नहीं बनाया था, बल्कि वह बेग और उसके अनुयायियोंपर शासन करती थी। वह अपने पुत्रके मेरे साथ जानेमें सहमत थी, लेकिन एक बार चले जाने पर फिर कभी अपने पुत्रका मुँह देख सकेगी, इसकी सम्भावना कम थी, इसलिये और भी कुछ समय रहनेका उसका आग्रह था। मैं चीन जानेके लिये उतावला था। मेरी दृष्टि केवल दक्षिण-पूर्वके जानेवाले रास्तेपर थी। तो भी कौतूहलवश मैंने तुर्कों की भाषा सीखनी चाही। अवारोंकी भाषासे इसमें बहुत अन्तर नहीं था। उनके शासनके अधीन होनेके कारण इस सीमान्त नगरमें अवार भाषा जाननेवालोंकी कमी नहीं थी। लेकिन, उनका स्थान तुर्कों ने ले लिया था, इसलिये तुर्की भाषाकी महिमा अब बढ़ गई थी। मैंने भी राजभाषा सीखनेकी कोशिश की। शान्तिलके कारण उसमें बड़ी आसानी भी थी। इसी समय मुझे मालूम हुआ, कि शान्तिल का पिता यद्यपि अब तुर्क बेग समझा जाता है, किन्तु वस्तुतः उसका सम्बन्ध एक अवार राजपरिवार से है। तम्बू लिये एक जगहसे दूसरी जगह फिरनेवाले घुमन्तू ठहरे, शायद इसीलिये उसे अवारसे तुर्क बनने में सुविधा हुई, अथवा नये शासकों से उसके सम्बन्धने ऐसा करनेका अवसर दिया।

जाड़ा शुरू हुआ। जल्दी करते-करते एक महीना और बीत गया। शान्तिल के पिताने स्वयं चीनके सीमान्त तक साथ चलनेके लिये जब कहा, तो थोड़ा और ठहर जाना हमें बुरा नहीं लगा। घुमन्तू जन-साधारण (एल-बुदुन) या बेग कृषि से घृणा करते, पशुपालन के साथ व्यापार का भी काम करते हैं। कदमें नाटे, किन्तु शक्तिशाली इनके घोड़ों की चीन में बड़ी माँग है, ऊँटों की भी कुछ बिक्री हो जाती है, और भेड़ें तो भारी संख्यामें ये सीमान्त पर बेंचने के लिये जाती हैं। शान्तिल के पिताके जाने का मतलब था, उसके अधीन सैकड़ों तम्बुओं (परिवारों) का साथ जाना और उसीके अनुसार विक्रय के लिये पशुओं का भी। बेगके पास अपने स्वजातीय अनुयायियोंके अतिरिक्त कितने ही दास-दासियाँ भी होती हैं, जो या तो दुश्मनों के कबीलोंसे छीन कर लाये गये अथवा कांस्यदेशके लोगोंमेंसे होते हैं। शुभ मुहूर्त में

मंगलाचार करके बेगने एक दिन हमें लिये प्रस्थान किया। शान्तिल की माँके जोर देने ही पर यात्राका मुहूर्त घोड़ेकी बलि देकर नहीं किया गया। अभी तक घुमन्तुओंके साथ यात्रा करनेका मुझे अवसर नहीं मिला था, वही बात संघिल की भी थी। सार्थ कुछ रात रहते ही कूच करता। चाँदनी रातें थीं, इसलिये लोग जल्दी-जल्दी चलना पसन्द करते थे। पहर भर दिन तक हम आगेके पड़ावपर पहुँच जाते। पड़ाव क्या कोई निश्चित स्थान होता? जहाँ भी घास-चारे और पानी का सुभीता देखते, वहीं तम्बुओं का ग्राम बस जाता, जानवर आसपास चरनेके लिये छोड़ दिये जाते। एक ही जगह डेरा लगानेपर घास-चारेकी कठिनाई होती। रेगिस्तानमें पानी किसी-किसी जगह ही सुलभ था, वहीं डेरा पड़ता। तम्बूवाले ऊँट सबसे पहले चलते और सबसे पहले मुकाम पर पहुँचते। उनको बैठाकर सामान नीचे उतार दिया जाता। लकड़ीका पंजर खड़ा कर दिया जाता। सचमुच ही देखनेमें वह सुन्दर पिंजड़े जैसा मालूम होता, उसी तरह तीलियाँ एक दूसरेके ऊपर होती जाली बुनतीं। फर्क इतना ही था, कि यह पिंजड़ेसे कई गुना बड़ा और भारी था, जिसके भीतर बारह-चौदह आदमी सो सकते थे। बेग तम्बू तो और भी बड़ा था। पिंजड़ेका ढाँचा ढोनेके सुभीतेके लिये कई हिस्सोंमें बँटा होता, जिन्हें जोड़कर खड़ा कर देनेमें उन लोगोंकी फुरती देखकर मुझे आश्चर्य होता। ढाँचा खड़ा करते ही सुई का काम किये हुये सुन्दर स्वच्छ सफेद नम्दे चिपका कर उन्हें डोरियोंसे ऐसे बाँधा जाता, कि वह देखनेमें साधारण बाँधना नहीं, बल्कि कलाकी निपुणता प्रदर्शित करता। घुमन्तुओंमें सौन्दर्य और कलाका प्रेम बहुत है। और बातोंमें इतने पिछड़े होनेपर भी ये कैसे सौन्दर्यके इतने चतुर पारखी ही नहीं, बल्कि कुशल निर्माणकर्त्ता हैं? रंगोंका मिश्रण करके कैसे सौन्दर्यकी सृष्टि होती है, इसे फूलों और हरियालीसे वंचित इन लोगोंने कहाँसे सीखा? एक तम्बू खड़ा कर देनेके बाद भीतर रक्खे जानेवाला सामान यथास्थान रख दिया जाता।

सामान, विशेषकर डेरेको ले जाने वाले पशु और मनुष्य, पहले प्रस्थान करते, यह मैं बतला आया हूँ। बेग और उसके दूसरे घोड़सवार अनुचर सबसे

पीछे रवाना होते । एक बात उनकी मुझे बहुत पसन्द आई । हाथ से काम करने में इनके बेग भी अपने अनुचरों और नौकरोंसे पीछे नहीं रहते । बही क्यों स्वयं कआन (राजा) या यबगू भी तम्बुओंको खड़ा करनेमें सहारा दिये बिना नहीं रहते और अपने घोड़ोंकी देखभालको स्वयं करना अपनी प्रतिष्ठाके खिलाफ नहीं समझते । यहाँके भिक्षु यद्यपि विनय-नियमोंके पालन करने का ध्यान रखते हैं, लेकिन परिस्थिति शिथिलता के लिये मजबूर करती है । अवारों और अब तुर्कोंके सामन्तोंने भी भिक्षुओंकी आवभगत करनी शुरू की है । उनके साथ रहनेवाले भिक्षु नियमोंके पालनमें यदि अधिक शिथिलता दिखलायें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । प्रस्थान करनेके दिन मुझे और संघिलको भी घोड़ेपर सवार होकर चलनेके लिये बहुत आग्रह किया गया, लेकिन भिक्षु स्वस्थ रहनेपर केवल नावकी सवारी ही कर सकते हैं, अस्वस्थ रहनेपर आदमी उन्हें उठा कर ले जा सकते हैं । मैं उस नियमको छोड़नेके लिये तैयार नहीं था । मेरे आग्रहको उन्होंने मान लिया । शान्तिल भी अपने उपाध्याय और आचार्यको पैदल चलते देखकर स्वयं घोड़ेपर सवार होकर कैसे चल सकता था ? हम तीनोंके लिये एक अलग तम्बू और दो ही परिचारक थे। हम पैदल चलने वाले थे, इसलिये अपने तम्बूवाले ऊँटोंके साथ ही रवाना होकर सबसे पहले नई जगहपर पहुँच जाते । वहाँ हमें यह देखनेका अच्छा मौका मिलता था, कि कैसे कुछ ही समयमें निर्जन स्थानमें एक अच्छा खासा गाँव बस जाता है । स्त्रियाँ और लड़के भी चींटियोंकी तरह अपने-अपने काममें लग जाते । दूध देनेवाले जानवरोंको चरनेके लिये छोड़नेसे पहले दुह लिया जाता ।

ऊँटका दूध मुझे पहले पसन्द नहीं आता था । उसकी गन्ध बकरीके दूधकी तरह ही मुझे अप्रिय मालूम होती थी, लेकिन अभ्याससे आदमीकी रुचि-अरुचि में भी परिवर्तन हो जाता है । घड़े-घड़े भर दूध देनेवाली ऊँटनियाँ मुझे मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी दीख पड़ने लगीं, और धीरे-धीरे मैं उनके दूधको अच्छी तरह पी सकता था । डेरेपर पहुँचते ही मुझे ऊँटके थनसे निकला गर्मागरम दूध

मलता। विकाल (दोपहरके बाद) भोजन मैं नहीं कर सकता था, उसे ठीक मध्यान्हमें करना चाहता था, ताकि अगले दिन पहर भर दिन चढ़े तक मेरे शरीरमें चलने-फिरनेके लिये शक्ति बनी रहे। वैसे सूर्योदयके बाद भी सूखा मांस सुलभ था और मेरे परिचारक उसके लिये आग्रह भी करते थे, किन्तु मैं नये ठिकानपर पहुँचे बिना कुछ नहीं खाता था। संविल और शान्तिल भी इस बातमें मेरा अनुकरण करते थे। यह बतला दूँ, कि मांसका त्याग मैंने चीनमें आकर ही किया। विनयके कठोर पालन करनेवालोंको भी मैंने भारत, सिंहल द्वीप और कांव्यदेशमें मांस खाते देखा। वहाँ और पुस्तकोंके पढ़नेपर मुझे यह भी विश्वास हो गया, कि तथागतने भिक्षुओंके जिस मांसको सर्वथा वर्जित नहीं किया है। इसलिये मैं महायानके पथपर आरूढ़ होनेके बाद भी उस समय मांस-विरत नहीं था। ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया, नहीं तो घुमन्तुओंकी भूमिमें जाकर जीवित रहना मेरे लिये सम्भव नहीं होता। हमारे बेगके पास वैसे अन्न और सूखे फल भी रहते, लेकिन उसका प्रधान भोजन सूखा या ताजा मांस ही होता। उसके अनुचरोंको मैंने कच्चे मांसको भी खाते देखा, लेकिन वह उसे अधिकतर उबालकर या भूनकर खाना पसन्द करते। लकड़ी या ईंधन का जहाँ सुभीता होता, वहाँ जमीनमें गड्ढा खोदकर आग जला पहले उसे संतप्त कर लेते, फिर पूरी भेड़को मार कर उसमें रख कर ऊपरसे बालू डाल आग जला देते। इस तरहके भुने हुये मांसको वह बहुत पसन्द करते। लेकिन बेग ही ऐसे परम स्वादिष्ट भोजनके पानेका अधिकारी था। उनका अतिथि होनेसे मुझे भी वह मिलता था। मध्यान्ह-भोजनके समय शान्तिलकी माता सारे खाद्य और पेयको अपनी दासियोंसे उठवाये हमारे तम्बूमें पहुँचतीं। कोमल नम्देके ऊपर घुमन्तुओंके देशका अत्यन्त कोमल मृगचर्म (समूर) बिछा रहता, जिसपर हम तीनों भिक्षु बैठ जाते। उपासिका हमारे भिक्षा-पात्रोंमें अपने हाथसे भोजन-को प्रदान करके हाथ जोड़तीं। हम "सुखी हो" कह आशीर्वाद देते। भोजन करके हाथ धो लेनेपर हम पुण्यका अनुमोदन करते उपासिकाको धर्मो-पदेश देते। उसके घरमें भी हमने कितनी ही बार उपदेश दिया था, सूत्रपाठ

भी किये थे। कूचीकी भाषासे परिचित होनेके कारण हम उसमें उपदेश कर सकते थे, इसलिए भी बेग हर रोज वहाँ उपस्थित नहीं होता था। जिस दिन उपस्थित होता, उस दिन शान्तिलको दुभाषिया बन कर बातोंको तुर्कीमें सुनाना पड़ता।

सप्ताह बीत गया। हमारी यात्रा निश्चिन्त और सुखपूर्वक होती रही। घुमन्तुओंके लिये यात्रा भी ग्रामवास जैसी ही है, क्योंकि धरती और दूसरी प्रकृति की चीजोंको छोड़ कर उनके आसपास सभी अपने परिचित मनुष्य, पशु, घर और सामान रहते हैं। मुझे भी इस जीवनमें रस आने लगा। जिसको पर्यटनसे प्रेम है, उसको अवश्य ही इनका जीवन पसन्द आयेगा। पर्यटक नहीं ये महा-पर्यटक हैं, क्योंकि इन्होंने आजन्म पर्यटन करनेका व्रत ले रक्खा है। हम सोच रहे थे, एक सप्ताह और चलनेपर आगेके पहाड़ोंमें पहुँच जायेंगे। सूखे होने पर भी वहाँ घास-पानीकी दिक्कत नहीं है। फिर आरामसे १५-२० दिन चल कर हम महाचीनकी उस महादीवारके नीचे पहुँच जायेंगे, जिसकी कथाओंको बड़े आश्चर्यके साथ हमने सुना था। वहाँ जाकर हमारे बेगको अपने साथ लाये विक्रेय पशुओंको ही नहीं, रोम, पारस्य और भारत तकमें बने हुये पुण्यों को भी बेचना है। अभी जो यात्री चल रहे थे, वह सभी चीनकी ओर जा रहे थे। बेगके लोग चर्चा करते थे: न जाने हमारे पशुओंका मूल्य कैसा लगेगा। अपनी चीजोंको बेंचकर उन्हें चीनके महार्घ रेशम तथा दूसरी चीजों को खरीदना था। इनमेंसे कुछ वह अपने लिये इस्तेमाल करनेको रख लेते, बाकी चीजोंके वह वाहक मात्र थे। इन्हें बेचने के लिये बेग कभी-कभी कूची भी जाता, यदि रास्ते ही में वह अच्छे दामपर बिक न जातीं।

उस दिन सूर्योदयका समय था। हमें अभी अगले पड़ावपर जानेके लिये एक योजनसे अधिक चलना था। भूमि समतल थी। कहीं पहाड़ोंकी रुकावट नहीं थी, इसलिये चारों ओर दूर तक हम देख सकते थे। देखा, सैकड़ों घोड़-सवार हमारी तरफ बेतहाशा दौड़े आ रहे हैं। देखते ही हमारे साथ के लोग खड़े हो गये। अधिकतर इनमें पैदल चलनेवाले थे। १०-१५ ही उनमें घोड़-

सवार थे। मुझे तो देखनेमें मालूम हुआ तुर्क, घोड़सवार किसी जल्दीके कामपर जा रहे हैं, लेकिन मेरे साथी उतने निश्चिन्त नहीं थे, खासकर हमारे सवारोंका नायक इसमें खतरेका गन्ध देखने लगा। उसने तुरन्त जानवरोंको रोककर सजग होनेके लिये कह दिया। क्षण भर में सबके हाथोंमें धनुष थे, जिनपर बाण चढ़ गये। वह इस बातकी प्रतीक्षा कर रहे थे, कि और नजदीक आनेपर देख लें, आनेवाले मित्र हैं या शत्रु। मेरे पूछनेपर शान्तिलने कहा, ये भी तुर्क हैं, लेकिन कभी-कभी वह आपसमें भी लड़ मरते हैं। लूटनेका अवसर मिले, तो वह अपनोंको भी नहीं छोड़ते। वह यह तो जानते ही थे, कि साधारण सार्थ हो या बेगका उर्दू, उनके पास कीमती वस्तुयें होती हैं। शान्तिलने बतलाया, ज्यादासे ज्यादा उनका यही डर हो सकता है, कि यदि इसका पता कआनको लग तो वह भारी दण्ड देगा। इसके लिये वह कोशिश करते हैं, कि पता लगनो का कोई चिह्न ही न छोड़ें, और एक ओरसे सबका सफाया कर दें।

हमारे साथियोंकी आशंका सत्यसे भी बढ़ कर सिद्ध हुई। नजदीक आनेपर जब हमारे लोगोंने ठहर कर परिचय देनेकी माँग की, तो दूसरी ओरसे सनसनाते हुये बाण हमारी तरफ आने लगे। हमारे लोगोंने जानवरोंकी आड़ लेकर बाण छोड़ना शुरू किया। लेकिन, वह संख्यामें हमसे बहुत अधिक थे। कुछ देर तक मैंने दोनों तरफके बाणोंको चलते तथा शत्रुओंको नजदीक पहुँचते देखा। बाण कोई फूल नहीं होते, दोनों तरफ लोगोंको हताहत होते भी मैंने देखा। इसके बाद मुझे कोई खबर नहीं रही।

रात थी, जब मुझे होश आया। इस वक्त अन्धेरा था। आकाशमें असंख्य तारे सफेद फूलोंकी तरह खिले हुये थे। मेरे आसपास क्या हुआ है, इसे जाननेकी इच्छा होनेसे पहले मुझे सिर, पेट और बाँये हाथ में दर्द मालूम होने लगा। दाहिने हाथसे टटोलनेपर मालूम हुआ, कि मैं खूनसे लथपथ पड़ा हूँ। पीड़ा बड़ी दुस्सह थी। जीवन आदमीको सबसे ज्यादा प्रिय होता है, पर मैं केवल अपने जीवनकी पर्वाह नहीं कर सकता था। मुझे सबसे पहले अपने दोनों साथियोंकी चिन्ता हुई। पहले कान लगाकर सुनने लगा। कराहनेकी

आवाज आ रही थी। इसी समय किसीका हाथ मेरे शरीरपर पड़ा। मेरे शरीरको हिलते देख शान्तिलकी आवाज बहुत धीमे स्वरमें सुनाई दी। मैंने बतलाया—मैं जीवित हूँ, हाँ, दो-तीन जगह घाव हैं। पेटमें अब भी बाण फँसा हुआ था। कहनेपर शान्तिलने उसे बड़ी बेदर्दीसे खींच लिया। घाव और बढ़ गया, लेकिन जीवित रहनेके लिये वैसा करना आवश्यक था। मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि शान्तिल अक्षत-शरीर है। उसने संघिलके बारेमें बतलाया, कि वह अब भी पासमें ही बेहोश पड़े हैं। हम जानते थे, कि हमारे शत्रु हमको चारों ओरसे घेरे हुये हैं। ऐसी अवस्थामें सजग रहनेकी बहुत जरूरत थी। हम बहुत धीमी आवाज में थोड़ा-थोड़ा बोल रहे थे। मैंने शान्तिलको कहा—पहले संघिलको देखो।

शायद उसके बाद मैं फिर बेहोश हो गया। घाव भारी था, रक्तस्राव बहुत अधिक हुआ था, जिसके कारण मूर्छा आनी जरूरी थी। सबेरा हुआ। सूर्यका प्रकाश नहीं धूप चारों ओर फैल गई थी, जब मेरी आखें खुलीं। शान्तिल मेरे पास बैठा था। मेरे आँख खोलकर देखने पर भी उसके अत्यन्त उदास मुँहको देखकर मुझे भय हो गया। मैंने संघिलके बारेमें पूछा, तो उसने अपने ऊपर बहुत संयम करके कहा—वह अब हमारे साथ नहीं रहे। और तरफ नजर दौड़ाई। कितने ही हत और आहत लोगोंको वहाँ पड़े देखा। आक्रमणकारी वहाँकी हरेक चीजको सँभाल रहे थे। मुझे होशमें आया देखकर उनमेंसे दो हमारे पास आकर बैठ गये। यह जाननेमें हमें कठिनाई नहीं हुई, कि वह हमें अपनी हालतपर छोड़ना नहीं चाहते। शान्तिलसे वह पहले ही बहुत सी बातें पूछ चुके थे, और अब भी वह उसे शान्त नहीं रहने देना चाहते थे। मुझे होशमें आया देखकर उन्होंने अपने सरदारको खबर दी। उसने हमारे पास आकर यही कहा—हमें अफसोस है, कि तुम घायल हो गये। हमारे कआन और बेगकी कोई इच्छा नहीं थी, कि आपको कोई हानि पहुँचे। आपके साथ आनेवाला बेग असलमें तुर्क नहीं, अवार राजकुमार हैं। उसने अपनेको गुप्त रक्खा था, लेकिन हम अपने शत्रुओंको छोड़ नहीं सकते। पता लगते ही कआनका हुकुम हुआ, कि उसे

जिन्दा या मुर्दा पकड़ा जाये। अफसोस है, कि हम उसे जिन्दा नहीं पकड़ सके। उसका सारा सामान, उसकी बीबी और परिवार हमारे हाथमें आ गया है। हम तुम्हें इस हालतमें भी नहीं छोड़ सकते। हमारे कआन और यबगू भिक्षुओं को बहुत मानते हैं। वह तुमसे मिल कर बहुत खुश होंगे।

अध्याय १५

घुमंतुओंकी भूमि (५५५-५६ ई०)

हमारी यात्राकी दिशा ऐसी बदली, कि महीनों तक हमें मालूम नहीं होता था, हम किधर जा रहे हैं। दिनके सूर्य और रातके तारोंसे यह तो मालूम होता था, कि हम किस दिशामें जा रहे हैं, लेकिन वह दिशा हमेशा निश्चित नहीं रहती। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई, कि उन्हें यह नहीं मालूम हो सका है, कि शान्तिल अवार राजकुमारका पुत्र है। उसके चेहरेपर पिताकी अपेक्षा माँकी छाप अधिक थी, यह भी रहस्य ढाँकनेमें सहायक हुई। यदि पिताके दासों-अनुचरोंको साथ रक्खा गया होता, तो किसी समय भी भेद खुलनेका डर था। फिर कह नहीं सकता, कि शान्तिलके साथ वह कैसा बर्ताव करते।

मुझसे जिस सरदारने बातचीत की थी, कुछ देर बाद वह फिर आया। सामान और लोगोंको साथ लानेके लिये अपने अनुचरोंको हुकुम देकर उसने मुझे साथ चलनेके लिये कहा। उसका बर्ताव बहुत नम्र और शिष्टाचारपूर्ण था। वह कह रहा था—हम तुर्क अब तक अवारोंके दास थे, अब हमारा राज है। हमें मालूम है, कि अवारोंके राजकाज चलानेमें तुम लोगोंकी विद्या और बुद्धि बहुत सहायक होती रही है। हम यह भी जानते हैं, कि तुम लोग मार-पीट-को पसन्द नहीं करते, कभी हथियारसे अपने शत्रुका मुकाबिला नहीं करते। तुमसे हमारा क्या बैर हो सकता है? हम अपने यबगूके पास तुम्हें ले चलेंगे। वह बहुत खातिरसे रक्खेगा। यदि वहाँ रहना पसन्द न आये, तो जहाँ चाहोगे वहाँ पहुँचा देगा।

बेगकी बातोंसे अब अपने भविष्यका थोड़ा-थोड़ा आभास हमें मिलने लगा। घाव तो जरूर भारी था, विशेषकर बाईं कोखमें जो बाण लगा था, वह

बहुत भयंकर था। लेकिन, बेगके चिकित्सकने उसे दवाई भरके कपड़ेसे खूब बाँध दिया। दूसरे घाव उतने बड़े नहीं थे। उनमें भी दवाई लगा कर बाँध दिया गया। फिर मुझे एक घोड़ेपर बैठाया गया। शान्तिलको दूसरा घोड़ा मिला। दो दिन हम कुछ धीमी गतिसे चले, उसके बाद दौड़ सी मची। हम फिर उसी नगर (हामी) में आये, जहाँ से तीन सप्ताह पहले हमने प्रस्थान किया था। मुझे डर लग रहा था, कि वह यहाँ कुछ दिनोंके लिये ठहरें ना, नहीं तो शान्तिलका अनिष्ट हो सकता है। लेकिन, बेगको अपने यबगूके पास पहुँचनेकी जल्दी थी। नगर से बाहर केवल एक रात मुकाम करके वह अपने पाँच सवारोंके साथ हमें लिये रवाना हो गया।

अभी हमें यह नहीं मालूम हो सका था, कि संविलकी माँ का क्या हुआ? पतिको मार डालनेपर आक्रमणकारी उसे अपने लिये ले जा सकते थे। शायद उसकी उमरको देखकर उनके दिलमें बहुत प्रलोभन न हो, ऐसी स्थितिमें उसका क्या हुआ होगा, इसके जाननेकी जिज्ञासा हमारी पीछे पूरी हुई। यह जानकर हम दोनोंको सन्तोष हुआ, कि वह अपने मायके चली गई, जहाँ वह भिक्षुणी बनकर अपने अवशिष्ट जीवनको धर्मके कामोंमें बितायेगी। उसका स्वभाव इसके बिलकुल अनुकूल था। घरमें रहते भी उसका जीवन बहुत कुछ भिक्षुणियों जैसा था। माँके वियोगका शांतिलको उतना दुःख नहीं हो सकता था, लेकिन जिस परिस्थितिमें यह हुआ, वह बड़ी ही मर्मभेदी थी। हम जिस ओरसे आ रहे थे, उधर पानीका एक तरह अभाव सा था। इस नगर (हामी) से जिस पहाड़की ओर हम चले, उससे कितनी ही नदियाँ निकलती थीं, और हमारी आशाके विरुद्ध वह उतना वृक्ष-वनस्पतिहीन भी नहीं था। ऐसी जगहें खेतीके लिये भी उपयुक्त हो सकती हैं, और चरागाहके लिये भी। लेकिन, इस भूमिके स्वामियोंको चरागाहोंकी अधिक आवश्यकता थी। हमने अपनी यात्रामें कई जगहोंपर देखा, कि पहलेके गाँव और खेत उजाड़कर चरागाहोंमें परिणत कर दिये गये हैं। ध्वस्त गाँवोंके ऊपर जब-तब घुमन्तुओंके तम्बू दिखलाई पड़ते।

मेरे घावोंको, विशेषकर कोखके घावको बिल्कुल अच्छा होनेमें काफी देर

लगी, लेकिन मैं अब खतरेमें न था, न शान्तिल। यात्रा करनेमें पहली जैसी असुविधा नहीं थी। मैंने चिकित्साशास्त्र का उतना ही अध्ययन किया था, जितना कि एक पर्यटक भिक्षुके लिये आवश्यक है। मेरे साथी दक्ष वैद्य थे, उसके कारण भी मैं रूची तक इस ओर ध्यान न देता था। कुछ आत्यावश्यक दवाइयाँ हमारे साथ बराबर रहती थीं, जिनमेंसे घावके लिये मैंने कुछका उपयोग किया। इस परिस्थितिमें मेरी मनोदशा जैसी थी, उसमें शान्तिलका पास रहना बड़ा ही उपयोगी साबित हुआ। वर्षोंसे जो लक्ष्य सामने था, वह सदाके लिये बिछुड़ता मालूम हुआ। हम नहीं कह सकते थे,. कि हमारे जीवन का अवसान कहाँ होगा। जहाँ तक हमारे उस समयके स्वामियोंका सम्बन्ध था, उनका बर्ताव बुरा नहीं था। बेग मेरा विशेष तौरसे सम्मान करता था, लेकिन हम दोनों अच्छी तरह जानते थे, कि हमारी स्थिति उनके दास या बन्दी से बढ़ कर नहीं है।

एक छोटीसी पहाड़ी नदीके किनारे-किनारे हम पहाड़के भीतर घुसे। यद्यपि यहाँ चरने और मुक़ाम करनेकी बहुत सुविधाएँ थीं, लेकिन बेगको जल्दी थी। शायद दो ही तीन दिन लगे होंगे, जब कि पहाड़ पारकर हम एक विशाल सरोवरके दक्षिण-पूर्वमें अवस्थित एक नगर (बरकुल) में पहुँचे। नगरको हमने पहाड़के ऊपरसे ही देख लिया था। उसके उत्तरमें भी कुछ दूरपर वैसा ही पहाड़ था, जैसा दक्षिणमें। ऐसी सूखी मरुभूमिमें सागर जैसे विशाल सरोवरके होनेका मतलब ही था, उसका पानी खारा होगा। ठहरनेकी जगहपर बेग हमसे अब घन्टों बातें पूछता रहता। हम उसके शत्रुदेशके नहीं थे, न हमारे प्रति वह कोई सन्देह कर सकता था। घुमन्तू होनेपर भी वह यबगूका बहुत विश्वासपात्र एक सम्भ्रान्त सामन्त था। इन घुमन्तुओंका उच्च-वर्ग शिक्षा-दीक्षामें वस्तुतः हमारे सामंन्तोंसे बहुत पीछे नहीं था। सिंहलमें मैंने व्याधोंको देखा था, वह भी बेघर-बारके थे, पशुपालन नहीं करते थे, केवल शिकार और फल-मधु-संचयपर जीवन निर्वाह करते थे। उनमें भी क्रूरता, निर्भीकता आदि कितनी ही बातें इन घुमन्तुओं जैसी थीं, लेकिन दोनोंमें बहुत अन्तर था।

इनमें उनकी अपेक्षा अधिक नागरिकता (सभ्यता) थी। वस्तुत: पशुपालनका जीवन ही इन्हें आगे बढ़ने नहीं देता था। खेतीसे यह बहुत घृणा करते थे, लेकिन शिल्पके बारेमें वही बात नहीं थी। इनके तम्बुओंमें बड़े कुशल शिल्पकार और कलाकार मिलते थे, जोकि कपड़े तथा दूसरे सामानको इतना सुन्दर बनाते थे, जितना उन जैसी चीजोंपर दूसरी जगह पाना मुश्किल है। इनके पहाड़ोंमें ताँबा, लोहा और सोना है। बिना हथियारोंके अपने भीतरी और बाहरी शत्रुओंसे ये कैसे लड़ सकते ? इसलिए धातु-शिल्पको विकसित करनेका भी इन्होंने काफी प्रयत्न किया था। यह बतला ही चुका हूँ, कि त्योर्क लोग पहले अवारोंकी अल्तुन-इइश (सुवर्णगिरि) के दक्षिणी भागमें लोहेकी खानोंमें काम करते थे। इस पहाड़का सुवर्णगिरि नाम बेकारका नहीं। इसके उत्तरी भागमें बहुत बड़ी-बड़ी सोनेकी खानें हैं, जिनसे कश्रानको बहुत सोना मिलता है। जैसे हमारे देशमें उत्तरमें सोनेके पहाड़ (सुमेरु) के होनेकी कथा प्रचलित है, वैसी ही यहाँ इन पहाड़ोंके लिये है, परन्तु वह केवल कथा मात्र नहीं है। मैंने यबगूके पास वहाँ से आई सोनेकी ईंटोंको अपनी आँखों देखा था।

सरोवरके पासवाला यह नगर (बरकुल) हमारे लिये अन्तिम नगर या बस्ती थी। पीछे बहुत समय बाद जब पहलेपहल मैंने गाँव और नगर देखे तो मालूम हुआ, मैं सचमुच एक विचित्र दुनियामें चला गया था। इस नगरमें भी संघाराम था, भिक्षु थे, तुर्कों जैसे चेहरे-मोहरेवाले आदमियोंकी अपेक्षा कूची जैसे लोगोंकी संख्या अधिक थी। उनमें अधिकतर व्यापारी, शिल्पकार थे। नगर के पास कुछ गाँव भी थे, जहाँ खेती होती थी। नगरमें मेवोंके बगीचे और साग-सब्जी ही के खेत देखे जा सकते थे। यहाँ से एक रास्ता, पश्चिमकी ओर जाता था, जो आगे जाकर सोग्दवाले रास्तेसे मिल जाता था। सोग्दी व्यापारी भी यहाँ थे। एक रास्ता उत्तर-पश्चिममें सोनेकी खानोंकी ओर जा रहा था। इस रास्तेपर जानेमें बहुत सी रुकावटें थीं। त्योर्क और उनके पहलेके अवार भी नहीं चाहते थे,

कि सोनेकी खानोंका पता दूसरोंको मिले। सोना दुनियामें सबसे अधिक लड़ाई-झगड़ेका कारण होता है। घुमन्तू अपने पशुधन और परिवारको आवश्यकता पड़नेपर शत्रु के सामनेसे भगा ले जा सकते थे, लेकिन इन खानोंके साथ वैसा नहीं किया जा सकता। यह ठीक है, कि चीन, पारस्य या भारतके लोग सोनेके सबसे ज्यादा ग्राहक हैं, वह महीनों घुमन्तुओंकी निर्जनभूमिमें होकर सोनेकी खानोंके लिये धावा नहीं बोल सकते, लेकिन भय तो रहता ही। फिर इन खानोंमें काम करनेवाले अधिकतर तुर्कोंके दास या दास जैसे लोग हैं। तुर्क होनेपर भी सोनेको चुरा कर वह उससे लाभ उठा सकते हैं, इसलिये भी राजकीय सम्पत्तिके तौरपर इन खानोंकी सुरक्षाका बहुत ध्यान रक्खा जाता है।

इस नगरसे जिस रास्तेको हमने पकड़ा, वह करीब-करीब उत्तर-पूर्वकी ओर जा रहा था। जो पहाड़ नजदीक मालूम हो रहे थे, वह वस्तुतः आकाशके अत्यन्त निर्मल होने हीके कारण, नहीं तो काफी दूर थे। बीचकी भूमि बिलकुल समतल थी, जिसमें कहीं-कहीं फरास (सक्सौल) के छोटे-छोटे वृक्ष या और तरहकी झाड़ियाँ थीं। फरासको मथुराके पास भी मैंने देखा था, लेकिन, वहाँ इतनी बालुकी भूमि नहीं थी। जिस भूमिमें पानीका अत्यन्त अभाव होता है, वहाँ यह काफी बड़ा वृक्ष कैसे उगता है? एक जगह तो इसका जंगल सा लगा था। वहीं हम रातके विश्रामके लिये ठहरे। शामके समय बहुत से ऊँट जंगलमें इकट्ठे दिखाई पड़े। शायद वह इसके पत्तोंको पसन्द करते हैं। भारतमें भी मैंने ऊँट देखे थे। वह भी कंटीली झाड़ियों और कंटीले वृक्षोंके पत्तोंको बहुत पसन्द करते हैं। लेकिन, फरास कँटीला वृक्ष नहीं है। भारतके ऊँट यहाँसे अधिक बड़े होते हैं। यहाँ जैसी मरुभूमिमें उतने बड़े ऊँट होने भी नहीं चाहिये, नहीं तो उनके खानेके लिये उतना चारा कहाँसे मिले? यहाँके ऊँटोंके शरीरपर अधिक और इतने मुलायम बाल होते हैं, कि उनके बने कपड़ोंको बड़े लोग भी पहनना पसन्द करते हैं। यहाँके ऊँटोंकी पीठपर भारतकी तरह एक नहीं, दो कोहान होते हैं। ऊँटों का एक काम है बोझा ढोना,

घोड़े या खच्चर इतना बोझ नहीं उठा सकते। घोड़ेकी तरह ही ऊँटके मांसको भी यहाँके लोग खाते हैं, लेकिन वह अधिकतर गरीबोंका खाद्य समझा जाता है। यहाँ समतल भूमिमें गाड़ियोंका इस्तेमाल अधिकतर सामन्त लोग करते हैं। कुशल बढ़इयोंकी यहाँ क्या आवश्यकता हो सकती है, जब कि लोगों-को घर और उसमें इस्तेमाल होनेवाले सैकड़ों तरहके सामानकी अवश्यकता नहीं है। पर मैंने पीछे यहाँके लोगोंको गाड़ीके चक्कोंको बनाते देखा, जब हम ऐसी भूमिमें आ गये थे, जहाँ प्रकृति वृक्ष-वनस्पति के सम्बन्धमें अधिक उदार थी। उनके पास बढ़ईके दो-चार ही हथियार थे, लेकिन इन साधारण हथियारों से उन्होंने ऐसा सुन्दर, सिजिल और मजबूत चक्का बनाया था, जिसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी।

कई दिनोंके चलने—बल्कि कहना चाहिये भागने—के बाद हम सामनेके पहाड़ोंमें पहुँचे। यह भी अल्तून इश्श (सुवर्णगिरि) के नामसे पुकारा जाता है। शायद हमारे हिमवन्त (हिमालय) की तरह यह बहुत दूर तक फैले हुये पहाड़का नाम है। इसके इस हिस्सेमें सोनेकी खानें हैं, यह नहीं सुना, इसलिये पश्चिम-वाले पर्वतसे सम्बन्ध जोड़ कर इसे यह नाम दिया गया है। जब पहाड़ोंके भीतर घुसे, तो वह प्रायः हरियालीसे रहित थी। जाड़ोंका दिन था, ऐसे समय वैसेभी हरियाली सूख जाती है और सदा हरे रहनेवाले बड़े वृक्ष यहाँ थे ही नहीं। मैं समझता था, आगे भी यह इसी तरहका होगा। लेकिन, जब पहाड़के ऊपरी भाग तथा उसके उत्तरी पार्श्वको तरफ गये, तो हमें छोटे रूपमें अपना उद्यान याद आने लगा। स्वभावतः ही यहाँ सर्दी अधिक पड़ा करती है। मेरी यात्रा ने बतला दिया था, कि जिस तरह पहाड़ोंकी ऊँचाईपर बढ़ते हुये हम अधिक सर्द स्थानोंको पाते हैं, फसलोंको बहुत पीछे बोई जाते और कटते देखते हैं, उसी तरह जितना ही हम उत्तरकी तरफ बढ़ते हैं, उसी तरह सर्दी भी बढ़ती जाती है। हमारे देशमें देवदार और भुर्जके वृक्ष बहुत ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंपर होते हैं, लेकिन इस यात्रामें मैंने नीचेकी समतल भूमिमें उनके जंगल देखे। कांस्यपेशमें आकर हम जाड़ोंमें ऊनी चीवरोंको ही इस्तेमाल करने लगे। शान्तिल

की माँने हम दोनोंके लिए बहुत मोटी और मुलायम संघाटी अपने हाँथसे बड़ी श्रद्धापूर्वक सी कर दी थी। नीचे अंसकूट (जाकेट) भी बहुत गरम था, लेकिन उससे हम इस सर्दीको रोक नहीं पा रहे थे। हमारे साथ चलनेवाले बेग और उसके अनुचर तो गर्मियोंमें भी अक्सर चमड़ेका जामा पहनते हैं, फिर आजकी तो बात ही क्या? अनुचरोंके बदनपर बाल नीचे किये हुये भेड़के चमड़ेके लबादे थे। बेगका पीले रंग का चोंगा बहुत कीमती मृगचर्मका था, जो यहाँसे और भी उत्तरकी भूमियोंसे आता है। हाथ लगानेमें मक्खन की तरह मुलायम और देखनेमें सोने की तरह चमकीला था। सिरपर भी उसी तरहके मृगचर्मका कन्टोप, पैरोंमें घुटने तक नम्देका जूता, नम्देका मोजा और उसके ऊपर उतना ही बड़ा चमड़ेका जूता था। बाहें इतनी लम्बी थीं, जिनके भीतर हाथोंके पंजे छिप सकते थे। जब जरूरत नहीं होती, तो आस्तीनके कुछ हिस्से उलट रखते। उसे देखकर मैंने समझा, कि आदमी-ने देश-कालके अनुसार अपनी रक्षाके साधन भी बना लिये हैं।

सर्दीमें हम ठिठुरे जा रहे थे, इसका पता बेगको लगनेमें देर नहीं हुई। रातको ओढ़नेके लिये वह हमें बालवाली खालका ओढ़ना दे दिया करता था। सिंहलके भिक्षु शायद इसे विनिमयविरुद्ध कहते, लेकिन उन्हें मालूम नहीं, कि यहाँके जाड़ोंके लिये इसकी नितांत आवश्यकता है। तथागत यदि इस भूमिमें आये होते, तो शायद उन्होंने भिक्षु-भिक्षुणियोंके लिये ऐसी पोशाकका विधान किया होता, जो यहाँकी ऋतुकी अनुकूल है, और वह खालकी ही हो सकती थी। बेगके प्रस्ताव करनेपर पहले दिन तो मैंने इन्कार किया, लेकिन दूसरे दिन मान लिया, और हम दोनोंके लिये मुलायम मृगचर्मका अंसकूट (जाकेट) और उसीका एक कंटोप भी मिल गया। हमारे उद्यान और दूसरे ठंडे मुल्कोंमें बहुत सर्दी पड़ने पर भिक्षु जाड़ोंमें कन्टोपका इस्तेमाल करते हैं, इसलिये उसीको मुलायम रोमवाले चमड़ेका बना पहनने में हमें कोई एतराज नहीं हो सकता था। सिरको हम मामूली कन्टोपसे भी बचा सकते थे, लेकिन यहाँकी सर्दीमें छाती और पेटको बचाना सबसे आवश्यक था, नहीं तो उसके कारण पेट खराब

होकर बीमार होनेका डर था। सर्दीने भी सहायता की थी और मेरा घाव अब बिल्कुल भर गया।

पहाड़ बहुत ऊँचे नहीं थे, इसलिये हिमालयकी कठिन चढ़ाइयों से मुकाबिला नहीं करना था। फिर हम अब घोड़ेकी पीठ पर थे। आहत होने के बाद घोड़े पर चढ़नेके लिये मैं मजबूर था, और अब उससे इन्कार करनेपर वेगकी गति धीमी हो जाती, जिसे वह नहीं पसन्द करता। हो सकता था, वह मुझे घोड़ेपर सवारी करनेके लिये मजबूर करता, इसलिये यह जानते हुये भी, कि यह भिक्षुके लिए उचित नहीं है, मैंने इन्कार नहीं किया।

बन्दी बने १५ दिन हो गये थे, जब कि हम पहाड़से नीचे उतर कर दूसरे मैदानमें पहुँचे। यह घासका मैदान था, जिसमें कहीं-कहीं उभड़ी जमीन भी थी, जिसे पहाड़ कहा जा सकता था, लेकिन वहाँ पत्थरका कहीं पता नहीं था, वह केवल नदियोंके पास ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ता था। यबगू खानका युवराज अर्थात् उप-खान था। घुमन्तुओंमें बल, बुद्धि और पराक्रमसे ही कोई ऊँचे दर्जेपर पहुँच सकता है, उसके लिये केवल खान-परिवारका होना पर्याप्त नहीं है। त्यूमन् खानके लड़केको वंचित करके इसी योग्यताके कारण मोयू अब तुर्कोंका खान बना था। सभी जानते हैं, कि मोयूके बाद यही यबगू उसका स्थान लेगा। उसके पद और मर्यादाके अनुरूप ही अनुचर भी उसके साथ थे। बतला रहे थे, उसके इतने तम्बू हैं, जिनमें ५० हजार योद्धा हर वक्त लड़नेके लिये तैयार रहते हैं। घुमन्तुओंका परिवार वस्तुतः सैनिक परिवार होता है, और उनके तम्बुओंके पड़ाव सैनिक शिविर। यद्यपि स्त्रियों, बच्चों और वृद्धोंका छोड़ कर बाकी को ही ये लोग योद्धा गिनते हैं, लेकिन संकट पड़नेपर तरुण और प्रौढ़ स्त्रियाँ भी अपने पुरुषोंकी तरह लड़ सकती हैं। वह भी घुड़सवारीमें पुरुषोंकी तरह ही चुस्त और घोड़े पर चढ़ी धनुष चलानेमें कुशल होती हैं। इतने अधिक तम्बू एकके पास एक लगाये जायँ, तो वह एक बड़ी नगरीका रूप धारण कर सकते हैं। हरेक तम्बूके साथ उनके बहुतसे ऊँट, घोड़े और चँवर रहते हैं। यही

उनका धन और जीविका हैं। इसीलिये घुमन्तू अपने पशुओं-प्राणियोंकी सुविधा के ख्यालसे परिवारोंको एक जगह इतनी भारी संख्यामें नहीं इकट्ठा करते। यह स्थान जाड़ोंमें यबगूके स्कन्धावार (छावनी) का काम देता था। यहाँ उसके बेगों और दूसरे सरदारोंके ठहरने के अपने-अपने स्थान निश्चित थे। उन्हें ऐसा चुना गया था, कि ईंधन चारे और पानीका भी सुभीता हो। इस भूमिमें बर्फ कम पड़ती है, और जब कभी सारी भूमि ढँक भी जाती है, तो दो-चार सप्ताहसे अधिक दिनों के लिए नहीं। ऐसे समयके लिए घुमन्तू आते ही काफी घास काट कर जमा कर लेते हैं।

दूरसे ही यबगूके शिविरको पहचाननेमें हमें कठिनाई नहीं हुई। वह औरों की अपेक्षा अधिक ऊँचा और लम्बा-चौड़ा था। उसके सामने समतल छत जैसा एक विशाल तम्बू था, जिसे अच्छी तरह रंग-बिरंगे कपड़ों और सुईके काम द्वारा सुसज्जित किया गया था। हमारे पहुँचने से दो दिन पहले बहुत हिम-वृष्टि हुई थी। आज भी वहाँ चारों तरफ बर्फकी मोटी चादर बिछी हुई थी, जिससे इन तम्बुओंका रंग एक हो गया था। मेरे मनमें बड़ा कौतूहल पैदा हो रहा था। वह किस तरह हमारा स्वागत करेगा। बेगने बतलाया था—'उसकी माँ बौद्ध थी, जिसके कारण उसकी भी भिक्षुओंके प्रति बड़ी आस्था है, और इसीलिये उसने हमें भिक्षु लाने का आदेश दिया है। यदि हम तुम्हें उस समय न पाते, तो किसी भिक्षुको रास्तेके किसी नगरसे जरूर लाये होते।' उसकी बातोंको मैं झूठ नहीं कह सकता था, और दरअसल भयका कोई कारण भी नहीं था। होता भी, तो मैं जीवनके प्रति इतना लोभ नहीं रखता, कि उसकी चिन्तासे घुलता रहता। हमारे आनेकी खबर चार दिन पहले दूत ने यबगूके पास पहुँचा दी थी। हमारे साथके बेगका अपना उर्दू यबगूके शिविरसे एक कोसपर पड़ा था। हम शामको वहीं पहुँचे।

दुनियाकी विचित्रता एक जगह रहते आदमीको नहीं मालूम होती। अनुराधपुर (सिंहल) में मैंने ऋतुओंको बदलते नहीं देखा। उनमें वर्षा होने और न होनेका ही भेद पाया जाता था, नहीं तो दिन-रात प्रायः

बराबर होते थे। रात के वक्त आसमान खुला होनेपर उत्तरकी ओर मैं ध्रुवतारा को देखनेकी कोशिश करता, लेकिन वह क्षितिजके पास कभी ही कभी दिखाई पड़ता। हमारे उद्यानमें वह क्षितिज, से बहुत ऊँचे दिखलाई पड़ता, और यहाँ तो वह इतना ऊपर उठ चुका था, कि मालूम होता था, यदि कुछ समय और उत्तरकी ओर चला जाये, त वह हमारे सिरके ऊपर दीखने लगेगा। रात-दिनका भी अन्तर यहाँ इसी तरहका था। दिन मुश्किलसे एक-डेढ़ पहर (चार पाँच घंटे) का होता, बाकी रात ही रात थी। इसलिये बेगके शिविरमें पहुँचनेके समय जब मैं शाम होनेकी बात करता हूँ, तो उसका मतलब है डेढ़ पहरका दिन अब समाप्त हो चुका था। बेगने यबगूके दरबारमें अपने एक सरदारको भेज दिया था, जिसने रातको ही आकर सूचना दी, कि यबगू सबेरे जल्दी ही भिक्षुओंके साथ बुला रहे हैं। इतनी लम्बी रात बितानी भी तो मुश्किल है। बेगने हमें एक अलग तम्बू दे दिया था। अन्तिम नगरको छोड़नेके तीसरे दिन बाद मैंने देखा, अब हमारे ऊपर उतनी निगाह नहीं रक्खी जाती शायद वह जानते थे, कि इस भूमिमें आकर भागनेकी चेष्टा करना भारी बेवकूफी है। हमारे बर्ताव से भी उन्हें मालूम हो गया था, कि हम ऐसा नहीं करेंगे। सुवर्ण गिरिको पार करनेके बाद तो हम बिल्कुल मुक्त थे। उसका आग्रह नहीं था, कि हमारे घोड़े उसके साथ-साथ चलें। हमारे साथ जो उसके एक-दो घोड़सवार रहते थे, वह रखवालीके लिए नहीं, बल्कि हमारी सेवाके लिये थे।

अगले दिन सूर्योदयके साथ हमें भोजन मिला। एकाहारका नियम भिक्षुओंके लिये अच्छा है। दिन छोटा हो या बड़ा, जब छ पहरके रात-दिनमें एक ही बार भोजन करना है, तो हर्ज क्या? हाँ, सिंहलमें सूर्योदयके साथ हमें काफी प्रातराश मिल जाता था, और फिर डेढ़ याम (पहर) बाद मध्यान्हमें हम पूरा भोजन करते। यहाँ हमें कोशिश करनी थी, कि सूर्योदयसे एक पहरके भीतर ही मध्यान्ह होते समय भोजन मिल जाये। हर वक्त डर लगा रहता था, कि अंसकूटके परिवर्तनकी तरह कहीं भोजनमें भी परिवर्तन न करना पड़े, लेकिन मैं ऐसे परिवर्तनसे यथा-शक्ति इन्कार करनेके लिये तैयार था। यबगूके यहाँ

भोजन प्राप्त करनेमें देर हो जाये, इसलिये हमने अपने परिचारकसे कह कर सूर्योदयके समय ही काफी भोजन कर लिया था।

सूर्योदयके साथ ही दो सफेद घोड़े लिये यबगूके अनुचर हमारे शिविरके द्वार-पर खड़े मिले। घोड़े आमत्योंके घोड़ोंसे बड़े और बहुत ही सुन्दर सफेद रंगके थे। चढ़ते समय हमें विश्वास दिलाया गया, कि ये यबगूके अपने बहुत सीधे-सादे घोड़े हैं, डरनेकी जरूरत नहीं। हमारे साथ आया बेग भी अपने उसी जातिके एक नये घोड़े परसवार हुआ। हम थोड़ी देरमें यबगूके शिविरमें पहुँच गये। इसछोटे दिनमें शिकार करनेके लिए तड़के ही जाना पड़ता है। यबगू शिकार-पर जानेके लिये तैयार था। उसके साथ भारी संख्यामें सशस्त्र भट और अनुचर थे। यबगूके शरीरपर नीचे मृगचर्म और ऊपर हरे रंगके साटनका चोगा था। उसके बाल बहुत लम्बे और खुले हुये थे। उसके ललाटपर सफेद रेशमकी एक पट्टी बँधी हुई थी, जो पीछेकी ओर बहुत नीचे तक लटकती थी। दो सौके करीब अमात्य उसके आस-पास खड़े थे। सभी कीमती पोशाक पहने थे। उनके लम्बे बाल माँग फाड़ कर गुथे हुये पीछेकी तरफ लटक रहे थे। अमात्य उसके दाहिने-बाँये बड़े अदबसे खड़े थे। बाकी भटोंके शरीरपर मृगचर्म या नरम मोटे ऊनके चोगे थे, हाथोंमें भाले, झंडियाँ और कन्धेपर धनुष और पीठपर तर्कश लटक रहे थे। उनमेंसे कितने ही ऊँटोंपर सवार थे और कितने ही घोड़ोंपर। इनकी पाँती बहुत दूर तक चली गई थी।

यबगू मुझसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने रास्तेकी तकलीफोंके बारेमें क्षमा माँगते हुये कहा: "आप अब हमारे अतिथि और गुरु हैं। आपसे हमें बहुत सीखना है।" यबगूने शिकारपर जानेके लिये क्षमा माँगते हुये यह भी कहा: "आपके लिये अलग तम्बू और परिचारक नियुक्त हैं।" फिर एक अमात्यको पास बुलाकर कहा: "जिसकिसी चीजकी जरूरत हो इससे कहें, यह हर वक्त आपकी सेवा करनेके लिये तैयार रहेगा।" यबगू हाथ जोड़ कर अपने अनुचरोंके साथ विदा हो गया और अमात्य हमें रहनेके स्थानकी ओर ले चला। जिस विशाल तम्बूको मैं दूरसे देख रहा था, वह इस सबेरेके सूर्यके

प्रकाशमें अपने सोनेके तारोंके कामके कारण मेरी आँखोंमें चकाचौंध पैदा कर रहा था। मैंने यबगूके दरबारवाले तम्बूको देखनेकी इच्छा प्रकट की। अमात्य मुझे बड़ी खुशीसे वहाँ ले गया। पीछे यबगूको मैंने अपने अमात्योंके साथ वहाँ बैठे भी देखा। यबगूके आसनके दाहिने और बाँये कालीनकी लम्बी पाँतियाँ थीं, जिनपर बहुमूल्य पोशाक पहने यबगूके मन्त्री और दरबारी बैठा करते थे। उस समयके दृश्यको देखकर कभी कल्पना नहीं हो सकती थी, कि घुमन्तू भी इस तरहके वैभवको प्राप्त कर चुके हैं। किसी भी राजदरबारमें बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणोंको जैसे देखा जा सकता है, वैसे यहाँ भी था। यबगू और अमात्योंके पीछे अनुचरोंकी एक भारी सेना हर वक्त सेवा बजा लानेके लिये खड़ी थी। यबगूका सिंहासन वस्तुतः गद्दे और कालीनका ही बना हुआ ऊँचा पीठ था। मैंने एक दिन सायंकालको यबगूके दरबारको देखा। उस भूमिके लिये सायंकाल कुछ दूसरा ही अर्थ रखता है। वस्तुतः वह मनोविनोदकी गोष्ठी थी। घोड़ीके दूधकी शराब नहीं, बल्कि असली अंगूरी लाल मदिरा यहाँ वितरित हो रही थी। सामने बड़े-बड़े टुकड़ोंमें उबाले घोड़ेका मांस रक्खा था। कीमती प्यालोंमें लोग पान कर रहे थे। अनुचर सुराहियोंको लिये उनके भीतर घूम रहे थे। एक तरफ संगीत मण्डली बैठी सुन्दर गान और वाद्यसे उनका मनोरंजन कर रही थी।

हाँ, नीचेके राजदरबारोंसे यहाँ यह अन्तर जरूर था। इनके मनोविनोदमें स्त्रैण भावोंका अभाव था। सबके चेहरेके ऊपर वीरता और निर्भीकता दिखाई पड़ती थी। यबगूकी रानियाँ और सरदारोंकी स्त्रियाँ भी पान-गोष्ठीमें सम्मिलित थीं। यद्यपि सबके अपने-अपने छोटे-बड़े दर्जे थे, लेकिन उनके व्यवहार में उतनी विषमता नहीं दिखलाई पड़ती थी, जितनी कि मैंने अपने देशके राजदरबारोंमें देखा था।

× × ×

जाड़ा (५५५-५६ ई०) बीता। अभी तक ऐसे जाड़ेका मुकाबिला मैंने नहीं किया था। इसमें शक नहीं, हिमालयके डाँड़ोंको पार करते वक्त इससे भी ठंडी

जगहोंसे गुजरना पड़ा था, लेकिन वह गर्मियोंका मौसिम था, और परम शीतल जगह पर कुछ घंटोंसे अधिक हमें रहना नहीं पड़ता था, सो भी चलते-फिरते। यहाँ हम पहाड़के ऊपर नहीं, बल्कि उसके नीचेकी समतल भूमिमें थे। ऐसी जगह इस तरहकी सर्दी ? लेकिन, यबगू पूरी तौरसे इसका ध्यान रखता था, कि हमें कोई कष्ट न हो। इसे कहकर मैं अभिमान नहीं प्रकट करना चाहता कि यबगूने तथागतके जीवन और उनके उपदेशोंको मुझसे सुन कर भक्ति प्राप्त की, और बुद्ध-धर्म-संघकी शरण ले वह उपासक बन गया। युद्धमें वह बड़ा वीर था। कुछ ही सालों पहले जो निर्णायक युद्ध उसके चचा तूमिन् कानने अवारोंके साथ लड़ा था, उसमें इसने बड़ी वीरता दिखलाई थी। वह जन्मजात सेनानायक था। लेकिन, कुछ गुण उसमें ऐसे मैंने पाये, जिनके बारेमें मैं समझता था, वह घुमन्तुओंमें नहीं मिल सकते। वह बड़ा ही दयालु था, और ज्ञानकी न तृप्त होनेवाली पिपासा उसमें बड़ी तीव्र थी। वीरताके साथ इन गुणोंका विरोध नहीं है, यह मैं मानता हूँ, लेकिन खूनमें पले, खूनमें बढ़े और खूनके साथ ही जीवन समाप्त करनेवाले एक घुमन्तू योद्धाका ऐसा होना जरूर अनहोनी सी बात थी। अवारोंके कितने ही सरदार और कग्रान भी बुद्ध-भक्त थे। मैंने सुना, उनके पूर्वज हूणोंमें भी बौद्ध-धर्म पहुँच गया था। लेकिन, त्रोर्क अभी अपने जनजातीय धर्मको ही मानते आये थे। यबगूका तो कहना था: "हमारे पूर्वज चीनके शासक तोबा सम्राट् भी बुद्ध-भक्त थे।" उसने बतलाया— "कभी चीन-दरबारमें चलते समय हम उन भव्य गुहा-विहारोंको दिखलायेंगे, जिन्हें कि तोबा सम्राटोंने चीनमें भिक्षु-संघके लिये बनवाया था, और जो अब भी बड़े सुन्दर और समृद्ध हैं।" उसकी जिज्ञासायें बहुत सी ऐसे विषयोंके बारेमें थी, जिनकी तृप्ति मैं कर सकता था, और करता भी था, लेकिन कठिनाई भाषाकी थी। मैं अब तुर्क भाषासे बिल्कुल अपरिचित नहीं था, लेकिन अभिधर्म (बौद्ध-दर्शन) की बातोंको समझानेके लिये मेरे पास शब्द नहीं थे। तुर्क भाषामें यदि ग्रन्थोंके अनुवाद भी होते, तो शान्तिलकी सहायतासे मैं एक शब्दकोष बना लेता। जल्दी ही मुझे इसकी अवश्यकता मालूम हुई और शान्तिलकी सहायता

से अभिधर्मकोष के बहुत से शब्दों के अर्थ ढूँढ़-ढूँढ़कर मैंने तुर्की रूप दे दिया। बात करने में कुछ तुर्की की सहायता लेता, कुछ भारती भाषा (संस्कृत) की। दो महीने तक नित्य अपराह्न में चार घंटे यबगू सतसंग करता, उस समय शान्तिल मेरे पास बैठे रहते अब उसे बुद्ध के प्रज्ञास्कन्द (दर्शन) का कुछ परिचय होने लगा, और प्रतिभाशाली होने के कारण उसमें उसे रस भी आता था। उसकी रानी भीतरी प्रेरणा से अपने पति का अनुगमन करना चाहती थी, या पति-स्नेह के कारण यह मैं नहीं कह सकता। मेरे विचार में उसमें भी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। वह तथागत के चरित, उनकी जन्मभूमि तथा मेरी यात्राओं को सुनने के लिये बहुत उत्कंठित रहती थी।

पहिले समझते थे, कि हमारा लक्ष्य चीन है, जहाँ जाकर चीनी भाषा में ग्रन्थों के अनुवाद के काम में हाथ बटाना है। यह भी मालूम था, कि हमारे देश के कितने ही बन्धु शताब्दियों पहले से और आज तक इस पुण्य कार्य को कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में मेरे लिये स्वाभाविक था, कि अपने साथ पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह ले चलता। कितनी ही ताल-पत्र पर लिखी अपनी प्रिय पुस्तकों को मैं उद्यान से ही अपने साथ लाया था। बुद्धिज्ञ के हाथ का लिखा 'प्रमाणसमुच्चय' तो मेरी जीवन-निधि था। बसुबन्धु का "अभिधर्म कोष" कितने ही और भी सूत्र मुझे कंठस्थ थे। जो विद्या कंठस्थ है, वही अपनी है, यह मानते हुये मैंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष इसमें लगाये थे। यबगू की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिये मेरे पास सामिग्री की कमी नहीं थी। उसकी रानी के लिये इन गम्भीर ग्रन्थों का समझना मुश्किल था। हमारी सभी पुस्तकें नहीं बच पाईं, अधिकांश को हमने सचिल के साथ खो दिया। हम अपने को बन्दी समझ किसी भी विपद् के आने से आशंकित थे। लूट और फेंका-फेंकी में वह पुस्तकें भी लुप्त हो गईं, जिन्हें मैंने सामान के साथ बाँध रक्खा था। केवल वही पुस्तकें पास रह गई थीं, जिन्हें कि हम हमेशा अपनी पीठ पर ढोते थे। यदि शान्तिल बेग के पुत्र न होते, तो सम्भव है हम और अधिक पुस्तकें अपनी पीठपर रखते।

जिस वक्त यबग् और उसकी पत्नी मेरी यात्राओं के बारे में पूछते, उस समय मुझे कितनी ही बार मातृभूमि बड़े जोर के साथ मुझे अपनी ओर खींचती, लेकिन यायावर ऐसे खिंचाव में बह कैसे सकता है? मैं ख्याल करता : कहाँ उद्यान की रमणीय भूमि, जहाँ मैं पैदा हुआ, कहाँ सिंहलद्वीप, जहाँ मैंने अपने जीवन के सबसे प्रिय मित्र और गुरु को खोया, और कहाँ अब छोटे-छोटे पहाड़ों तथा बर्फ और सर्दी वाली यह समतल भूमि, जहाँ मैं घूम रहा हूँ। इसमें सन्देह नहीं मैं बड़ा सौभाग्यशाली था, जो मुझे इस स्थिति में भी यबग् और उसके बेग जैसे आदमियों का सहारा मिला, जिसके कारण जीवन की कठिनाइयाँ मेरे लिये बिल्कुल नहीं थीं। हमारे लिये उसी तरह परिचारक और हरेक आवश्यकता की पूर्ति का प्रबन्ध था, जैसे की यबग् के अपने कुमारों के लिये। लेकिन मेरा लक्ष्य तो चीन था? लक्ष्य-भ्रष्ट होकर मैं सुखी कैसे रह सकता था? मुझे कुछ ऐसा भी आभास होने लगा कि चीन का ख्याल छोड़ कर शायद इन्हीं घुमन्तुओं में मुझे अपना जीवन बिताना पड़े। इससे खिन्न होने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इस तरह मुझे एक अछूते क्षेत्रमें काम करने का अवसर मिल रहा था। जिस समय "अभिधर्मकोष" के सैकड़ों शब्दों के मैंने तुर्की पर्याय तैयार किये थे, उस समय मानों इसी नये पथ को बना रहा था। कितनी ही बार शान्तिल से मैं आगे के कृत्य के लिये बातें करता। वह मुझसे अधिक व्यवहार कुशल थे। उनका कहना था : इस भूमि में बराबर ही झंझावात आते रहते हैं, न जाने कब फिर वह हमें एक रास्तेसे उड़ाकर दूसरे रास्तेपर पटक दे। तो भी तुर्क-भाषामें तथागतके वचनोंको लानेकी हम तैयारी करने लगे। इस भूमिमें तालपत्र नहीं मिल सकते, लेकिन भुर्जपत्र चाहे जितने पा सकते थे। तुर्क घुमन्तू लिखने-पढ़नेकी आवश्यकता नहीं रखते थे, किन्तु जब अवारोंके विशाल साम्राज्य (कोरियाकी सीमासे कास्पियन सागर तक) के वह स्वामी हो गये, तो उसके बिना कैसे काम चल सकता था? यबगूने जब देखा, कि भारतीय लिपिमें मैंने तुर्कीके बहुत से शब्द लिख डाले हैं, तो उसे लिपि जाननेकी इच्छा हुई।

यह काम आसान नहीं था, क्योंकि एक ही शब्दके उच्चारण वह कई-कई तरहसे करते हैं। राजाको कोई कगान कहता, कोई खकान, और कोई कआन या कान। इसी तरह यबगूको, जबकू, जबगू, जबखू आदि कितने प्रकारसे बोलते थे। यदि ऐसे अक्षर-संकेत बनाये जायें, जिनसे बहुतोंके उच्चारण मिल सकें, तो उसका अर्थ था एक ही अक्षरको कई तरहसे उच्चारण करनेके लिये छोड़ देना, उसी तरह जैसे हमारे यहाँ मूर्धन्य ष को कहीं ख बोलते हैं और कहीं श। इससे एक तो लाभ था, कि अक्षरोंकी संख्या बहुत कम हो जाती। मैंने देखा, ऐसा करनेपर तुर्की भाषाके लिये १६-१७ अक्षरोंसे अधिककी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मैंने यही ख्याल करके बल्कि अपने अक्षरोंको तुर्की उच्चारणके मूल्य देकर यबगूको सिखाये भी। एक और बड़ी दिक्कत थी : तुर्कोंके सम्भ्रान्त कुलोंमें भी एक तरहकी उच्चारणवाली भाषाका प्रयोग नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो पूर्ण वर्णमाला तैयार की जा सकती थी। यबगू यह भी चाहता था, कि मैं उसे संस्कृत भाषा सिखलाऊँ, लेकिन मैंने उसे समझाया, पहले ज्ञानको काफी मात्रामें प्राप्त कर लो, तब उसमें हाथ लगाना, नहीं तो शायद आगे चलकर उत्साह मन्द हो जाये और दोनोंसे हाथ धोना पड़े।

जाड़ा जितना ही आगे बढ़ता जा रहा था, उतनी ही बर्फ की तह और मोटी होती जाती थी। हिमवृष्टि मेरे लिये नई चीज नहीं थी, लेकिन यहाँ वह जितने बड़े-बड़े फायोंके रूपमें गिरती थी, उतनी मैंने और कहीं नहीं देखी थी। ये फाये धरतीको ही नहीं, आकाशको भी करपूर श्वेत करते हवामें तैरते हुये धरती पर गिरते थे। हमारे सफेद नम्देके तम्बुओंपर जब वह कई अंगुल मोटे पड़ जाते थे, तो परिचारक उन्हें हिलाकर नीचे गिरा देते। भीतर हम आग जलाये कोमल मृगचर्ममें सिरसे पैर तक लिपटे सत्संग या वार्तालापमें लीन रहते। समयका यन्त्र किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता, वह गंगाके प्रवाहकी तरह अनवरत चलता रहता है। दिन एक पहर (तीन घंटे) जितना ही रह गया था। वह पाँच पहरकी रातके बीतनेपर आता, कुछ देर बाद मध्यान्ह हो जाता और फिर रातकी स्याही चारों ओर पुत जाती। इतनी बड़ी रात भर आदमी

सो कैसे सकता है, इसलिये हम बहुत रात तक जागते रहते। जिस चीजकी हम अधीरताके साथ प्रतीक्षा कर रहे थे, वह था वसन्त। सर्दी और बर्फकी सफेदी देखते-देखते हम तंग आ गये थे। उस सालका जाड़ा, मालूम होता था, बहुत लम्बा है। आखिर वह बीता ही, जिसके लिये हमें पाँच महीनेकी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

वसन्तको कहाँ बिताना है, इसके बारेमें यबगूसे पहले ही सलाह हो चुकी थी। जब मैं हरियाली और वृक्षोंके घने जंगलोंकी बातें करते उनके लिये तरसता, तो यबगू कहता : यहाँसे उत्तर देवदार और भुर्ज जैसे वृक्षों के इतने घने जंगल हैं, जितने तुमने देखे न होंगे। उसको यदि मेरे देखे जङ्गलोंपर विश्वास नहीं आता था, तो मेरा भी उसके कहनेपर विश्वास नहीं था। लेकिन, जब वह वहाँ के मनोरम दृश्योंका बड़े उत्साहके साथ अपने सीधे-सादे शब्दोंमें वर्णन करता, तो मेरे हृदयमें देखने की तीव्र उत्सुकता भी पैदा हो जाती। अगर मैं न होता, तो वसन्तमें शायद कआनसे मिलने वह पश्चिमकी ओर जाता, मेरे खयालसे उसने उत्तर की यात्रा करने का निश्चय किया। उसका शासित प्रदेश उत्तरमें कितनी दूर तक है, इसका यबगूको भी पता नहीं था। तुर्कभिन्न कितनी ही दूसरी जातियाँ उत्तरके घोर जंगलोंमें रहा करती थीं। उन्होंने अपने स्थानीय शासकोंके खिलाफ विद्रोह किया था, जो अभी भी शान्त नहीं हुआ था। यबगूका कहना था "वस्तुतः इसमें जंगली जातियोंका उतना दोष नहीं है, जितना हमारे आदमियोंका। वह केवल कठोर दंड के सहारे उनको अपने बसमें रखना चाहते हैं।"

जिसके आगमनकी इतनी उत्सुकता के साथ मैं प्रतीक्षा कर रहा था, आखिर वह वसन्त भी आया। यबगूका सहस्रों आदमियोंका ओर्दू अब पहले पूर्वोत्तर दिशा, फिर पूर्वकी ओर बढ़ने लगा। घुमन्तू राजाकी यात्रा हमारे राजाओंकी यात्रासे कम आराम की नहीं होती। हाँ, जरूरत पड़ने पर वह १५-१६ योजन (७० मील) भी एक दिनमें पारकर सकते हैं। वैसे भी हम ४-३ योजनसे कम नहीं चलते थे। सामान और डेरेको समयपर निश्चित स्थानपर पहुँचाना

नौकरों-चाकरोंका काम था, और हमारे तेज घोड़ोंके लिये इतनी दूरी पार करना कुछ घड़ियोंकी बात थी। घुमन्तू प्रत्यक्षवादी होते हैं। चन्द्रमाका घटना बढ़ना यह जानते हैं, और चान्द्रमासका समझना उनके लिये बिल्कुल आसान है, लेकिन, ऋतु तो चान्द्रमासके अनुसार नहीं सूर्यकी गतिके अनुसार आते हैं। सौर और चान्द्रवर्षमें दस दिनका अन्तर है, अर्थात् चान्द्रमास लेनेपर वर्ष बिताकर ऋतु दस दिन बाद आयेगी। मैंने जब यह बात यबगूको बतलाई, तो वह इसे भी समझनेके लिये तत्पर हो गया। लेकिन, मैं जानता था, ज्योतिष और गणितकी बातों का ज्ञान वर्षोंकी साधनासे होता है, इसलिये मैं उसे बहुत दूर ले जानेके लिये तैयार नहीं हुआ। यह उसे मालूम हो गया, कि ज्ञान उससे कहीं अगम और अपार है, जितनेका कि अब तक उसे पता था।

हमारा रास्ता अब मरुभूमिका नहीं था, यद्यपि वृक्षोंका अभी बहुत प्राचुर्य नहीं था। कितनी ही नदियाँ पार करनेके बाद अन्तमें एक बड़ी नदी पश्चिमकी ओर जाती मिली। इसका पानी नीला स्वच्छ था। मालूम होता था, युगोंके बाद हमने ऐसी सुन्दर और गम्भीर सरिता देखी। घुमन्तू स्नानको शौकीनीकी चीज समझते हैं, दीर्घ हेमन्तमें चाहे पसीना न होता हो, लेकिन चार-पाँच महीने तो सालके ऐसे होते हैं, जिनमें पसीना आता ही है। पास जानेपर उनके अ-स्नात शरीरसे दुर्गन्ध निकलती है। हम भी स्नानकी माँग नहीं करते थे, और जाड़ोंमें केवल हाथ-मुँह धोकर रह जाते थे। महानदी सामने बहती हुई मिली। दोपहरके समय धूप भी तेज थी। यहाँकी सर्दी और गर्मीको समझना बहुतोंको मुश्किल हो सकता है। दोपहरको मालूम होता था, हम मध्य-मंडल में जल रहे हैं, धूप ललाटपर पड़ती, तो वह जलता मालूम होता, लेकिन सिरके पीछेकी ओर उस समय भी ठंडक लगती। यह वसन्त और गर्मीके मौसिम यहाँ कितने हलके थे, यह इसीसे मालूम होगा, कि सवेरेके वक्त हमें छोटी नालियों-वाले पानी बर्फ बने मिलते। नदीमें हम दोनोंने बहुत आनन्दके साथ स्नान किया। पानी अब भी सर्द था। यबगूको भी स्नानके लिये उतना ही उत्सुक देख-

कर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, लेकिन यहगू अपवाद नहीं था। उसके बहुत से अनुचरों, यहाँ तक कि लड़कोंने भी खूब डुबकी लगा-लगाकर स्नान किया। अपने सारे कपड़े उन्होंने किनारेपर छोड़ दिये और सिरसे पैर तक नंगे पानी में कूद पड़े। बालक, तरुण या प्रौढ़ कोई भी वहाँ, कमसे कम नंगे तैरनेवालोंमें, मुझे ऐसा नहीं दिखाई पड़ा, जिसका पेट निकला हो, शरीर अनावश्यक तौरसे स्थूल हो। रंग तो उनका नारंगीकी तरह बड़ा सुन्दर था। उनके सौन्दर्यमें बाधा केवल उनके चेहरे थे, जो शरीरकी अपेक्षा अधिक बड़े थे। उनकी रेखाओं और बनावटके बारेमें हँसी करते शान्तिलसे कहता—"यदि मैं ब्राह्मणोंके धर्मको मानता, तो कहता : 'ब्रह्माने दुनियाके और लोगोंको पैदा करते-करते अन्तमें एक बहुत ही सुन्दर जोड़ा बनाया, जिसके सौन्दर्य सृजनमें ब्रह्माने अपने सारे अनुभव और कौशलको खर्च कर दिया। उसके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुननेके लिये जब जोड़ेको उसने एक दूसरेके सामने खड़ा किया, तो जोड़ेने कुछ भी संतुष्ट न हो भौंहोंको सिकोड़कर ब्रह्माके कौशलकी अवहेलना की। इसपर बेचारा बूढ़ा आपेसे बाहर हो गया, जिस थापीसे ठोक ठाँककर लोंदेसे उसने इनके अतीव सुन्दर रूप-रंग और चेहरेको तैयार किया था, उसे उनके चेहरेपर पटक दिया। नाक चिपटी हो गई, गाल दब गये, चेहरा फैल गया, इस प्रकार सारे शरीरके सौष्टवके प्रतिकूल चेहरा बन गया।' मैंने सिंहलमें हमेशा बिल्कुल नंगे रहनेवाले स्त्री-पुरुषोंको अपनी आँखों देखा था, इसलिये इन्हें स्नानके समय नंगा देखकर आश्चर्य नहीं कर सकता था। यदि स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सभी नंगे नहाते थे, तो हमारे देशमें भी ऐसे लोगोंका अभाव नहीं है, विशेषकर स्त्रियाँ तो निस्संकोच कपड़ा निकाल कर पानीमें कूद पड़ती हैं।

नदी पार कर उसमें आकर मिलनेवाली एक छोटी नदीके किनारे ऊपरकी तरफ बढ़ते हुये हम एक दूसरे पहाड़ (खंगई) में पहुँचे। यह अवश्य हरा-भरा पहाड़ था। यद्यपि हमारे यहाँ जितने ऊँचे देवदारके वृक्ष यहाँ नहीं थे, लेकिन वह थे जरूर और जंगलके रूपमें। निवृ`त्त भूमिके रहने वाले इन घुमन्तुओंको

भी गर्मियोंकी इस हरियालीको देखकर बड़ा आनन्द आ रहा था, फिर हरियाली में पले हम जैसोंकी बात ही क्या ? हमारे पशुओं में अब ऊँटोंकी संख्या कम होने लगी, और उनका स्थान चँवरियाँ लेने लगी थीं। मध्यदेशकी भैंसोंके बराबर और उन्हींकी तरह काले ये जन्तु बड़े शक्तिशाली होते हैं, हाथ हाथ लम्बे इनके काले बाल जमीनको छूते चलते हैं। दूध भी इनका बहुत पुष्ट और माँसको अधिक अच्छा समझा जाता है। चमरियोंकी जातिके जंगली जन्तु यहाँके पहाड़ोंमें भी मिलते हैं, जो इनकी अपेक्षा कई गुना बड़े होते हैं। हमारा यबग् उनके शिकारका बड़ा शौकीन था। इनका शिकार बड़े खतरे का होता है, क्योंकि हाथी जैसे इन जानवरोंके सिरपर पड़ी बड़ी-बड़ी तथा तीखी दो सींगें जिसके शरीरको छू जायं, वह बच नहीं सकता। मामूली एक-दो बाणसे उनका कुछ नहीं बिगड़ता, लेकिन घुमन्तुओंके हाथ बड़े सधे होते हैं, जो घोड़ेपर दौड़ते भी लक्ष्यवेध कर सकते हैं। ताककर छातीमें कलेजेके पास बाण मारना उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। एक ही बार कई बाण भी छोड़े जाते हैं। पचास मनुष्योंका बल रखते भी जंगली चमरोंको साढ़े तीन हाथके आदमीके सामने अपने प्राण खोने ही पड़ते हैं। जहाँ जंगल अधिक होते हैं वहाँ जन्तु भी अधिक होते हैं, और जैसी सर्दी-गर्मी होती है, उसी तरहके भेस और प्रकृतिको यह धारण करते हैं। भालू और महार्घ मृगचर्म (समूर) वाले कितने प्रकारके जन्तुओंको यबग् शिकार करके लाता। जहाँ शिकारकी सुविधा होती, वहाँ आठ-दस दिन रहे बिना यबग् आगे कैसे बढ़ सकता था ? उसके अनुचरोंको भी इससे बड़ी प्रसन्नता होती थी, क्योंकि यहाँ पशुओंके लिए घास और तृण बहुत था और आदमियोंके लिये आखेटसे प्राप्त ताजा और मधुर मांस बहुत भारी परिमाणमें मिलता था। शिकार वैयक्तिक तौरसे भी करते थे, लेकिन उनका सामूहिक शिकार ज्यादा सफल रहता। कई हजार आदमी सिरसे पैर तक हथियारबन्द हो कई कोसकी भूमिको दूरसे घेरते, हल्ला करते अपने घिरावेको छोटा करने लगते। संत्रस्त जन्तु बीचकी ओर भागने लगते, जहाँ उनके लिये आड़ ज्यादा नहीं था। अन्तमें उनके चारों ओर आदमियोंकी घनी दीवार खड़ी हो

जाती। उनमेंसे जो समर्थ होते, वह इस दीवारको तोड़ कर निकलनेकी कोशिश करते, लेकिन चमरको छोड़ कर बाकी मुश्किल हीसे इसमें सफल होते। जिस दिन सामूहिक शिकार होता, उस दिन तम्बुओंके चारों ओर मारे हुये जन्तुओं का ढेर लग जाता, और यह ऐसे ही समय किया जाता, जब कि वहाँपर कई दिनों तक रहनेका निश्चय कर लिया जाता। फिर महोत्सव मनाया जाता। घोड़ीके दूधकी मदिरा बड़ी उदारतासे वितरित की जाती, लोग चमरके सींगमें भर-भर कर उसे पीते। आगमें भुना मांस ज्यादा पसन्द किया जाता और उसके लिये ईंधनकी कमी नहीं थी।

पहाड़ोंको लाँघते हम फिर एक महानदी (सेलिंगा) के किनारे पहुँचे। अब जो प्राकृतिक दृश्य हमारे सामने था, वह हिमालयसे कम रमणीय नहीं था। पहाड़ यहाँ कहीं-कहीं थे और सो भी छोटे-छोटे। हमारे दाहिने एक ऊँचा हिमाच्छादित शिखर था, जिसे देखकर मुझे अपने देशके उत्तरके हिमशिखर याद आने लगे। हमारे यहाँ भी हिमशिखरोंपर देवताओंका निवास माना जाता है, इस शिखर (बोगदा उला, उलमुतई) को भी यह लोग बड़ा पवित्र मानते हैं, और समझते हैं कि उनका सबसे बड़ा देवता इसी पर्वतशिखरपर रहता है। यदि यबगू त्रिशरण लेकर बुद्ध-उपासक न हो गया होता, तो वह स्वयं सफेद घोड़ेकी बलि देनेमें सम्मिलित होता। उसके बेगों और अनुयायियोंने वहाँ एक बहुत ही सुन्दर सर्वश्वेत घोड़ेको ले जाकर तलवारसे देवताके लिये मारा। तुर्क और उनके वंशके दूसरे घुमन्तू छोटे घोड़ोंको ही ज्यादा रखते हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि शरीरसे छोटे होनेके कारण इनको घास-चारेकी मात्रा भी कम आवश्यक होती है। ये पहाड़ हो या मैदानी जमीन, रेगिस्तान हो या हरियावल, सभी जगह बिना थकावट प्रकट किये चले जाते हैं। कआन, यबगू और बड़े-बड़े बेग ऊँचे कदके घोड़ोंको भी पसन्द करते हैं, लेकिन उन्हें वह शोभाकी ही चीज समझते हैं। ये बड़े घोड़े कम्बोज और बाह्लीक जैसे ही आदमीके कदके बराबर, लाल, सफेद या चितकबरे कई रंगके तथा देखनेमें बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। अनुकूल समतल भूमिमें वह हूणोंके घोड़ोंसे अधिक

तेज चल सकते हैं, लेकिन होते सुकुमारसे हैं। इन्हें यह लोग वूसुनों (शकों) के घोड़े कहते हैं। वूसुन् (शक) कम्बोज, बाह्लीक और जम्बूद्वीप तक गये। उन्हीं में वीम कदफिस, कनिष्क जैसे प्रतापी राजा हुये। हो सकता है, वह अपने साथ इन घोड़ोंको ले गये हों, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि कम्बोज, कपिशा (काबुल) आदिमें जो बड़े-बड़े घोड़े मिलते हैं, वह सब वूसुन घोड़ोंकी ही सन्तानें हैं।

हमारा रास्ता अब उसी महानदी (सेलिंगा) के किनारे-किनारे था, जो अधिकतर पूर्वोत्तरको जा रही थी। जितना ही हम आगे बढ़ते जा रहे थे, उतनी ही वनस्पतिश्री बढ़ती जा रही थी। यबगूकी बातपर मैं पहले विश्वास करना नहीं चाहता था, लेकिन अब आँखोंके सामने वन्य सौन्दर्यको अतृप्त हो पान कर रहा था। पहाड़ छोटे-छोटे थे, जिनपर चढ़नेमें कोई तकलीफ नहीं हो सकती थी। वह सदा हरित देवदारके घने जंगलोंसे ढँके थे, जिनमें बीच-बीचमें सफेद छालवाले भुर्जके वृक्ष भी थे।

महानदी के उत्तर जंगली लोगों (याकूत आदि करगिस) की भूमिमें पहुँचने पर वह महार्घ मृगछालों, मधु और कुछ सोनेकी भी भेंट लेकर यबगू के पास आये थे। यबगू वैसे भी उदार और मृदुल स्वभाव का पुरुष था, और बुद्ध-उपासक होने का खयाल करके वह उनसे और भी स्नेह और सम्मान प्रदर्शित करता था। सामने तो नहीं पीछे उसके अनुचर इसपर असंतोष प्रकट करते हुये कहते थे: ये जंगली चमरों या भालुओं की तरह खतरनाक हैं, हमारे स्वामीको धोखा खाना पड़ेगा। मैं उनकी रायसे सहमत नहीं था। शान्तिल मुझसे मत-भेद रखते थे, और कहते थे: यबगू को और भी सुरक्षा और सावधानी रखनी चाहिए। अब हम उत्तर के उन जंगलियों की भूमि में चले आये थे, जिनके पास सामान ढोने के लिये बारहसिंगे हरिन थे। इनके पास न भेड़ें रहती थीं न घोड़े। तुर्क, अवार अनुकूल भूमि होनेपर घोड़ों, ऊटों या बैलों से चलनेवाली गाड़ियों का भी इस्तेमाल करते थे, यह लोग बर्फ रहनेपर कुत्तों से खींची जानेवाली बेपहिये की गाड़ियों को इस्तेमाल करते थे। उन्हें

लोहेके हथियारों की आवश्यकता होती थी, जिसे वह तुर्कों से लेते, बाकी उनका ओढ़ना-बिछौना, तम्बू सब कुछ चमड़े का था और खाना मांस का।

महानदी से कुछ हट कर हरे-भरे पहाड़ के बीच एक छोटा सा सरोवर था। यबगू को मालूम था, मुझे प्रकृति की रमणीयता बहुत पसन्द है। वह हम दोनों और कुछ अनुचरों को लेकर तालाब के किनारे गया। उस समय वहाँ हजारों पक्षी कलरव कर रहे थे। यह दृश्य वैसा ही मालूम हुआ, जैसा जाड़ों में भारत की विशाल झीलों में। ये पक्षी भी शकल-सूरत में वैसे ही थे। इसमें आश्चर्य करने की आवश्यता नहीं थी, क्योंकि पक्षी तो गगनचारी होते हैं, उनके उड़ने का वेग भी बहुत अधिक होता है। जाड़ों में सैकड़ों की पाँती में उड़ते हुये इन्हें उत्तर से दक्षिण और बसन्त के बाद दक्षिण से उत्तर को जाते मैंने स्वयं देखा था। तो भी इसपर मुझे विश्वास नहीं हो सकता था, कि पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में हजारों की सख्या में जिन पक्षियों को मैंने देखा था, वही यहाँ आ गये हैं। पक्षियों का भी तुर्क लोग शिकार करते हैं, लेकिन यबगूने अपने अनुचरोंका मना कर दिया था। उसका कहना था, यदि भोजन के लिये प्राणी का मारना अनिवार्य ही है, तो ऐसे प्राणीको मारना चाहिये, कि एक के मारनेसे सैकड़ों का पेट भर सके। ऐसे प्राणीको नहीं मारना चाहिये, कि कईको खानेपर एक आदमीका पेट भर सके। मैंने ऐसे तुर्क भटों को देखा था, जो एक पूरी भेड़ खा जाते थे। एक-दो पक्षी या एक-दो छोटी मछलियों से उनका क्या बन सकता था?

अब दिन बड़ा हो गया था और रात छोटी। मध्यान्ह बहुत पहले बीत चुका था, अनुचर लौटने की जल्दी कर रहे थे, लेकिन सरोवर और उसके आस-पास के सौन्दर्य, पक्षियों के कलरव तथा ऐसे दृश्यों-सम्बन्धी कथाओं को देखने सुनने से हमारा मन नहीं भर रहा था। सूर्य पश्चिम की ओर झुक गये थे। मालूम होता था, इस भूमि में उनकी भी गति धीमी हो जाती है। सूर्य की लाली बढ़ती जा रही थी, उसी के साथ-साथ यबगू के अनुचरों की चिन्ता भी बढ़ रही थी। परन्तु उस शान्त प्रकृति में हमें वह बेकार मालूम होती थी।

हमारी संख्या पचाससे अधिक नहीं थी, हम निश्चिन्त थे। इसी समय हमारे पास के जंगलोंसे बिल्लीकी तरह बिना भी आहट दिये हुये वन्य मनुष्य हमारे ऊपर आकर एकाएक टूट पड़े। हथियार उठा कर सजग होनेका भी उन्होंने बहुत कम मौका दिया। घायल करके छोड़ना वह जानते नहीं थे। तुर्कोंने भी वीरता दिखलाई, लेकिन जब एकपर दस अचानक चढ़ दौड़ें, तो वीरता क्या काम कर सकती है? हम दोनों भिक्षु थे, हथियार उठा नहीं सकते थे, और न हमारा तुर्कोंके शत्रुओंसे कोई वैर था, इसलिये खूनकी धारा बहते हम नीरव देखते रहे। हमारे साथी उनसे लड़नेके लिये डेरोंसे निकल कर जंगलके भीतर चले गये, इसी समय सरोवरमेंसे कुछ नौकायें बड़ी तेजीसे दौड़ कर आईं। ये नौकायें पूरे पेड़को खोखला करके बनाई गई थीं। इनमें एक-एकमें १५-२० धनुर्धर बैठे हुये थे। वह यबगू के छोटेसे तम्बूमें घुस आये। हमें यहाँ रातको रहना नहीं था, इसलिये दो-तीन मामूली तम्बू और कुछ अत्यन्त आवश्यक चीजें ही वहाँ-पर थीं। किलकारी मारते वह हमारे पास आये। हम अब केवल यही आशा रख सकते थे, कि कुछ ही क्षणोंमें हमारी यात्रा महायात्राके रूपमें परिणत हो जायेगी। लेकिन, उनके एक आदमी ने आकर तलवार उठानेकी जगह अपना हाथ मेरे कन्धेपर रक्खा। हम एक दूसरेकी भाषा बिलकुल नहीं जानते थे। उनमें कोई तुर्की भाषासे परिचित नहीं था। लेकिन, आदमीके पास संकेतकी एक अपूर्व भाषा है, जिससे उसने बतला दिया—"मा भैषी :"

अध्याय १६

शीत समुद्र और महा मरुभूमि (५५६-५७ ई०)

हमें उनसे कभी ऐसी आशा नहीं थी। इन बनचरोंको हम तुर्कों से भी ज्यादा खूँखार सुन चुके थे। लेकिन, उनकी मुखमुद्रा और संकेतको देखते ही, वह बात गलत मालूम हो रही थी। इशारेसे उन्होंने हमें अपने पीछे-पीछे चलनेको कहा। दुनियामें कहीं भी जाना हमारे लिये एक सा था। हमने सोचा, चलो इसी बहाने एक और नई दुनिया देखेंगे, जिसके देखनेका सौभाग्य शायद किसीको प्राप्त न हुआ हो। उनकी नावें नीचे सरोवरमें खड़ी थीं। हम अपने सामान, जिनमें संयोगसे हमारी अवशिष्ट थोड़ी सी पुस्तकें भी थीं, पीठपर बाँध कर उनके पीछे-पीछे चल पड़े। हम समझ गये थे, कि हाथ लगते ही बनचर यबगू और उसके अनुयायियोंको जीता नहीं छोड़ेंगे। हम क्या सहायता कर सकते थे ? उनके पीछे चलते-चलते हमारे मनमें खेद हो रहा था, लेकिन उस खेदमें कुछ प्रसन्नता भी मिश्रित थी, क्योंकि हम अज्ञात दिशाकी ओर जा रहे थे। नावमें बिठाकर वह इतनी तेजीसे सरोवरकी एक ओर ले दौड़े, जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। हवा निश्चल थी, सरोवर शान्त था। एक पहर चलनेके बाद उन्होंने नावोंके ऊपर कुछ आदमी छोड़ दिये और हमें ले तेजीसे उत्तर दिशाकी ओर चलने लगे। घना जंगल था, जिसके नीचेकी भूमि-में शायद कभी भी सूर्यकी धूप नहीं पहुँचती होगी। गर्मी जरूर पहुँचती थी, नहीं तो वहाँकी बर्फ कैसे गली होती ? नीचे हरी घास उगी थी। ऐसे स्थानमें मार्ग का पता पाना इन्हीं लोगों का काम था। मैं तो समझता हूँ, यदि त्योर्क उनकी खोज में निकलते भी तो रास्ता भूल जाते। मरुभूमि के चाहे वह कुशल पथ-दर्शक हों, लेकिन इन जंगलों की दुनियाँ में उनका कोई बस नहीं चल सकता था। हमारे साथ दस बनचर थे, बाकी शायद यबगूसे लड़नेवाले अपने

साथियोंकी मददके लिए पीछे रह गये थे। हो सकता है, वह नावों को लौटाकर उन्हें लाने गये हों। दिन बहुत लम्बा था और रातका मतलब अन्धेरा नहीं था, क्योंकि इस भूमिमें गोधूलि के समाप्त होते ही उषा आ जाती है, इसलिए मध्यरात्रिमें भी चाँदनीसे कहीं साफ दिखाई देता है। मैं इस समय भी अपनी पुस्तक पढ़ सकता था। इसलिये अन्धेरेके कारण रातको ठहरने की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु आदमियों को विश्राम तो लेना ही था और हम दोनों को और भी। मालूम नहीं हमारे ख्याल से या क्यों, रात को डेढ़ पहरके लिये वह जंगलमें ठहर गये। लोहे और चकमक पत्थरसे उन्होंने आग जलाई, मांसके लिये नहीं जलाई, क्योंकि वह लोग कच्चा मांस भी खा लेते हैं। जंगली जानवर आगको देखकर पास नहीं आते, शायद इस ख्यालसे उन्होंने आग जलाई हो। साथ लाये मांस को भूनकर खाते वक्त हमें भी उन्होंने देना चाहा। हमने इशारेसे बतलाया, कि हमें नहीं खाना है। उन्हें इसका कारण समझ में नहीं आया, लेकिन प्रसन्न मुखमुद्रासे दो-तीन बार इनकार करने पर उन्होंने जोर नहीं दिया। भयका कोई कारण नहीं था। हम लेट गये। थकावटके कारण नींद भी आ गई। कितनी देर बाद जब नींद खुली, तो हमने सौ से अधिक आदमियोंको वहाँ बोलते देखा।

हम केवल आपसमें ही बातचीत कर सकते थे। सोचा, तब तक उनके साथ इसी तरह मूक जीवन बिताना पड़ेगा, जब तक कि कुछ शब्द मालूम नहीं हो जाते। रास्ते में भी वह आपसमें खूब हँसते और बातचीत करते आये थे। हम भी संस्कृत में अब घटित घटनाओंके बारेमें दिल खोलकर बात कर रहे थे। तुर्कीमें बात करनेमें भय था, शायद उनमें से कोई उसे समझता हो, आखिर यह लोग शताब्दियोंसे अवारों और तुर्कोंके अधीन रहते चले आये थे। यह निश्चित ही था, कि धरतीके उत्तरी छोरवाले (साइबेरियाके) इन जंगलोंमें संस्कृत कभी नहीं बोली गई होगी, न वहाँ उसका समझनेवाला कोई आया होगा। यबगू हमें बार-बार याद आता था। बड़ा भद्र पुरुष था। हमारे ऊपर उसने कितना स्नेह और उपकार किया था! हम उसके देशमें रहकर अपने

जीवनको धर्मके काम में लगाने के लिये करीब-करीब तैयार हो गये थे। मालूम नहीं हमारी विद्या, अनुभव, उत्साह और साहसका यहाँ कोई उपयोग हो सकेगा। नींद खुलने पर हम उठ बैठे। आदमियों को चलने के लिए तैयार देखा, मानो वह हमारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे।

इसी समय उनमेंसे एक हमारे पास आया। उसने टूटी-फूटी तुर्कीमें बतलाया—हम चल रहे हैं, तुम्हें किसी तरहका भय मनमें नहीं करना चाहिए। हमने भी विश्वास दिलाया कि हमें कोई कष्ट नहीं है, न तुम्हारे प्रति हमारे मनमें दुर्भाव है। खानेके लिए पूछने पर बतलाया कि हम लोग दोपहर के बाद भोजन नहीं करते। हमारे कपड़े भी विलक्षण थे। तपे हुए ताँबे के रंगके मोटे ऊनी कपड़े की संघाटी और उसी रंग का चीवर हमारे शरीरपर था। इन लोगोंने ऐसे कपड़े पहने आदमियोंको नहीं देखा था। सिर हमारे एक ही दिन पहले घुटे थे। इन लोगोंके मुँह पर दाढ़ी-मूँछ नाम के लिये ही आती हो। सिरके बालोंमें जीवन भर अस्तुरा नहीं पड़ता। फिर हम दोनों उनकी जैसी "मंगोलायित" मुखमुद्रा वाले भी नहीं थे। उन्होंने बाहरी दुनियाके आदमियोंमें तुर्कों और अवारोंको ही देखा था, जिनके चेहरे-मोहरे इन्हीं जैसे होते हैं। हमारी जैसी लम्बी नाकें, सुनहली या नीली आँखें उन्होंने कभी नहीं देखी थीं। शान्तिलका पिता अवार राजकुमार था, लेकिन वह भी चेहरेसे तुर्क नहीं मालूम होता था। घुमन्तू राजकुमार कांस्य देशकी कुमारियोंको भी रख लेते थे, इसलिये इस तरहका रक्त-सम्मिश्रण अवारों जैसे पुराने राजवंशमें होना स्वाभाविक था। इस सीधी-सादी किन्तु उनके लिये विचित्र वेषभूषासे जिज्ञासाका बढ़ना जरूरी था।

तुर्की समझने वाला प्रौढ़ पुरुष दूसरोंसे अपनेको अधिक बहुज्ञ समझे, यह स्वाभाविक था। वह कितने ही वर्षों से तुर्क शासकके शिविरमें अपनी जातिके लोगोंकी भेंटके साथ जाया करता था। एक दो वर्ष, अनिच्छापूर्वक ही सही वह वहाँ रह चुका था, इसलिये बाहरी दुनियाका भी उसे कुछ

पता था। उसने बहुत सोचकर—"तुम लोग देववाहन हो" कह यही बात अपनी भाषामें अपने साथियोंके सामने भी दोहराई। पुरोहित, देववाहन और चिकित्सक तीनोंके कामोंके इकट्ठा करनेवाले व्यक्ति (शमन) इनमें होते हैं, इसलिये हम श्रमणों (भिक्षुओं) को देखकर उसका अन्दाजा लगाना गलत नहीं था। जब शान्तिलने उसके कहनेपर 'हाँ' कहा, तो अपनी बहुज्ञताको दरसाते हुये उसने अपनी भाषामें, जान पड़ता है, हमारी महिमा और भी बढ़ा-चढ़ा कर बतलाई। शायद कहा होगा—"हमारे देववाहनों (ओझा-सयानों) से भी इनमें अद्भुत शक्ति होती है। ये मुर्देको जिन्दा कर सकते हैं, बूढ़ेको जवान बना सकते हैं।" हाँ, बूढ़ेको जवान बनाना इस भूमिमें बहुत आकर्षक बात थी, क्योंकि यहाँके लोग वृद्धोंका जीवित रखना नहीं पसन्द करते, और किसी बहानेसे उन्हें इस तरह छोड़ देते हैं, कि वह अपने आप मर जायें। इन लोगोंका एक जगह कोई निवास नहीं, इसलिये घर-बारके बारेमें सवाल ही नहीं उठता।

रातका भुना हुआ अवशिष्ट मांस उन्होंने हमें दिया। हो सकता है अपने दाँतसे काट कर उसके कुछ भागको उन्होंने खाया हो, लेकिन इस समय हम उसका विचार नहीं कर सकते थे और न ऐसी परिस्थितिके लिये विनय-नियमोंने ही हमें वैसा करनेके लिये मजबूर किया था। रातके डेरेके पास ही पानी था, हमने मांस खाकरके पानी पिया। यह लोग नमक इस्तेमाल नहीं करते, सचमुच यह आदतकी बात है, नमक बिना भी आदमीको भोजनमें कुछ ही समयमें स्वाद आने लगता है, इसे हमने अपने तजर्बेसे देखा। हम अब जंगलोंसे ढँके पहाड़के ऊपरकी ओर चढ़ने लगे। यहाँके पहाड़ बहुत बड़े नहीं होते, इसलिये चढ़ाई कठिन नहीं थी। तुर्की समझनेवाला पुरुष हमसे जब-तब बात करता रहता। देशके बारेमें पूछनेपर हमारे लिये समझाना मुश्किल था। हमने यही बतलाया, कि यहाँसे दक्षिण एक वर्षके रास्तेपर, यदि पैदल जाना हो, और जाड़ोंमें रास्तेमें विश्राम करते जायें तो यहाँसे सिंहलद्वीप पहुँचनेमें शायद दो वर्षसे कम

न लगे। हमारी बात गलत नहीं थी। उनको यह भी अन्दाज लग गया, कि हम कितनी दूरके रहनेवाले हैं। अब उन्हें मालूम हो गया, कि हम अद्भुत शक्ति रखनेवाले ओझा-सयाने हैं, तो हमारा मान-सम्मान और बढ़ गया। इस मान-सम्मानसे मुझे डर लगने लगा, क्योंकि वह हमसे जो आशा रखने लगे थे, उसे पूरा करनेमें सफल नहीं होते, तो उनके कोप का भाजन बनना पड़ता। ये लोग परम यथार्थवादी होते हैं, हरेक चीजका फल प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। हमें सन्तोष इतना ही था, कि हमारा दुभाषिया तुर्की बहुत कम जानता था और बात समझनेका बहाना कर सकते थे।

तीन दिन तक हम उन्हीं प्राकृतिक दृश्योंके बीचसे चलते रहे। कभी पहाड़के ऊपर चढ़ना पड़ता, कभी उतर कर ढालुओं या समतल जमीन पर चढ़ाई कठिन नहीं थी। एक ही दिन और चलनेके बाद अब वह उतनी जल्दीमें नहीं थे। बीच-बीच में ठहर कर अपने लिए शिकार करने भी जाते। जहाँ जंगलमें इतने अधिक शिकार हों, वहाँ पाथेय ढोने की क्या आवश्यकता? जलाशयोंमें वह मछली भी मार लेते, रातके वक्त अर्थात् उस सफेद रातमें जल-पक्षियों को मारते। मौसिम ऐसा था कि शिकार पर निर्भर होकर भूखे रहनेकी आवश्यकता नहीं थी। चौथे दिन दोपहरको हमें जंगलमेंसे धूआँ उठता दिखाई पड़ा। हम उसी तरफ चल पड़े। धूएँ की जगह पहुँचनेसे पहले ही बारहसिंगोंके रेवड़ चरते हुए मिले। हम पाससे गुजरे, तब भी वह नहीं भागे। मालूम हो गया, हमारे गाय-बैलोंकी तरह यह इन लोगोंके पालतू जानवर हैं। धूयेंकी जगह पहुँचने पर चमड़ेके दस-बारह तम्बू मिले। वहाँके स्त्री-पुरुषोंने हमारे साथियोंका स्वागत किया, दुभाषियाके प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित किया। ये तम्बू तुर्क घुमन्तुओं जैसे नहीं थे, कला के प्रति हमारे परिचित घुमन्तुओं से ये कम स्नेह नहीं रखते, तो भी इनमें अधिक सादगी थी। तम्बू क्या लकड़ियों को गाड़ कर उनके ऊपर चमड़ा मढ़ा हुआ था। कपड़े का इनके यहाँ कोई व्यवहार नहीं, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि वह कपड़े से परिचित नहीं हैं। महार्घमृगचर्म

जब इनके यहाँ इतना सुलभ है और यहाँ की सर्दी ऐसी ही गरम पोशाक चाहती है, तो उन्हें ऊनी कपड़े के व्यवहार की क्या जरूरत? यह भेड़ भी नह'ं पालते।

हमारे साथी अपने लोगोंमें आ गये। भाषा आत्मीयता स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। दुभाषिया—उनके सरदार—के सिरकी टोपी और उसमें लगे पंख उसके पदको बतलाते थे। यह तो स्पष्ट ही था कि हमें बन्दी बनाकर ले जानेवाले वह लोग शत्रु नहीं थे। यदि वह हमारी बात समझ सकते, तो हम और भी प्रसन्नतासे उनके साथ बातचीत करते। स्त्री-पुरुषोंकी मुखाकृति एक जैसी तथा तुर्कोंकी अपेक्षा तुर्कीसे अधिक मिलती थी, लेकिन हमेंभी उनमें भेद मालूम होने लग गया था। उनका चेहरा अधिक भारी था, नाक अधिक चिपटी, गाल की हड्डियाँ अधिक उठी थी। शान्तिल इन्हें अधिक कुरूप कहते थे। मैंने कहा: कुरूप और सुरूप का लक्षणभी देश और जाति के अनुसार भेद रखता है। शायद यह लोग हमको कुरूप कहते होंगे, क्योंकि हमारी नाक अधिक लम्बी है, चेहरा इनकी तरह गोल और चिपटा नहीं है। आते देर नहीं हुई कि स्त्रियोंने आकर हमें घेर लिया। कोई हमारे चीवरको हाथसे टटोलकर बड़े ध्यान से देखती। कुछ तरुणियोंने जब हमारे घुटे सिरकी ओर हाथ बढ़ाया, तो मुझे शंका होने लगा—यह हमें अपना खिलौना न बनाये। उनके स्वभाव में बहुत लड़कपन दिखाई पड़ता था। वयस्क और प्रौढ़ भी, मालूम होता था, अभी शैशवसे आगे नहीं बढ़े हैं। उनकी यह सादगी, स्वाभाविकता और भोलापन मुझे अच्छा लगता था, लेकिन खिलौना बनने को कौन तैयार होता? उनको अपनी इच्छा और अनिच्छा समझाने के लिये हमारे पास वाणी नहीं थी, उतनी बड़ी संख्या के सामने अपना विरोध प्रकट करने के लिये हमारे पास बल नहीं था। हम असमंजस में पड़े थे, इसी समय दुभाषिया सरदार की नजर हमारे ऊपर पड़ी। उसने कुछ कहा। हमारी तरफ उठे हाथ जैसे एकाएक आग में पड़ गये। वह तुरन्त पीछेकी ओर हट गये और सबके चेहरे पर सम्मान-मिश्रित भय की रेखायें खिंच गईं। जान पड़ता है, दुभाषियेने

बतलाया कि हम जीवन और मृत्यु पर काबू रखनेवाले ओझा-सयाने हैं। जरा ही देर में एक पाँच वर्ष का बालक हमारे सामने लाया गया। हमने उसके पीले मुख और हड्डी-हड्डी को देखते ही समझ लिया, कि यह बीमार है। लेकिन हमारे पास कोई दवा नहीं थी, और इस भूमिमें जो जड़ी-बूटियाँ थीं, उनमेंसे परिचित औषधियोंको ढूँढ़ निकालना आसान नहीं था। तुर्कों के हाथ में पड़ने पर मैंने फिर चिकित्सा के महत्त्व को समझा था, और कुछ दवाइयोंकी पोटलियाँ भी इकट्ठी कर ली थीं। लेकिन सरोवरके किनारे वन विहार करते उनके लानेकी आवश्यकता नहीं थी। सोच रहा था, यदि अपनी इन दो-तीन पुस्तकोंके साथ उनको भी साथ लिये होते तो कितना अच्छा रहता?

शान्तिल मुझसे ज्यादा व्यावहारिक बुद्धि रखते थे, यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ। उन्होंने कहा:

भन्ते, इतनी चिन्ता क्यों करते हैं। हमारा गंतव्यस्थान यह नहीं है। कुछ ही देरके विश्रामके बाद हमें यहाँसे चल देना है। इसलिये यमराज सहोदर वैद्य का अनुसरण कीजिये।

यानि कानि च मूलानि येन केनापि पिंशयेत्
यस्य कस्यापि दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।

मैं उमरमें बड़ा और देखनेमें भी अधिक सम्माननीय मालूम होता था, इसलिये मुझे अपने हाथसे दवा देनी चाहिये थी। मैंने दुभाषियेसे कहा—मैं दवा ढूँढ़ कर ला रहा हूँ और वहाँसे उठकर हरी घास से ढँकी जगह को पार कर देवदार और भुर्जके वृक्षोंके नीचे गया। मैं बड़े गौरसे किसी औषधि को ढूँढ़ रहा था। वहाँ एक डेढ़ हाथके कोमल सुन्दर पतली-पतली पत्तियोंवाले पौदे को देखकर मैंने उसकी कुछ डालियाँ तोड़ लीं और रुग्ण बच्चेके पास लाकर शान्तिलके हाथमें थमा देनेके लिए कहा। मुझे शान्तिलके ऊपर अपने से अधिक विश्वास था और दूसरे वंचना करनेकी भी मेरेमें हिम्मत नहीं थी। शान्तिलने वहाँ लेटे हुये बच्चे को सिरसे पैर तक उस जड़ीको पाँच बार घुमाया, फिर पत्तियोको नोंचकर देते हुए दुभाषियाको बतलाया—इसे माँ के

दूधके साथ पीसकर शाम-सबेरे पिलाओ। वहाँ उपस्थित नर-नारियोंके ऊपर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। दूध यह लोग माँ का ही सो भी बचपन में पीते हैं, उसके बाद दूधका व्यवहार नहीं जानते। दूधवाली माताओंकी वहाँ कमी नहीं थी।

मध्यान्ह भोजन करके डेढ़-दो घड़ी बाद हम वहाँ से रवाना हो गये। कह नहीं सकते, इस जैसी-तैसी जड़ी-बूटीका बच्चेके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा? हमारे साथियोंके ऊपर उसका अवश्य बड़ा प्रभाव पड़ा, यह हम अच्छी तरह जान रहे थे। यहाँसे हमारे साथके लोग कई टुकड़ियों में बँट गये। शायद वह अपने परिवारोंके ग्रामोंमें चले गये। ग्राम वस्तुतः झुण्डको कहते हैं, चाहें वह मिट्टी-ईंट पत्थरके स्थिर घरोंका झुण्ड हों, या तुर्कोंके नम्देके तम्बुओंका अथवा उत्तरी बनचरोंकी चमड़े मढ़ी कुटिकाओंका। कुछ दुभाषियेने बताया और कुछ अन्दाजसे भी हमने जान लिया, कि अपने नये शासकोंके प्रतिकूल व्यवहारके कारण यह लोग उनसे नाराज हैं। उसीका बदला उन्होंने इस तरह अकस्मात आक्रमण करके लिया। शायद इनको यह नहीं पता था कि जिसकी जमात पर उन्होंने आक्रमण किया, वह स्वयं यबगू—उप-कग्रान है। यबगूके बारेमें पूछनेपर जो जवाब मिला, उससे यह पता नहीं लग सका, कि यबगू मारा गया या बंदी बना।

चार दिन और जाने पर हम एक पहाड़ के ऊपर पहुँचे। वहाँसे दूर समुद्र दिखाई पड़ने लगा। हमारे साथीने उसे महाजल कहा। हमें उसका अर्थ समुद्र मालूम हुआ। जब हम पहाड़ के एक और ऊँचे स्थानपर पहुँचे, तो इसमें सन्देह लगने लगा कि यह सचमुच समुद्र है। अगले दिन हम इस महाजल (बैकाल)* सरोवर के किनारे पहुँच गये। पानीमें हाथ डालक देखा,

* बैकाल झील साइबेरियामें है। यह दुनियाँ की सबसे गहरी झील है जिसका घेरा किलोमीतर है और गहराई १,७४१ मीतर है। उसमें सुदूर अतीतके आज भी ऐसे जीव मिलते हैं, जिनका अन्य जगहों पर लोप हो चुका है। नेरपा किस्मकी सील यहाँ मिलती है। पता नहीं, दूरस्थ सागरोंसे यह

तो वह बहुत शीतल था, लेकिन जलका स्वाद साधारण पानी या जलकी तरह ही मीठा था। शान्तिलने कहा – यह मीठा शीत समुद्र है। क्षार जलकी जगह मीठे जलको पाना आश्चर्यकी बात थी। उस समय हवाके झोंके बहुत हल्के थे और नीलजल थोड़ा ही तरंगित था, लेकिन संध्या को जब हवा तेज हुई तो सचमुच ही उसमें समुद्र जैसी उत्ताल तरंगें उठने लगीं और हम दोनोंने समझा कि चाहे यह समुद्र न हो, तो भी यह महान सरोवर होगा।

यहाँ कैसे आ गई ? काफी गहराईमें गोलौमियान्का नामक पारदर्शक मछली के दर्शन होते हैं। पौराणिक कालकी काई और स्पंज, ठीक अपने पहलेवाले रूप में यहाँ आज भी पाये जाते हैं।

चिरकालसे वैज्ञानिक और खोज का काम करनेवाले बैकाल झीलकी ओर ध्यान देते आ रहे हैं। हमारे सन् से ११६ साल पहले लिखी गई एक चीनी पुस्तक में इसका जिक्र मिलता है। १३वीं सदी में मार्कोपोलोने भी इसका हवाला दिया था। तेरह देशोंकी नौ भाषाओंमें बैकाल झील पर १४०० पुस्तकें लिखी गई हैं।

लिस्तवेनिचोनिये गाँवसे—जो कि बैंकाल झीलसे निकलनेवाली अंगारा नदीके उद्गम स्थानसे थोड़ी दूर पर स्थिति है—सोवियतसंघकी विज्ञान-अकदमी का एक स्टेशन कायम है, जो कि बैकाल झील के उद्गम और इतिहास, झीलके भीतरी जीवनके बारेमें खोजबीन और अध्ययनका काम करता है। इस स्टेशनके वैज्ञानिकोंने इस सम्बन्धमें काफी सामग्री जमा की है। १६२५ तक झील में पाये जानेवाले जीवों की ७७१ किस्मों का पता लगा सका था। १६५१ में इनकी संख्या १७५० तक पहुँच गई ! बैकाल झील के ज्ञात प्राणियों में से ११२६ ऐसे हैं, जो दुनियामें अन्य कहीं नहीं पाये जाते। हालही में एक आदिम कालीन मछली झीलमें मिली है। इस जातिकी मछलियोंका दुनियासे लोप हुए एक युग बीत चुका है।

यह सचमुच ही नई दुनिया थी, हमें अफसोस यही था, कि हम केवल अपनी आँखोंके सहारे ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। दुभाषिया प्रौढ़ पुरुष सैकड़ों कुटुम्बोंका सरदार था, जो समय-समयपर किसी जगह एकत्रित होते थे। यद्यपि हमसे बातचीत करनेके लिये वह समय निकाल लेता था, लेकिन उसकी परिमित शब्दावलिके सहारे हम कितनी बातें जान पाते? इस समय महासरोवर (शीतसमुद्र) के किनारे कोई महोत्सव था, जिसके लिये हजारों नर-नारी एकत्रित हुये थे। हर परिवारमें क्षमताके अनुसार दस-बीस बारहसिंगे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि ये हमारे हरिनोंकी जातिके थे। इनकी सींगोंमें कई शाखायें फूटी थीं, लेकिन वह मुलायम ऊनवाले चमड़ेमे ढँकी थीं। कद भी हमारे बारहसिंगोंसे इनका बड़ा था। बनचर इनसे बोझा ढोनेका काम लेते थे, यदि दूध पीना जानते, तो उनसे दूध भी निकाल सकते थे। वह इनके मांसको खाते और चमड़ोंका अपने तम्बुओंके बनाने या बिछौनेके तौरपर उपयोग करते। यहाँकी भूमि को सर्दी कभी नहीं छोड़ती, यह तो इसीसे मालूम होगा, कि सबसे गरम ऋतुमें भी सबेरेके वक्त यहाँ पानी बर्फ बना मिलता।

मानव-जातिके आजीवन शिशु होनेके कारण आमोद-प्रमोद इन लोगोंके जीवनका अभिन्न अंग है। भोजनके लिये शिकार और मधुसंचय करना यही इनका मुख्य काम है, जिसको भी यह लोग आमोद-प्रमोदके साथ ही करते हैं। तुर्क घुमन्तू भी नाच-गाने और पान-महोत्सवको बहुत पसन्द करते हैं। यह लोग तो इस बातमें उनसे भी आगे बढ़े हुये हैं। महोत्सव पूर्णिमाके आठ दिन पहले शुरू हुआ, और आठ दिन बाद तक चलता रहा। रातमें अन्धेरेका कहीं पता नहीं था, इस प्रकार इनका महोत्सव अखंड चलता रहा। कभी-कभी ये दल बाँध कर शिकारके लिये भी जाते, लेकिन अधिकतर भोजनके लिये अपने बारहसिंगों और संचित खाद्यके ऊपर निर्भर रहते। मधुकी एक तरहकी मदिरा भी यह बनाते हैं। दुभाषिया सरदारसे भी अधिक धाक इन लोगोंपर जिसकी थी, वह था इनका ओझा-सयाना

(शमन)। हमने जब उस लाल-लाल आंखोंवाले लम्बे तगड़े पुरुषको साधारण पोशाकमें देखा, तभी उसकी आकृति ने बतला दिया, कि यह बड़ा होशियार आदमी है। हमें भी सयाना समझा जाता था इसलिये भय अगर किसीसे था तो इसीसे। यदि भाषा मालूम होती, तो हम उससे सीधे कहते, कि हम तुम्हारे पासंग भी नहीं हैं। दुभाषिया द्वारा यह बात कहलाई नहीं जा सकती थी। तो भी हमने निश्चय कर लिया, कि ओझाके साथ पूरी नम्रता दिखलायेंगे। लोगोंके मनसे यह भाव निकालनेमें काफी देर लगी, कि उनका ओझा हमसे बहुत बड़ा है, उसके बड़प्पनको हम भी मानते हैं।

प्राय: आधी रातके समय देवता उसके सिर पर आता। देवताके आवाहनके लिये उसे विशेष तैयारी करनी पड़ती। बहुत विचित्र और भयावनी पोशाक पहनता। कई रंगके मूल्यवान् मृगचर्म का कन्धेसे पैरों तक ढाँकनेवाला उसका चोगा था जिसमें भी बाहों और दूसरी जगहोंपर दूसरे रंगके समूरकी चकति लगी थीं। मालूम होता था, यही चोगा पीढियोंसे पहना जा रहा है। सिरपर लम्बे बालोंवाली खालकी विशाल टोपी थी। उसके पूजाके साधनोंमें मनुष्यकी खोपड़ी, स्त्री या पुरुषके हाथ-पैरकी हड्डियोंके बाजे थे। अपने पूरे वेषको पहन कर मध्यरात्रि की उषाके प्रकाशमें वह आकार बैठता, तो लोग प्रभावमें आये बिना न रहते। उसके सामने खोपड़ीके प्यालेमें मधुकी मदिरा रहती, हाथमें खालका मढ़ा बाजा होता। देवताका आवेश होते ही वह अंगड़ाइयाँ लेने लगता, उसकी आँखें और लाल हो जातीं, फिर वह आधे गाने और आधे बात करनेके स्वरमें गद्य-पद्य मिश्रित बचनों में बोलने लगता। देवता पहले अपना परिचय देते हुये बतलाता- सृष्टिके आदिसे मैं तुम्हारी जातिकी रक्षा करता आया हूँ। जब कभी भी हुकम माननेमें तुमने सर्कशी की, उसका मैंने घोर दंड दिया। महामारीसे कितनोंको मार डाला, बर्फके नीचे सैकड़ोंको दबा दिया, वसन्तकी बेगवती धाराओंमें बहुतोंको बहा दिया, भूखों मारा। इन बातोंको जिस वक्त वह

दोहराता, लोगोंके चेहरोंके देखनेसे ही मालूम होता था, कि वह कितने संत्रस्त हैं। वह डरते, कहीं देवता फिर न नाराज हो जाये। हमारा परिचित सरदार और दूसरे बूढ़े बहुत गिड़गिड़ा कर अनुनय-विनय करते। केवल जबानी अनुनय-विनयको देवता मान कैसे सकता था, इसलिये उसकी भेंटके लिये बारहसिंगे, कीमती छाले और दूसरी चीजें भेंट दी जातीं। यह वार्षिक महोत्सव था, जिसमें ही ओझाकी सबसे अधिक आमदनी होती थी। इनमें सबसे धनी व्यक्ति जो होता है, वह अपने जनों के नाना मालपर अधिकार रखता है।

सभी देशोंमें महोत्सवमें विशेष सुन्दर नई-नई पोशाक पहनी खाने खिलानेमें बड़ी उदारता दिखलाई जाती है। यह लोग तो सबसे अधिक उत्सवप्रिय हैं। इस समय वह दुःख और चिन्ताको अपने पास फटकने देना नहीं चाहते। शायद यही समय है, जब कि सालमें एक बार इनमेंसे कितने ही नर-नारियोंके चेहरेपर पानी पड़ता है। उनका रंग बुरा नहीं था, चेहरे सबके आरक्त थे। लोग उत्सव मनानेमें लगे हुये थे, परी हम दोनोंको ओझासे भारी डर लग रहा था। कहीं वह हमें अपना प्रतिद्वन्दी न समझ ले। हमसे भी कम उसे भय नहीं था। देवताके आनेपर दूसरोंको भले ही पूरा विश्वास हो, लेकिन ओझा स्वयं उतना अन्धविश्वासी नहीं हो सकता। अपने प्रभावको बढ़ानेके लिये जान-बूझ कर वह कई उपायोंसे लोगोंको वंचित करता। यह जीविका और आमदनीका सवाल था, उसपर प्रहार होनेपर सभी मनुष्योंकी तरह वह भी भीषण बदला लिये बिना नहीं रह सकता था। उसने पहले ही दिन दुभाषियेके साथ आकर हमसे बातचीत करनी चाही। हम उस समय शीतसमुद्रके किनारे उसकी उछलती लहरोंको देख रहे थे। दूसरोंका अनुकरण करते जितना भी आदर दिखलाया जा सकता था, उतना आदर हमने दिखलाया। यह निश्चय ही था, कि उसके देवताओंके नाम वही नहीं हो सकते थे, जिन्हें हम जानते थे। इसी समय सूझ आई, और हमने कहा हम बुद्धदेवताके ओझा हैं। यह विचित्र सा नाम

था। यदि कहीं अपने देवताके गुणों को हम बतला सकते तो वह उसे और भी विचित्र मालूम होते। उसके मनमें हमारे देवताके प्रति कोई ईर्ष्या न हो जाये, इसे दूर करते हुये हमने कहा :"हमारे देवताका दुनियामें किसी देवतासे बैर नहीं है और न दूसरे देवताके राज्यमें वह दखल देना चाहते हैं।" ओझाको इससे बड़ा संतोष होना ही चाहिये था। फिर हमने बतलाया- तुम्हारे देशके लोगोंके साथ हम जैसा मेल रखना चाहते हैं, वैसे ही हम तुम्हारे देवताके साथ भी करना चाहते हैं।

पहले दिनकी बातसे ओझाकी आशंकाको हमने काफी दूर कर दिया था। बादके हमारे व्यवहारको देखकर वह और भी संतुष्ट हुआ। यह यद्यपि एक तरहका झूठ बोलना था, लेकिन उस परिस्थितिमें हम मजबूर थे। हमने ओझाकी शक्तिको और बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया, इससे एक फायदा हमें अवश्य था, कि किसीको बीमार या भूत लगे, तो हमें मत्था-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं थी। हम उसे सीधे ओझाके पास भेजते और कभी-कभी खुद लेकर जाते। ओझाकी महिम जहाँ हमारे द्वारा बढ़ी, वहाँ साथ ही उसनेभी अपने लोगोंसे कह दिया, इनका देवता बहुत भला है, यह लोग हमारे हितैषी हैं।

महोत्सव समाप्त होने को आया। यहाँ तक आनेसे हम असंतुष्ट नहीं थे। अपनी जन्मभूमिसे जिस लक्ष्य को लेकर मैं चला था, उसमें कई परिवर्तन हो चुके थे, और मैं अब दुनिया के उत्तरी छोर पर पहुँच गया था। यदि हमारे ज्योतिषशास्त्रकी बात सच्ची है, और पृथिवी सचुमुच ही हमारे आर्यभट्ट (४५० ई०) के अनुसार १०५६ योजन व्यास और ८००० योजन परिधिकी है, तो यहाँ उत्तरी क्षितिजसे ध्रुव नक्षत्र जितना ऊँचा दिखाई पड़ता था, उससे पृथिवी का उत्तरी मेरु (सुमेरु ध्रुव प्रदेश) यहाँ से ३० अक्षांशसे अधिक नहीं होगा। सिंहलद्वीप में अनुराधपुर भूमध्यरेखासे ६ अक्षांशसे भी कम उत्तर ओर है। इसका अर्थ यह हुआ, कि हम यहाँ पर वहाँसे उत्तरी अक्षांश के आधा उत्तर हम चले आये थे। लेकिन, अपने ज्योतिषियों

की सारी बातों को माननेके लिये मैं तैयार नहीं था। आर्यभट्टने प्रत्यक्ष देखे जाते सूर्य के भ्रमणको झूठ कहकर पृथिवी के भ्रमणको मनवाना चाहा, इसे मैं कैसे मानता? "अभिधर्मकोष" में तथागतकी सूक्तियों के आधार पर भूमंडल का जिस तरह वर्णन किया गया है, वह भी आर्यभट्टके विरुद्ध है। इतना कह सकता हूँ, कि आर्यभट्टके तर्क बाज वक्त हमें भ्रम में डाल देते हैं। दौड़ती हुई नावों पर चढ़े हुये आदमी को सचमुच ही नदी का तीर और उसके वृक्ष दौड़ते मालूम होते हैं, और अपनी नाव स्थिर। जो भी हो, हरेक जगहका अक्षांस वही होता है, जो कि वहाँके क्षितिजसे ध्रुव तारा की ऊँचाई। इस सत्यको तो मैं बराबर अपनी आँखों देखता आया हूँ। सिंहलसे इस शीत-समुद्र तक मैंने ध्रुवको क्षितिजसे अधिक और अधिक ऊँचे उठते देखा।

आदमी जितना ही अधिक पृथिवी पर्यटन करता है, उतना ही उसके ज्ञानके विस्तारके साथ जिज्ञासाके क्षेत्र का भी विस्तार होता है। यदि मैं जिस भूमि को यहाँ देख रहा था, उसके बारे में अपने देशवासियों को कहता, तो वह शायद मानने के लिये तैयार न होते। बेपहियेकी कहीं गाड़ी होती है, और यहाँ जाड़ेमें मैंने बेपहियेकी गाड़ीको पहिये वाली गाड़ियोंसे भी तेजीके साथ बर्फ पर फिसलते देखा। हमारे देशके किसी देवताका वाहन कुत्ता भले ही माना जाता हो, लेकिन वहाँ कौन मान सकता है, कि यहाँ चार-चार छ-छ कुत्तोंवाले रथ चलते हैं। जाड़ोंमें पैरोंमें तीन-तीन हाथके काठके जूते य। डंडे लगा कर यहाँके लोग जिस तरह योजनों फिसलनेकी दौड़ करते हैं, उसको वहाँ कौन मानेगा। मक्खन जैसे कोमल रोमवाले यहाँ के मृगचर्म कश्मीर या दूसरे देशोंके राजाओंके पास कभी-कभी देखे जाते हैं, इसलिये उस पर शायद कोई अविश्वास न करे; लेकिन यहाँके लोग बारहसिंगोंके रेवड़ोंक उसी तरह पालते हैं, जैसे हमारे यहाँ भेड़ों और गायोंको, इसको कौन मानेगा? लोग कहेंगे हरिन—स्थलके पक्षी—अन्तिम वन्यप्राणी होंगे, जिन्हें मनुष्य पालतू बनानेमें सफल हो सकता है। मैंने स्वयं यहाँ नहीं

देखा, लेकिन दुभाषिया सरदारकी इस बात पर मैं विश्वास करता हूँ, कि यहाँ से और उत्तर सफेद रंग का भालू होता है। इसे भी हमारे यहाँ गप्प कहा जायगा। घुमन्तू लोगों के लिये एक साल में सौ योजन तक चला जाना साधारण सी बात है, हमारा परिचित सरदार कहता था, उत्तरमें ढाई-तीन महीने के रास्ते पर असली खारा समुद्र है, जिसका पानी साल में नौ महीने बर्फ बना रहता है, वहाँ दिन और रात तीन-तीन महीने की होती है। मैंने इसमें अविश्वास की कोई बात नही देखी। वस्तुत: हम बहुत सी जिन अविश्वसनीय बातों पर विश्वास करते हैं, उनसे यह कहीं विश्वसनीय है। लोग कहते हैं: ऐसा देश है, जहाँ एक टाँग वाले लोग रहते हैं, ऐसा भी देश है, जहाँ के लोगों के कान इतने बड़े होते हैं, कि एक को बिछा और दूसरे को ओढ़ सकते हैं। इसी तरह दैत्यों और राक्षसों के विचित्र और विकराल रूपों की कथायें सुनने में आती हैं। यदि हम उन पर अविश्वास नहीं करते तो इन बातों पर अविश्वास करने की क्या जरूत ?

शायद हम अपनी आंखों देखने के लिये उत्तर के हिम समुद्र की ओर जाते, लेकिन यह लोग ऐसी यात्रायें सदा नहीं किया करते। वहाँ जङ्गल नहीं है, नदियों की मछली और कुछ बर्फ में रहने वाले मत्सजीवी सफेद भालू जैसे जन्तुओं के शिकार पर ही जीविका करनी पड़ती है। यह अपने बारह-सिंगों को उस तृणविहीन भूमि में नहीं ले जा सकते। जीविका के जैसे साधन होते हैं, आदमी अपने जीवन को भी वैसा ही बना लेता है। यहाँ बारहसिंगे पालना सुखद, सुखकर और लाभदायक है, इसलिये इन लोगों की जीविका का सबसे बड़ा साधन बारहसिंगे हैं। और उत्तर वाले वृक्ष- वनस्पति हीन भूमि में रहते हैं, वहाँ किसी भी घास और तृण पर जीविका करने वाले पशुओं को नहीं रक्खा जा सकता, इसलिये वहाँ जो रहते हैं, उन्हें मछली और शिकार पर ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। फिर ऋतु के अनुसार यह लोग अपने विचरनेका स्थान ढूढ़ लेते हैं। हम पक्षियोंकेबारे में जानते थे, कि वह ऋतुके अनुसार एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चली जाती हैं। उद्यानमें

हमारे गाँव में कितने ही तरह के पशु-पक्षी वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा में देखे जाते लेकिन जाड़ों में घर की चिड़ियाँ और पालतू जानवर ही देखने में आते। त्योर्क देश में हमने देखा, गर्मियों में वह लोग ठंडी जगहों की ओर जाते हैं, जहाँ बर्फ के गल जाने से हरी-हरी घास उग आती है, और जाड़ों में दक्षिण की ओर हवा से सुरक्षित ऐसे स्थानों में अपने पशुओंके साथ जाते हैं, जो अपेक्षाकृत गरम है। शीत समुद्र के पास रहने वाले ये बनचर भी गर्मियों में यहाँ और इससे और उत्तर तक जाते हैं, लेकिन जाड़ों में ये भी दक्षिण की ओर उतर जाते हैं। अगर यह मालूम होता, कि उत्तर के मत्स्यजीवी लोग हमें आसानी से मिल जायेंगे, तो अवश्य उधर जाने का हम साहस करते और एक वार पृथिवी के उत्तर के उस महासमुद्र को भी देख आते।

महोत्सव ऐसे मास में हो रहा था, जिसे हमारे यहाँ वर्षा का अन्त कहते हैं। वर्षा यहाँ कम होती है, लेकिन उतनी कम नहीं, जितनी कांस्य देश में। जो कसर रहती है, उसे हिमवृष्टि पूरी कर देती है। वस्तुतः वर्षाकाल में भी यहाँ यदि बारिश ज्यादा देर होती रहे, तो जलवृष्टि हिमवृष्टि में परिणत हो जाती है। महोत्सव के बाद हरेक ग्राम अलग-अलग दिशाओं में अपने पशुओं को लेकर जाने वाला था। इनके चमड़े के चलायमान तम्बुओं के घर हैं। कई परिवार अपने डेरे एक जगह रखते हैं, इसके कारण थोड़ी देर के लिये वहाँ ग्राम बस जाता है। दुभाषिया सरदार और उसके साथी हमें किसलिये यहाँ लाये थे और उन्होंने हमें क्यों इतनी अच्छी तरह रक्खा, यह कहना मुश्किल है। शायद हमारी विचित्र आकृति उनके कौतूहल का कारण हुई, अथवा इनके यहाँ सयानों की बड़ी कदर है, हमें भी वह किसी देवता का सयाना समझते थे। हो सकता है, मनुष्य स्वभावतः क्रूर नहीं है, किसी कारणवश जब किसीसे शत्रुता हो जाती है, तो वह क्रूर बन जाता है। हम तुर्कों में से नहीं थे, यह वह प्रत्यक्ष देख रहे थे, इसलिये हमें मारने से क्या फायदा? हमारा मांस वह खा नहीं सकते थे। हो सकता है, नरभक्षी लोग भी कहीं रहते हों, लेकिन अपनी यात्राओंमें मैंने ऐसे लोगों

को नहीं देखा। जो भी हो, जब हमें ले आनेवालोंने देखा, कि हम भी उनके महाओझाके शिष्य जैसे हैं, वह भूत और देवताओंके बारेमें और औषधि तथा चीर-फाड़के संबन्धमें भी हमसे कहीं अधिक चमत्कार रखनेवाला है, तो हमारे प्रति अब उनकी आसक्ति जाती रही। हमने भी इसे अपने लिये अच्छा ही समझा। उनके ओझा का भी हमारी तरफ ज्यादा खिंचाव था। उसने स्वयं हमें अपने साथ चलनेके लिये कहा। यह हमारे दिलकी बात थी। महोत्सवके समाप्त होनेके बाद जब लोग बिखरने लगे, तो हम ओझाके साथ हो लिये। ओझा का सम्मान और शासन अपने लोगों पर किसी राजासे कम न था। जब वह चलता, तो उसके साथ एक पूरा गाँव हो लेता। उनमें किसीको दास या नौकर कहना मुश्किल है, क्योंकि वह आपसमें एक दूसरेके साथ ऐसा बर्ताव नहीं करते। किसीके पास अधिक किसीके पास कम धन, जरूर है। ओझाको अपने लिये सेवकोंकी आवश्यकता थी। ये सेवक उसकी अपनी जातिके थे। शायद इसलिये भी वह काम के वक्त ही सेवककी तरह माने जाते थे, नहीं तो खाने-पीने, आमोद-प्रमोदके समय वह अपने मालिकके परिवारके लोगों जैसे ही थे।

एक दिन हमारा १५ तम्बुओंका गाँव दक्षिणकी ओर चल पड़ा। हजारसे कम बारहसिंगे और लोगोंकी संख्या भी ५० से कम नहीं थी। इन बनेचरोंमें अपने कबीलेके भीतर घनिष्ठ भाईचारा होता है, खूनके सम्बन्धको बहुत माना जाता है। अपने पास-पड़ोसके कबीलोंसे यदि किसी वक्त कोई झगड़ा खड़ा हो गया, तो वह बड़ा उग्र रूप ले लेता है। खूनका बदला खून यहाँ का विधान है। किसी कबीलेका, एक व्यक्ति अगर मारा गया, तो ऐसे खूनी बदलोंकी परम्परा चल पड़ती है, जो पीढ़ियों तक चलती रहती है। ऐसे समय ओझोंका महत्व बढ़ जाता है। वह देवताके नामपर एक दूसरेसे मेल करा सकते हैं, और चाहें तो झगड़ेकी आगको और भड़का सकते हैं। जहाँ इस तरहके आक्रमणका किसी समय भी डर हो, वहाँ एक गाँव केवल अपने ऊपर विश्वास करके नहीं रह सकता, इसलिये उनके दूसरे गाँव भी इतनी दूर पर अपने डेरे डालते हैं, कि जरूरत

पड़नेपर वह एक दूसरेकी मददके लिये आ सकें।

सबसे अधिक कठिनाई हमारे लिये भाषाकी थी। तीन महीने इनके साथ रहते हो गया था। हम दोनों ही भाषा सीखनेका बहुत शौक रखते थे और जल्दी सीखते भी थे; पर जो इतने महीनोंमें हमने वह कुछ सीखा था, शब्दकोश इतना नहीं था, कि हम रोजकी आवश्यकताओंके सिवाय किसी अन्य विषयपर बातचीत कर सकें। ओझाको हमसे बात करनेकी और भी तीव्र इच्छा थी। कुछ शब्दों और कुछ संकेतोंसे वह बात करना चाहता, किन्तु गाड़ी बहुत आगे नहीं बढ़ पाती। एक दिन हमें अपनी तालपोथीको पढ़ते देखकर उसने यह जानना चाहा, कि यह क्या है, और मैं उसे देखकर क्या पढ़ रहा हूँ। उस दिन हम दोनों एक दूसरेको अपनी बात समझानेके लिये सारी शक्तिसे लग पड़े। हमने एक एक अक्षर लिखकर बतलाना चाहा, कि यह क है, और यह ख। ये लोग भी आदमी, बारहसिंगे, वृक्ष, पानी की तस्वीरों के रेखाचित्र खींचते हैं। अपने चमड़ोंके वस्त्रोंपर बड़े सुन्दर रंगमें फूल-पत्तों और मनुष्य-प्राणियोंके संकेत बनाते हैं। लेकिन, तालपत्रमें हमारे जिस तरहके संकेत थे, वह आकृतिके नहीं, बल्कि उच्चारणके थे। उस समय मुझे चीनी लिपि मालूम नहीं थी। यदि उसकी पुस्तक मेरे पास होती, तो मैं ओझाको समझाने में कुछ सफल होता। यह दिक्कत बराबर रही। शायद वर्षों वहाँ रहना पड़ता, तो दूर हो जाती। अधिकसे अधिक वह यही समझ सका, कि मैं भी उसी तरहके मन्त्र पढ़ रहा हूँ, जैसे कि वह पढ़ा करता है और स्मरणके लिए मेरी पोथीमें कुछ संकेत हैं। तालपत्तोंको उसने यही समझा, कि यह भी कोई चमड़ा है। मैं माथापच्ची करनेके लिये तैयार नहीं था, कि यह चमड़ा नहीं, किसी वृक्षका पत्ता है। जो साकार वस्तुएँ थीं, उनका समझना-समझाना हमारे लिए कठिन नहीं था, लेकिन वाणीके विषय बहुत सी निराकार वस्तुएँ भी हैं, उनको समझाना अपने परिमित शब्दोंमें हमारे लिए बहुत कठिन था। ओझा बहुत चतुर और बुद्धिमान आदमी था, यह हमें मालूम था और यह भी, कि हम उसकी दया पर निर्भर हैं; इसलिये हमारी बराबर यही कोशिश रहती थी, कि वह किसी तरह रुष्ट न होने

पाये। अपने स्त्री-बच्चों और लोगों पर हमने उसे गुस्सा होते देखा था। ऐसे समय वह पागलकी तरह व्यवहार करता, सबको एक ओरसे बुरी तौरसे पीटता। यदि हमारे ऊपर गुस्सा होता, तो हम भी न बच पाते। यह दूसरी बात थी कि गुस्सा शान्त होते ही, वह पश्चात्ताप करते हुए प्रतिकार करते बहुत अनुनय-विनय करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहता।

हम जिस भूमिमें घूम रहे थे, वह हरी-भरी पहाड़ी थी। पहाड़से हिमालय और भारत के पहाड़ोंको न समझ लें। यह पहाड़ बिल्कुल छोटे छोटे अधिकतर मिट्टी से ढँके थे, जिनपर नाना प्रकारके वृक्ष वनस्पति उगे हुए थे। किसी जगह हम दस दिन ठहरते, और किसी जगह उससे कम-ज्यादा। दिशा भी सीधी दक्षिणकी ओर नहीं थी, कभी हम कुछ दूर पूर्व की ओर जाते, और कभी दक्षिण की ओर। सब मिलाकर हम शीत समुद्रसे दक्षिणकी ओर ही चल रहे थे अब वह अपने जाड़ों की स्थानकी ओर बढ़ रहे थे। मैं पक्की तौरसे तो नहीं कह सकता, लेकिन जब एक विशाल नदी को हमने शीत समुद्रमें गिरते देखा और फिर घूम-फिर कर हम उसीके किनारे आये, तो मुझे ख्याल हुआ, शायद यह वही नदी है, जिसके किनारे-किनारे हम यबगूके साथ-साथ चले थे। मैं जानता था: यबगूके आदमी बनेचरों को दंड दिये बिना नहीं रहेंगे। यदि छोटे-मोटे अधिकारीके साथ इन्होंने लड़ाई की होती, तो शायद मामूली दंड से भी छुट्टी मिल जाती। यदि यबगू मारा गया, तो तुर्क इनका उच्छेद किये बिना नहीं रहेंगे।

जब हम महानदीके किनारे पहुँचे, तो बर्फ जहाँ-तहाँ जमीनको ढाँकने लगी थी। वहाँ तीन तरफ पहाड़ थे और एक तरफ नदी, बीचमें काफी समतल भूमि थी, जिसकी घास धीरे-धीरे बर्फसे ढँकती जा रही थी। पहुँचते ही नर नारी घास काटकर जमा करनेमें लग गये—जाड़ोंमें जानवरोंके लिए घास चाहिए। मनुष्योंके आहार का भी निश्चित प्रबन्ध करना था, क्योंकि जाड़ोंमें शिकार सुलभ नहीं होते। घास चारेकी कमीके कारण बारहसिंगे बराबर दुबले होते जा रहे थे। गाँवने सौसे अधिक बारहसिंगे मारे। उनके चमड़ों को अलग कर लिया

और बाकी मांस को पेड़ों पर टाँग दिया। जहाँ तक शिकारसे आहार मिले, इस मांस पर लोग हाथ नहीं लगाते थे। बारहसिंगों और मनुष्योंके अतिरिक्त कुत्ते भी हमारे साथ थे। यहाँके लोग कुत्तों के रथों का कम इस्तेमाल करते हैं, लेकिन उत्तरके मत्स्यजीवियोंके लिए कुत्ता ही सब कुछ है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि यहाँ जितनी सर्दी मैंने कहीं नहीं देखी। यदि पहलेसे अभ्यस्त न हो गया होता, तो शायद बर्दाश्त करना मुश्किल हो जाता। मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो सभी तरहके जलवायु को बर्दाश्त कर सकता है। यदि इतनी असह्य सर्दी है, तो उसके साथ उतनेही गरम और मुलायम चमड़े भी यहाँ मिलते हैं। हम ओझाका कोई काम नहीं कर सकते थे, सिवाय इसके, कि हमारी वजहसे उसकी महिमा लोगोंमें बढ़ती थी। पर वह हर तरहसे हमारे आरामका ख्याल रखता था। उसने हम दोनोंके लिये नये लबादे बनवाकर दिये। उस जाड़ेमें चीवरकी नहीं बल्कि इसी लबादेकी जरूरत थी। आँख-नाक छोड़कर शरीरका कोई अंग खुला रखना दिनमें भी मुश्किल था। आड़की जगह थी, इसलिये हवा तेज होने पर भी वहाँ उसका जोर नहीं लगता था, नहीं तो हमें डर है, उस खालेके लबादेमें भी हमारे दाँत कटकटाते। लेकिन, यह लोग उसके इतने अभ्यस्त थे, कि इतनी सर्दीमें भी हाथ-मुँह खोले रह सकते थे और बहुत कड़ाकेके जाड़ेके समय ही अपने सारे शरीरको ढाँकते। अपनी पोशाकमें वह बिलकुल भालू जैसे मालूम होते। मैं उनकी इस पोशाकके मूल्य की ओर ख्याल करता। ये चमड़े तुर्कोंके पास या चीनमें पहुँचकर सोनेके मूल्यपर बिक सकते थे, जिन्हें वे साधारण तौर से पहनते थे। पर जीवनका मूल्य सबसे बढ़कर है। भोजनके लिये मांसकी प्रधानता थी। नदी ऊपरसे जम गई थी, लेकिन उसके नीचे प्रवाह जारी था। यह लोग बर्फमें छेद करके कभी-कभी मछली मार लाते थे, लेकिन उसका मिलना अधिकतर संयोग पर निर्भर था। शीत समुद्रमें लोगों ने ओझा को मछलियाँ भी दी थीं, जो अब सूखी होकर यहाँ तक आई थीं। ओझा हमें वही चीजें खानेको देता, जो खुद खाता था। भोजनमें अन्नका कोई स्थान नहीं

था, कुछ जंगली फल और कन्द थे, जो कभी-कभी स्वाद परिवर्तनके लिये मिलते ।

आगे क्या करना है, इसके बारेमें कुछ निश्चय करना हमारे हाथ में नहीं था। हमें रास्ता भी मालूम नहीं था, और न इसके सिवाय कुछ जानते थे, कि हम दुनियाके एक बहुत उत्तरी भागमें हैं। छ महीने बीतते-बीतते भाषाका ज्ञान हमारा कुछ और बढ़ा। यह कितना बड़ा सहारा है, इसे हमारी जैसी स्थिति के आदमी ही जान सकते हैं। सोने, चाँदी, लोहे, ताँबे की चीजोंका मूल्य और उपयोग इन थुमन्तुओंके यहाँ भी है; जिसके ही कारण उन्हें बाहरके लोगोंसे सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। हर साल अपनी विक्रेय चीजोंको बेंच कर आवश्यक वस्तुओं को मँगाना भी उनके जीवनका एक काम है, लेकिन उसके लिये भी जरूरी नहीं है, कि सभी अपनी-अपनी चीजें लेकर दक्षिणके उन लोगों के पास जायें, जो उनके बदलेमें दूसरी चीजें देते हैं। तुर्कोंसे झगड़ा मोल लेकर इस साल इन्होंने अपने लिये संकट भी पैदा कर लिया था। यदि इस साल की गर्मियों में तुर्क दण्ड देनेके लिये उनके पास तक नहीं पहुँचे थे, तो अगले साल वह छोड़नेवाले नहीं थे।

ओझाको भी अपने कुछ बहुमूल्य मृगचर्म तथा दूसरी चीजें भेजकर आवश्यक चीजें मँगवानी थीं, लेकिन डर था, कि वहाँ जाने पर तुर्क उसके आदमियों को पकड़ लेंगे। ओझा स्वयं जानेकी तो हिम्मत नहीं कर सकता था, पर दूसरों को भेजे बिना नहीं रह सकता था। इस समय हमारी उपयोगिता उसे मालूम हुई। हम तुर्क नहीं थे, लेकिन तुर्कोंकी भाषा जानते थे, तुर्क-यबगूके सम्मानित मेहमान रह चुके थे। जब इसकी चर्चा चलाई, तो भीतरसे बहुत प्रसन्न होकर भी हमने बाहरसे न प्रकट करते हुए उसे यही बतलाया, कि तुम्हारे उपकारोंका इस प्रकार बदला देनेके लिये हम तैयार हैं। जाड़ा बीतनेसे पहले ही यह निश्चित हो गया, कि ओझाके आदमियोंके साथ उसकी चीजोंके बिकवाने के लिये हमें दक्षिणाभिमुख जाना होगा। पत्तों और डालियोंमें हिम मढ़े देव दार वृक्षोंको हमने पहले भी देखा था, किन्तु प्रकृतिका सौन्दर्य

हर देश और हर काल में नया होता है। जिस पहाड़के नजदीक हमारा डेरा पड़ा था, उसके ऊपर सफेद हिम से ढँकी ढालुआँ पहाड़ी थी, नीचे सारे वृक्ष कुछ काले अंगों को छोड़ कपूर के बने हुये थे। नदी का पानी भी उसी तरह हिमाच्छादित बना ऊपर से दानेदार हिम से ढँका था। चाँदनी रात में वह दृश्य बड़ा मोहक मालूम होता, विशेषकर इसलिये भी, कि हिमालय की तरह दृष्टिका अवरोध करनेवाले यहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ नहीं थे।

आखिर छ महीने के जाड़ों के बाद वसंतके आने की सूचना मिलने लगी, जब कि हिम दोपहरको पिघलता दिखाई पड़ा, लेकिन नदी अभी उसी तरह सफेद चादर ओढ़े सोई थी। हमारे रहनेके स्थान में अभी बर्फ के पिघलने में देर थी, लेकिन यहाँके लोगोंको मौसिम का पता रहता है; इसलिए एक दिन दस आदमियों और पन्द्रह बारहसिंगों के साथ ओझाने हमें बिदा किया। उसका बहुत आग्रह था, कि हम लौट कर आवें। उस समय हम नहीं कह सकते थे, कि हमारा फिर लौटना नहीं हो सकेगा। लेकिन, हरेक कदम आगे बढ़ाने पर सन्देह होना हमारे लिये स्वाभाविक था, क्योंकि हमारी यात्रा का दिशापरिवर्तन अनेक बार हो चुका था। जितना आगे बढ़ते रहे और दिन बीतते गये, उतना ही हम दिन को अधिक उष्ण पाते थे। यद्यपि रात अब भी वैसी ही ठंडी थी। आठवें दिन हम एक दूसरी नदी के किनारे चल रहे थे। पहलेपहल सबेरेके वक्त उसके किनारे सफेद पुष्पमालाओं की तरह बर्फ अब भी तैरती बह रही थी। हेमन्त से पीछा छूट रहा है, यह जान कर हम दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। हमारे साथी डर रहे थे। उनको गर्मियों की घटना का पता नहीं मालूम था, तुर्कों के हाथमें पड़ने पर उनके साथ क्या बर्ताव किया जायेगा। ओझाने उन्हें बहुत सिखा-पढ़ा दिया था, और अपने कबीले का नाम छिपा कर पूर्वके किसी दूसरे कबीले का नाम बतलाने को कहा था। हम उन्हें बराबर सान्त्वना दे रहे थे। हम गन्तव्य स्थानपर हफ्तों बाद पहुँचे। इससे आधे ही समय में हम वहाँ पहुँच सकते थे,

किन्तु अपने को छिपाने के लिये हमारे साथियोंने घूम-घुमौवे रास्ते पकड़े थे। सोलहवें दिन हमें हिम-विहीन जगह मिली। वहीं पहलेपहल हमने ऊँट देखा। उनके बीच में सींगों की आकारमें अपने सिर को सजाये एक तरुणी दीख पड़ी। तुर्क और उनके भाई अवार तथा दूसरी जातियों का भेद करना हमारे लिये भी मुश्किल था, हमारे साथियोंके लिये तो कहना ही क्या? जब नजदीक पहुँच कर शान्तिलने तरुणीसे तुर्की में बातचीत की, तो मालूम हुआ, वह अवार जातिकी है, यद्यपि वह अपने को अवार कहने के लिये तैयार नहीं थी। इन घुमन्तुओं में शक्ति-परिवर्तनके साथ नाम और जाति का परिवर्तन भी हो जाता है। तुर्कों के शत्रुओं का नाम बतलाना खतरे की बात भी हो सकती थी।

हमारे ऊपर से एक बड़ा बोझा उतर गया, जिस वक्त कि हम दोनों ने खुल कर तुर्कीमें उस तरुणीसे बातचीत की। वाणी बिना सचमुच मुँहपर नहीं बल्कि बुद्धिपर ताला लग जाता है। बनेचरों में यदि साल दो-साल रहते, तो वह ताला जरूर खुल जाता। हम जिस समाजके थे, वह बनेचरोंकी अपेक्षा तुर्कों के नजदीक था। वैसे भी हम अपने विचारको अभी बतलाना नहीं चाहते थे, अभी भी सर्दी थी। लेकिन धूपमें गर्दन के पास लबादे के हट जाने के कारण भीतर से ताम्रवर्ण का चीवर दिखलाई पड़ रहा था। तरुणी उस ओर बड़े ध्यानसे देख रही थी। हमारे चेहरे-मोहरे भी भिन्न थे, इसलिये शायद वह किसी बातका सन्देह करती हो, हमने यही सोचा। इसी बीच उसने एकाएक पूछ दिया—"तुम बख्शी (भिक्षु) तो नहीं हो।" हमें झूठ बोलनेकी आवश्यकता नहीं थी। जब सिरपरसे टोपी हटा कर हमने घुटे सिरोंको दिखला दिया, तो उसने बड़े भक्ति भावसे हमारा अभिवादन किया, और दूर बैठे लड़केको जोरसे पुकार कर हमें साथ लिये अपने डेरेकी ओर चली। छोटी सी पहाड़ी को लाँघ कर हमें परिचित सफेद नम्दोंके कई तम्बू दिखाई पड़े। तरुणीने बतलाया, ये हमारे डेरे हैं। शान्तिल मेरी रुचिके अनुरूप उससे अधिकसे अधिक बातें जाननेकी कोशिश कर रहे थे, और वह भी जबानपर लगाम

लगानेके लिये तैयार नहीं थी। उसने भिक्षु बहुत देखे थे, उसके सारे लोग बुद्धभक्त थे। यहाँसे दो दिन के रास्तेपर एक संघारामके होनेका भी पता लगा, और यह भी मालूम हुआ, कि हमारे साथियोंको अपनी चीजें जहाँ बेंचनी हैं, वह हाट भी वहीं लगती है, वहाँ चीनके व्यापारी भी आते हैं। तरुणीने चीनी भिक्षुओंको भी देखा था, और तुर्क-अवार भिक्षुओंमेंसे तो कुछ उसके सम्बन्धी भी थे। हमें मालूम होता था, कि मानो हम अपने देशमें आ गये।

बात करते-करते पता नहीं लगा, कब हम तम्बुओंके पास पहुँच गये। जिस मुलाकातसे हम दोनोंके हृदयमें आनन्दका सागर तरंगित हो रहा था, उसीका प्रभाव हमारे साथियोंपर उलटा पड़ रहा था। उनके चेहरेपर स्पष्ट भय और शंकाके चिन्ह थे, जिसको हटानेके लिये हम बराबर कोशिश करते थे, और हमारे प्रति तरुणीके व्यवहारको देखकर उन्हें कुछ-कुछ ढारस होने लगा था। तम्बुओंमें पहुँचनेसे पहले ही हमने अपने लबादे निकाल कर बारहसिंगोंपर रख दिये थे। विशुद्ध भिक्षु वेष में हमें देखकर तम्बुओंके बाहर बैठे कितने ही स्त्री-पुरुष पहले हीसे हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। तरुणी दौड़ कर आगे गई, और उसने बतलाया—ये जम्बूद्वीपके भिक्षु शीतसमुद्र और उत्तरके बनेचरोंमें से होकर आ रहे हैं। हमारे नजदीक पहुँचते ही नर नारियोंने बड़े भक्तिभावसे भूमिपर हाथ रख अभिवादन किया। बाहर आसन बिछ गया और बातकी बातमें चमरीका गरम दूध हमारे सामने आ मौजूद हुआ। अपने साथियोंके बारेमें हमने वही परिचय दिया, जो कि ओझाने बतलाया था। यबगूके साथ हुई घटनाका इनको बहुत पता नहीं था, लेकिन यह जान कर हमें बड़ा संतोष हुआ, कि वह बनेचरोंके हाथमें कुछ दिनों बंदी रह कर सम्मानके साथ लौटा दिया गया और यबगूने उन्हें माफ भी कर दिया। मैंने जब यह बात अपने साथियोंसे कही, तो पहले तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ, पर पीछे उन्हें भी उसी तरह आनन्द आया, जैसे कि हमको इस नई दुनियामें आने पर।

अब बर्फ कहीं-कहीं छायाकी जगहोंमें ही रह गई थी, बाकी जगह उसका

स्थान नव-अंकुरित तृण ले रहे थे। भुर्ज वृक्षके ऊपर कलियोंके रूपमें पत्तियाँ आने लगी थीं। अपने भिक्षुओंको घररर आया देखकर तुर्क गृहपति हमें जल्दी छोड़नेके लिये क्यों तैयार होने लगे? उनकी चलती, तो एक सप्ताहसे पहले हमें छुट्टी नहीं मिलती, पर हमें अपने साथियोंका भी खयाल था, जो जितनी जल्दी हो, वहाँसे लौटनेके लिये उतावले थे। जब तक वह लौट कर नहीं पहुँचते, तब तक हमारे कृपालु ओझाको भी भारी चिन्ता बनी रहती। उस दिन हम दोपहरसे पहले ही पहुँचे थे। अगले दिन गृहपतियोंके आग्रहपर हमने एक दिन और रहना स्वीकार किया, जब देखा कि हमारे साथी भी अपने और अपने पशुओंके लिये ऐसे विश्रामके इच्छुक हैं। शान्तिलने उपासकोंके लिये परित्राण (सूत्र) पाठ किया। मैंने उन्हें तथागतके जीवनपर उपदेश दिया।

वहाँसे विदा होते समय तरुणीका पति और उसका चचा हमारे साथ चले। उनका भी हाटके स्थानपर काम था, दो दिन बाद जानेकी जगह उन्होंने हमारी सेवा करनेके अवसरसे लाभ उठाना चाहा। हमारे लिये भी यह अच्छा था। पलक मारते-मारते प्रकृति जाग उठी थी, कलियाँ फूट कर नरम किसलय बन गईं, जो सफेद भुर्ज वृक्षपर बड़ा सुन्दर मालूम होती थीं। चारों तरफ मूल प्रकृति के ही विविध रंगोंमें देखनेका सौभाग्य आँखवालोंको ही नहीं प्राप्त था, बल्कि अन्धे भी नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरवको सुनकर समझ सकते थे, कि वसन्त आ गया है। इस मनोरम दृश्यके भीतरसे होते दो दिन बाद हम एक नदी (तोला) के दाहिने तटपर अवस्थित उस जगहपर पहुँच गये, जहाँ हमें जाना था।

नदीके तटकी समतल भूमिपर सैकड़ों तम्बू पड़े हुये थे, हमारे रहते-रहते जिनकी संख्या पाँचगुनी हो गई।

हम समझते थे, उत्तरसे आनेवालोंमें हम ही पहले हैं, लेकिन वहाँ अपने बारहसिंगोंके साथ बहुतसे चमड़ेके तम्बूवाले आ चुके थे। वह हमारे साथियोंके कबीलेके नहीं, बल्कि उस कबीलेके थे, जिसका नाम ये

अपने लिये बतलाना चाहते थे, और जिसकी अब जरूरत नहीं थी। अपने आदमियोंको देखकर उनके मनमें खुशी होनी स्वाभाविक थी, और यह सुन कर और भी वह सतुष्ट हुये, कि यबगूके ऊपर आक्रमणके कारण हमें आफतमें नहीं पड़ना होगा। उन्हें बनेचरोंके पास छोड़ कर हम अपने दोनों उपासकोंके साथ संघाराममें गये।

संघाराम मिट्टीकी दीवारोंका बना था, जिसमें लकड़ीका बहुतायतसे उपयोग किया गया था। कारुकार्य और चित्रसे अलंकृत वह बहुत सुन्दर मालूम होता था। जाड़ोंमें यहाँ पचास भिक्षु आ रहते। बाकी समय वह अपने उपासक घुमन्तुओंके पास जहाँ-तहाँ चले जाते। हमारे पहुँचनेके समय वहाँ भिक्षुओंकी संख्या पन्द्रह थी। संघारामके अतिरिक्त दो एक और छोटे-छोटे मकान थे। दरवाजा ठीक उसी तरह का था, जैसा जम्बूद्वीपके विहारोंका बीचमें आँगन एक तरफ फाटक, सामनेकी ओर चारों तरफ भिक्षुओंके रहनेके लिये कोठरियाँ थीं, जिनकी ही पाँतीमें दरवाजेसे सामनेकी ओर प्रतिमागृह और आँगनमें छोटा सा स्तूप था। सभी चीजें छोटी लेकिन बहुत सुन्दर थीं। दरवाजेसे भीतर घुसते ही एक प्रसन्नमुख भिक्षु हमारी तरफ आये। किस भाषामें बोलें, यह सोचते कुछ ठमक कर उन्होंने तुर्की भाषामें पहले हमारा वर्ष पूछा। जब मैंने १६ वर्ष कहा, तो तुरन्त उकुड़ूँ बैठ कर उन्होंने मेरा अभिवादन करते हुये अपना १५ वर्ष बतला कर शान्तिलके अभिवादनको भी स्वीकार किया। भिक्षुओंमें उपसम्पदा (भिक्षुव्रत)-ग्रहण करनेके समयसे वर्ष गिना जाता है, और उसीके अनुसार बड़ा-छोटा मान कर अभिवादन किया जाता है। भिक्षुने अपनेको चीनी भिक्षु बतला कर हमारे बारेमें पूछा। मैंने अपनेको जम्बूद्वीपका और शान्तिलको कुमारजीवकी जन्मभूमि (कूची) का बतलाया। चीनमें यद्यपि हमारे देशके भिक्षु दुर्लभ नहीं हैं, लेकिन इस भूमिमें तो शायद हमीं अपने देशके पहले भिक्षु थे। संघारामके स्थविर (महन्त) भी मुझसे कम वर्षके थे, इसलिये मैं वहाँका सर्वज्येष्ठ भिक्षु या स्थविर था,

और उसपर बुद्धकी जन्मभूमिका, फिर मेरी आवभगतमें यदि सारा संघाराम उठ खड़ा हुआ, तो यह स्वाभाविक था। हमें सबसे अच्छी कोठरियोंमें ठहराया गया। संध्याका समय था विकाल भोजन हम नहीं कर सकते थे, इस लिये मधुका रस दिया गया। यदि हम दक्षिणकी ओरसे आते, तो भी बहुत सी बातें पूछनेको थीं, लेकिन जम्बूद्वीपसे चल कर हम उत्तरके घुमन्तुओंके भीतरसे आ रहे थे, इसलिये जिज्ञासाके लिये बहुत सी बातें थीं। भाषा न जाननेके कारण संघारामके भिक्षु यह नहीं जानते, कि हर साल सैकड़ोंकी संख्यामें शीतसमुद्र तटवासी लोग यहाँ अपनी चीजोंके बेचनेके लिये आया करते हैं। वह इतना ही जानते थे, कि यह उत्तरके वनेचर हैं, चार दिनके रास्तेके या चार महीनेके, इसका उन्हें कोई पता नहीं।

——:०:——

अध्याय १७

महाचीनीकी ओर (५५७ ई०)

यदि आदमी बहुत घूमा हुआ न हो—बहुत घूमनेवाले भी हर जगह तो नहीं पहुँच सकता—तो चार ही कदम आगेकी दुनियाँ बिलकुल अन्धकार-पूर्ण मालूम होती है। जैसे-जैसे आदमीकी आँखे या प्रत्यक्षदर्शीसे सुननेवाले कान अपने गोचर क्षेत्रको बढ़ाते जाते हैं, वैसे ही अन्धकार हटता जाता है। पृथ्वीके जिन मार्गों में मैं घूमा, उनके बारेमें मैं अन्धकारमें नहीं था, लेकिन शीतसमुद्रसे इस हरी-भरी भूमि और उसके पहाड़ोंके बीच बहती सुन्दर नदीके किनारे जिस प्रथम संघाराममें मैं पहुँचा था, वहाँसे आगे अन्धकार ही मालूम होता, यदि मेरी मुलाकात वहाँ पर चीन भिक्षु बोधिसंघ (बो-संग) से न हुई होती। उन्होंने बतलाया कि यद्यपि रास्ता बीहड़ है, डेढ़ सौ योजन से ऊपर वह ऐसी मरुभूमिसे जाता है, जैसी शायद दुनियामें कहीं न होंगी, पर रास्ता साधारण नहीं, बल्कि वणिक-पथ है, जिसपर ऋतुके समय सार्थ बराबर चलते रहते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया, कि चीनमें आजकल तथागतके शासनका सम्मान है। वहाँपर बहुत से भारतीय भिक्षु भी रहते हैं। चीन महान् देश है। वहाँके लोग विद्या और कलामें बड़े निपुण हैं, यह मुझे पहले हीसे मालूम था। जब यह मालूम हुआ, कि अगर जल्दी यात्रा की जाये, तो एक महीनेके भीतर ही चीनमें पहुँचा जा सकता है, तो मुझे बड़ा संतोष हुआ। अभी तक मैं यही आशा रखता था, कि बनचरोंकी भूमिसे निकलकर त्योर्क-अवार लोगोंमें ही रहना होगा। हम दोनों बल्कि इसके लिये कुछ तैयारी करने लगे थे, 'अभिधर्मकोश'के और भी कितने ही शब्दोंके तुर्की पर्याय बना रहे थे, लेकिन बो-संगके मिलनेके बाद आगे जानेका ही निश्चय किया।

संघारामके स्थविर और भिक्षु ऐसे ही छोड़नेवाले नहीं थे। स्नेहका बन्धन सबसे दृढ़ होता है। वह हमारी सब तरहसे खातिर कर रहे थे। यद्यपि स्थानीय भिक्षुओंमें सभी पढ़नेके इच्छुक नहीं थे, लेकिन कुछको अवश्य उसकी इच्छा थी। हमने भी जल्दी करनी नहीं चाही। वर्षावास भी जल्दी ही शुरू होनेवाला था, और तीन महीने बाद ही सार्थोंका आना-जाना होता इसलिये शरदमें ही हमने जानेका निश्चय किया। इन तीन महीनोंमें हमसे जो भी हो सका, वहाँके भिक्षुओंको सिखलाया। तुर्क-भाषामें धर्मग्रन्थ अभी बहुत कम थे। शान्तिलके साथ मिल कर मैंने "अभिधर्मकोश" और एकाध सूत्रों का अनुवाद किया। भिक्षुओंमें जो कुछ पढ़े हुये थे, उनके पढ़ानेका भी काम किया। "प्रातिमोक्षसूत्र" (भिक्षु-भिक्षुणियोंके नियम) मुझे कण्ठस्थ थे, पहलेका तुर्की अनुवाद शुद्ध नहीं था, उसका हमने संशोधन कर दिया।

मालूम हुआ, कि यह नदी (तोला) उर्सी) महानदी सेलिंगा) की एक शाखा (ओंखोन्) में जा कर मिलती है, अर्थात् वर्षा में जो पानी यहाँ बरस रहा था, उसका कितना ही भाग शीतसमुद्र में जाता है। इसका मतलब था, कि यह स्थान शीतसमुद्रसे (सामान्य समुद्रतलसे ४०००फुटसेअधिक) ऊँचा था। दक्षिणमें होनेसे ही शायद यहाँ उतनी सर्दी नहीं थी। पहाड़तो इस भूमिमें सभी जगह छोटे-छोटे होते हैं। शीतसमुद्रके पासके पहाड़ देवदार, भुर्ज आदि वृक्षोंके घने जंगलों से ढँके हैं, यहाँ वह वृक्ष, पहाड़ी जड़में नदीके पास दिखाई पड़ते थे। ऊपरी भागोंमें लम्बी घासें उगी हुई थीं। इन घासों को खाकर यहाँके पशु अधिक मोटे-ताजे होते हैं। हमने और जगहोंपर भी बड़े-बड़े कौवे देखे थे, लेकिन यहाँके जितने बड़े नहीं। उत्तरके बनेचर कुत्तोंसे अधिक काम लेते हैं, और उनके कुत्ते भी बड़े-बड़े होते हैं, लेकिन यहाँके कुत्तोंके बराबर वह भी नहीं होते। दूध, मांस और बोझा ढोनेके लिये यहाँ चमरी और ऊँट दोनों का बहुत उपयोग होता है। जानवर अधिकतर वही हैं, जिन्हें कि हम यवगूके साथ रहते देखा करते थे। लोगोंकी रहन-सहन और पोशाक भी वैसी ही थी। आखिर ये भी तुर्क जातिके ही थे। इन घुमन्तुओं की एक विचित्र बात यह है,

कि भाषा, देश और कालमें थोड़ा भेद रखते लोग वही रहते हैं, किन्तु जब कोई बड़ा कबीला या पुरुष पैदा होकर इनका नेतृत्व करता है, तो झटसे ये उनके नाम पर अपना नाम बदल लेते हैं। दस ही वर्ष पहले यह लोग अपनेको अवार कहते थे, लेकिन अब सभी तुर्क हैं।

वर्षा शुरू हो गई। यहाँकी वर्षाका मतलब हमारे उद्यानकी भी वर्षा नहीं, मगध या कोशल की वर्षाको बात ही क्या? लेकिन, वह काम्यदेशकी जितनी कम नहीं थी। कभी-कभी तो बिजलीकी चमक-कड़क और जोरकी वर्षा देखकर भारत याद आता था। पर ऐसी वर्षा दो-तीन बारसे अधिक नहीं हुई। ऐसी वर्षा न होती, तो यहाँ की भूमि उतनी हरी-भरी कैसे दीखती? वर्षाके समय यह शाखा नदी भी विशाल बन जाती, उसका पानी फैल कर किनारे के वृक्षोंकी जड़ों तक पहुँच जाता, और उनमेंसे कितने ही उखड़ कर शीत-समुद्र (बैकाल) का रास्ता लेते हैं। वर्षाके साथ-साथ हरियालीका और बढ़ जाना, दृश्योंका और मनोरम हो जाना स्वाभाविक है।

हमें रोज़ प्रातः और सायं या तो भिक्षुओं को पढ़ाना पड़ता, या उनकी जिज्ञासाओंकी पूर्तिके लिये संवाद करना पड़ता। कितनी ही बार हमें मध्य-देशके वर्षाकालका वर्णन करना पड़ा। यहाँके लोग स्वयं हरे-भरे इलाकेमें रहने के कारण विश्वास कर सकते थे, कि जम्बूद्वीप (भारत) बड़ा हरा-भरा देश है। उसके प्रति अपनी पूज्य बुद्धिके कारण वह यह भी विश्वास कर सकते थे, कि वह हूणोंकी इस प्राचीन भूमिसे बहुत अधिक सुन्दर है। मैं भी केवल गुण ही गुणका वर्णन नहीं करता था। मैंने वहाँ की असह्य गर्मी और लूकी भी बात बतलाई, साँपोंके बारेमें जब कहा, तो मेरे श्रोताओंमें से कितनों ह का भारतकी यात्रा के लिये उत्साह मन्द हो गया। गरम देशमें दूसरे प्राणियोंकी तरह साँप बिच्छू भी अधिक होते हैं, जो यहाँवालोंके लिये सबसे डरकी चीज हैं। भारतके जंगलों में हाथी, सिंह, व्याघ्र, गैंडे, जंगली भैंसें रहते हैं, यह बतलाना तो आसान था, लेकिन इनमें से एकाधके ही चित्रको हमारे भिक्षु देखे हुये थे। यदि बुद्धिल होते, तो तुरन्त चित्र खींच कर बतला देते।

मुझे इसका अफसोस था, कि मैं चित्र विद्याको नहीं जानता।

संघारामके स्थविरकी उमर ४० वर्ष से अधिक थी, और वह अवार कुलके थे। उन्होंने कांस्यदेशमें कुछ साल बिताये थे, कूची भाषा भी कुछ जानते थे और संस्कृतको भी नहीं थोड़ा सा पढ़ा था। वह कोशिश करते थे, कि यहाँ भी भिक्षु वही रीति-रवाज बरतें। इस काममें मैंने भी उनकी सहायता की। मैं तरुणाईके स्वप्न—महाचीन यात्रा—को पूरा करना चाहता था, लेकिन जैसा कि बतलाया, यहाँके भिक्षु मुझे अपने बाहुपाशमें जोरके साथ बाँधे हुये थे। इसका एक ही रास्ता था, कि हम दोनोंमेंसे एक यहाँ रह जाये। शान्तिलके लिए मुझे छोड़ना आसान नहीं था, लेकिन उन्होंने भी परिस्थितिको देखा, और मैंने भी कहा—जब महाचीन यहाँसे एक महीनेका ही रास्ता है, और हर साल बहुत से सार्थ यहाँ आते-जाते रहते हैं, तो तुम्हारा वहाँ आना मुश्किल नहीं है। वह राजी हो गये। उन्होंने मेरे साथ रहते यद्यपि अपना समय बराबर यात्राओंमें ही बिताया था, लेकिन अपने पढ़नेमें व्यवधान नहीं होने दिया था। तीन वर्षसे अधिक वह मेरे साथ रहे, बुद्धि भी अच्छी और परिश्रमी भी थे, इसलिये संस्कृत भाषा तथा "अभिधर्मकोश", "न्यायमुख", "प्रमाणसमुच्चय" जैसे कितने ही ग्रंथोंको अच्छी तरह पढ़ चुके थे। हमारे पास ग्रंथोंकी कमी थी, लेकिन कितने ही मुझे कंठस्थ थे, जिन्हें मैंने उनके लिये भुर्जपत्रपर लिख दिया, कितनों हीके भावोंको समझाया। कंठस्थ करनेमें वह भी पीछे नहीं थे।

* * * *

महाप्रवारणा (आश्विन पूर्णिमा) का पर्व आया। हजारों लोग उपासक और उपासिकायें उस दिन संघारामके चारों तरफ डेरा डाले पड़े थे। हमने अनेक देशोंमें इस महोत्सवको देखा था। घुमन्तू लोगोंमें भी उसके प्रति कम उत्साह नहीं था। साधारण लोग ही नहीं, बल्कि कई तुर्क बेग और राजकुमार भी यहाँ आये थे। यदि सबके पशु साथमें आ जाते, तो बड़ी

मुश्किल होती, लेकिन उन्हें एक सप्ताहसे अधिक यहाँ रहना नहीं था और केवल सवारी और बोझके अत्यावश्यक पशुओंको ही लेकर आये थे। इनमें एक कूची दम्पतीको देखकर हमें और भी प्रसन्नता हुयी। भूरे बाल, नीली आखें अत्यन्त गौरवर्ण और अपनी पोशाक इतने दिनों बाद देखकर शान्तिलको बहुत खुशी हुई। पुरुषने शरीरसे सटा, गर्दन खुला घुटनों तकका कंचुक पहन रखा था। अपने जातीय आभूषण धारण किये थे। तुर्क बेगोंमें एक बूढ़ा था। उसकी ठुड्डीके नीचे जरा सी दाढ़ी और उसी तरह कुछ गिनने लायक मूँछके बाल थे, लेकिन उन्हें उसने बड़ी सावधानीसे पाल-पोस रक्खा था। आखें नीचेसे ऊपरको तनी हुई, भौंहें भी उसी तरह आधे आसमानकी ओर जातीं, केश बट कर पीठके ऊपर पड़े और सिरपर विचित्र प्रकारकी टोपी थी। नीचे मृगचर्म और ऊपरसे लाल चीनांशुकका चोगा उसके कन्धेसे ऐड़ी तक पड़ा हुआ था। कमरमें एक रस्सी बँधी थी, जो चोंगे को बाँधने के लिए नहीं बल्कि लंबे सीधे खडगको लटकाने के लिए मालूम होती थी। बाहें इतनी बड़ी थीं, कि जिनके भीतर हथेलियाँ छिप जातीं थीं। सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए भिक्षुसंघके सामने खड़ा होते समय उसने अपनी दोनों हथेलियोंको एक दूसरी बांहके भीतर डाल लिया था। बुढ़ापे में इतना तगड़ा पुरुष था, तो जवानीमें और भी शक्तिशाली रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

महोत्सव समाप्त हुआ। नवपरिचित मित्रोंसे ही नहीं, अपने अत्यन्त आत्मीय शान्तिलसे बिदाई लेनी थी। सचमुच ही इस दिनके लिये हम तैयार नहीं थे। शान्तिल और मुझे दोनोंके लिए आँसू रोकना मुश्किल हो गया, लेकिन हमने वह काम एकान्तमें पहले ही कर लिया था।

* * * *

त्योक् सार्थ भी महाचीन को जा रहे थे। वह बड़ी प्रसन्नतापूर्वक हमें साथ ले जाने को तैयार हो सकते थे, किन्तु जिस देशमें जाना था, वहाँके लोगोंके साथ चलनेमें बहुत सी बातोंकी जानकारी हो सकती थी। हमारे नये साथी बो-संगकी भी यही राय थी। उन्होंने एक चीनी सार्थवाहसे बातचीत करके सब बात तै कर ली। वनेचरोंकी भूमि महार्घ मृगचर्म (समूर) की महाचीन

जब हमारा सार्थ पड़ाव पर पहुँचता, तो बोझा ढोनेवाले सैकड़ों ऊँट खड़े हो जाते। उनके बोझोंको चुनकर दीवार बना दी जाती, और फिर ऊँट चरने के लिये छोड़ दिये जाते। उनकी जरूरत फिर अगले दिन चलने हीके समय होती। कहीं-कहीं हमारे पड़ाव ऐसी जगह पड़ते जहाँ फरास (सकसौल) के वृक्ष विरल होने पर भी दूरसे जंगल से मालूम होते। ऊँटोंकी तरह ही यह वृक्ष मरुभूमिका प्रेमी है। ऊँट भारत जैसे गरम देश और वहाँकी मरुभूमि में रहते हैं। हूण देश की इस ठंडी मरुभूमि (गोबी) में उनकी अनिवार्य अवश्यकता है। क्या ऊँटोंके साथ फरास यहाँ चले आये, या फरासके कारण ऊँट। अथवा स्थावर जंगमका भेद होने पर भी दोनोंकी प्रकृत एक सी है। पड़ावों पर यदि आस-पास घुमन्तुओंके डेरे होते, तो वह दूध, मांस, ईंधन बेंचनेके लिये आते। मनुष्य को आगकी बड़ी आवश्यकता है। उत्तरके बनेचरों को हमने बिना नमकके कच्चे मांस खाते देखा था। नमकके बिना जैसे वह रह सकते हैं, वैसे ही आगके बिना भी उनके भोजनमें कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता। पर, तुर्क घुमन्तू वैसा नहीं कर सकते। ईंधनके लिये लकड़ी इस भूमिमें बहुत दूर्लभ है। परन्तु पालतू और बेपालतू प्राणियोंके सूखे कंडे यहाँ जहाँ-तहाँ बिखरे होते हैं। मैंने अपनी यात्रामें कई बार स्त्रियों और बच्चोंकी पाँच-छकी टोलियाँ कन्डे जमा करती देखीं। चमड़ेके तस्मेसे बाँधकर बनी पिंजड़े जैसी सरकन्डेकी टोकरियाँ उनकी पीठ पर थी, और हाथमें डंडे लगे हुये लकड़ीके पंजे, जिनसे बिना झुके वह कन्डोंको उठकर ऐसे सीधे हाथसे पीठ की ओर फेंकतीं, कि वह जाकर टोकरीमें गिरते। यहाँकी स्त्रियोंको अपने बालोंको सींगके रूपमें सँवारनेका बड़ा शौक है। दूरसे इनकी यह केश-सज्जा भारतवर्षकी भैंसकी सींगों जैसी मालूम होती हैं। शायद किसी वन्य जन्तुकी सींग इसी तरह हों, हिमालयके इधर आकर मैंने भैंस कहीं नहीं देखी। मैं और बो-संग यह समझ नहीं पा रहे थे, कि पशुके सींगकी नकल केश-सज्जामें करनेकी क्या अवश्यकता ? इससे सौंदर्यकी कोई वृद्धि तो नहीं देखी जाती ? शरीरको स्वच्छ रखना दूसरी चीज है, उससे शोभा भी बढ़ती है। दूसरी तरहके जितने सजाने-सवारनेके प्रयत्न हैं, सभी

अस्वाभाविक और कितनी ही बार बच्चों जैसे हैं । शायद मनुष्य का शैशव बुढापे तक उसका पीछा नहीं छोड़ता ।

हम मरुभूमिमें चलरहे थे । मनुष्योंको भूमिसे अधिक अपने समाजका भान होता है । वर्षों बाद अब हम ऐसे समाजमें थे, जो हमें अपना जैसा मालूम होता था । संघाराममें पहुँच कर हमने दुर्लभ अन्नके तौरपर चावल और रोटी खाई थी । घुमन्तुओंके देश में खेती नहीं होती , और दूरसे लानेपर अन्न बहुत महँगा पड़ता है , साथ ही वहाँके लोगोंको ऐसे भोजनकी चाह नहीं होती । वर्षोंसे मैं केवल मांसपर गुजारा करता चला आया था । चीनी सार्थवाहके साथ होते ह मालूम हुआ , कि चीनके भिक्षु मांस नहीं खाते, महायान् मांस-भक्षणको वर्जित करता है । सार्थवाहने पहले ही दिन बहुत अच्छे चावल , सूखी सब्जियों और रोटीका स्वादिष्ट भोजन तैयार करके हमारे सामने रक्खा । बोसंगसे जब सारी बात मालूम हो गयी , तो मैंने उसी दिन निश्चय किया , कि अब मांस नहीं खाऊंगा । मैं भी महायानका । अनुयायी था । बोधि· सत्त्वका पथ सुगम नहीं है । मांस बिना हिंसाके प्राप्त नहीं होती, इसलिए उसका भक्षण निष्पाप नहीं हो सकता ।

चीनमें जाकर जो काम मुझे करना था , उसके लिए वहांकी भाषाका परिज्ञान आवश्यक था । बो-संग इसके लिए मेरी सहायता उसी समयसे करने लगे, जब कि मेरी उनसे मुलाकात हुई । व्याकरण भाषाको कठिन बनाता है, और चीनी भाषाका व्याकरण संस्कृत भाषाके व्याकरण के बीसवें हिस्से का एक हिस्सा भी नहीं हैं । न क्रिया पदमें प्रथम , मध्यम , उत्तम पुरुष का भेद है, और न एकवचन , द्विवचन, बहुवचनका, और न ही कालके उतने झगड़े हैं । संस्कृतमें एक धातुके हजारों रूपोंकी अवश्यकता होती है , पर, चीनीमें वह म धातुसे ही चल जाता है । इसीतरह नाममें भी अनेक विभक्तियों और वचनोंकी आवश्यकता नहीं । मुझे कुछ ही समयमें मालूम हो गया , कि भाषा सीखना मेरे लिए कठिन नहीं होगा । बो-संगने लिपि शुरू कराई तो मैंने देखा, कि वहाँ उच्चारण की कोई अवश्यकता ही नहीं, न स्वर-

व्यंजन जैसे वर्ण हैं। हमारे अंकोंकी तरह चीनी लिपि केवल अर्थोंका संकेत-है। इसका मतलब हुआ, कि जितनी वस्तुयें या जितने शब्द हैं, उतने अक्षर सीखने होंगे। मैंने हिम्मत तो नहीं हारी, लेकिन बात कठिन जरूर मालूम हुई, और भाषा सीखने पर ही मैंने अधिक ध्यान दिया। अपनी यात्रामें सार्थवाह उपासकसे मामूली बातचीत मैं चीनी में कर सकता था। बो-संगने मुझे लिपि सीखनेसे उदासीन होते देखकर कहा—महाचीन महादेश है, वहां भिन्न-भिन्न प्रदेशोंकी भाषाओंमें इतना अन्तर है, कि आदमी एक दूसरे को अच्छी तरह समझ नहीं पाते। यह लिपि ही है, जो सब जगह एक तरह समझी जाती है। इससे पता लग गया, कि लिपि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आधी रातको पड़ावपर पहुँचनेके समय अकसर हम थक जाते। उस समय हमें खाने की भी अवश्यकता नहीं थी। उपासक मधुरस या द्राक्षारस पीने के लिए बड़ा आग्रह करता, लेकिन हम उसे कभी ही कभी पीते। उस वक्त तो सबसे प्रिय वस्तु नींद होती। हम बिस्तरपर पड़ते ही सो जाते; पर, सूर्योदयके साथ हम उठ बैठते थे। जिस वक्त मुँह-हाथ धोकर अपनी पाठ-पूजा से निवृत्त होते, उसी समय हमारे लिए काफी प्रातराश तैयार मिलता। उपासक सार्थवाह सूर्योदयके बाद कितने ही समय तक सोया रहता,...मध्यान्ह भोजनके पहले वह भी तैयार हो जाता। उसे कामकी करनेकी जरुत नहीं थी, दास और भृत्य सब काम देखते थे, केवल भोजन और प्रस्थानके समय ही उसे हिलने-डोलनेकी अवश्यकता थी। कभी-कभी वह इसी समय हमसे धर्म-चर्चा करता, जिसमें बो-संग दुभाषिया होते।

मोयू खानका शासन यहाँ भी था। यहाँसे कितनी ही दूर पूर्व तक सारे घुमन्तू उसे अपना खान मानते थे। अवारों के अन्तिम कालमें सभी मुमूर्षु-राजवंशोंकी तरह यहाँ भी राज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। उस समय यह महावणिक्-पथ क्षेमयुक्त नहीं था, सार्थोंको अपनी रक्षाका प्रबन्ध स्वयं करते हुए बड़ी संख्यामें चलना होता, तब भी घुमन्तू लुटेरोंका कभी-कभी शिकार होना पड़ता। सार्थों को लूटना घुमन्तू अधर्म नहीं समझते। इन्हीं छोटी-बड़ी लूटों में से तो उनके सरदार और खान निकलते हैं। मोयू खान क ..बगूह मारा

दयालु गृहपति इस भूमिका भी शासक था, लेकिन मुझे विश्वास नहीं है, कि वह कभी इस तरफ आया होगा।

हर रोज हम दोनों साथ-साथ पैदल चलते थे। मरुभूमिमें रास्ता भूलनेका हर जगह डर रहता है, क्योंकि मनुष्यों और पशुओंके पद-चिन्ह ही तो मार्ग को बतलाते हैं, जो यहाँ देर तक ठहर नहीं सकते; जरा-सा हवा का झोंका आया, कि वह मिट जाते हैं। हमारे घुमन्तू साथियोंकी तरह कितनोंका विश्वास है, कि जहाँ-तहाँ खड़े बालूके टीलोंको मरुभूमि के भूत इसीलिये बनाते रहते हैं, कि यात्री पथ भूल जायें और उन्हें आहार मिले। स्वेच्छापूर्वक हम दोनों अकेले रास्ते पर नहीं चल सकते थे। हम सार्थवाहके सबसे आगे निकलनेवाले परिचारकोंके साथ हो लेते। सुस्तानेके लिये जहाँ वह खड़े होते, वहाँ हम खड़े होते, जहाँ वह बैठते, वहाँ हम भी बैठते। बाकी हमारा सारा समय बातचीत में जाता। अहोरात्रका आधा भाग मानों हमें बातचीत करनेके लिये ही मिला था। अपनी भाषा-सम्पत्तिको बढ़ानेका इससे अच्छा सुयोग नहीं मिल सकता था। उस समय कितनी ही बार मैं बुद्धिलकी बात करता, बुद्धिलका मुख मेरी आँखों के सामने घूम जाता। किसी समय हम दोनोंने एक साथ महाचीन आने का संकल्प किया था। वह इस काम को नहीं कर सके। मुझे यह प्रसन्नता थी, कि अपने मित्र के संकल्पको मैं पूरा करने जा रहा था। लेकिन कितना अच्छा होता, यदि वह भी आज होते। चीनमें बहुतसे भारतीय विद्वान् भिक्षु आये उनमें कितने ही योग्य विद्वान् रहे होंगे, लेकिन बुद्धिल तो तरुणाईमें ही भारतीके श्रेष्ठ विद्वानोंमें हो गये थे। वैसे विद्वान्का चीनमें आना कितना सुन्दर होता? हम दोनों मिलकर कितना अधिक काम कर सकते थे? इस समय महाचीनमें धर्मग्रन्थों के अनुवादका बड़े जोर-सोरसे जो काम हो रहा था, उसमें वह कितनी सहायता करते?

मुझे विश्वास हो चला था, शायद चीनी लिपि पर मैं उतना अधिकार प्राप्त कर सकूँगा। पीछे मैंने कुमारजीवके अनुवादोंको स्वयं देखा, और उनकी प्रशंसा चीनी भाषाके महान् विद्वानोंसे सुना। कुमारजीवका चीनी

भाषा और लिपि पर उतना ही अधिकार था, जितना अपनी मातृभाषा कूची और धर्मभाषा संस्कृत पर। यदि बुद्धिल यहाँ आये होते, तो वह दूसरे कुमार जीव सिद्ध होते, इसमें सन्देह नहीं। इस विशाल काम को अपने सामने देखकर मेरे हृदयमें कभी-कभी हूक सी उठती, और बुद्धिलका अभाव बहुत खटकता। संघिल के बिछोहके दिनसे आज तक मैं एक तरह बुद्धिल को भूल गया था। बिलकुल भूलना तो सम्भव नहीं था। अब वह रोज-रोज मुझे याद आते।

मरुभूमिमें हम कहीं भी विश्राम करनेके लिये अधिक नहीं ठहरे। कोई दुर्घटना भी नहीं घटी। यदि कोई पशु बीमार हो जाता, तो उसके लिये सार्थ नहीं रुक सकता था। अतिरिक्त पशु पास रहते थे और बीमार या बेकार पशुको वहीं पड़ावपर छोड़ दिया जाता। सार्थवाह प्राणि-हत्या देख नहीं सकता था, और मांसके लिये उसे मरवाना पसन्द नहीं करता था। पर छोड़े हुये पशुको कोई न कोई मार कर खाता तो जरूर होगा, यदि उसे किसीने कामके लिये नहीं रख लिया। अनुचरोंमें भी किसीके बीमार होनेपर उसके लिये सारा सार्थ रुक नहीं सकता था। स्वयं सार्थवाह भी यदि बीमार पड़ता, तो शायद ही एक दिनसे अधिक सार्थ रुकता। उसे या तो डोलीपर बैठा कर आगे ले चलते, या एक-दो अनुचरोंको अपने पास रखकर वह किसी पड़ावपर ठहर जाता और अपने सार्थको आगे जानेका हुकुम देता। हम दोनोंमें किसीकी ऐसी अवस्था होनेपर यह तो निश्चय ही था कि हम एक दूसरेको छोड़ कर नहीं जाते, और किसी पड़ावपर रुकनेसे हमारी क्या हालत होती, यह कहना मुश्किल है। सार्थवाह कुछ प्रबन्ध जरूर करता। मरुभूमिकी यात्राका यह भी एक रूप है। पर हम निरापद चीनकी सीमाकी ओर बढ़ते गये। पास पहुँचते मरुभूमिके रूपमें बहुत परिवर्तन नहीं देखते, किन्तु घुमन्तुओंके डेरे और उनके पशु अब ज्यादा मिलते थे। यहाँ पहलेकी अपेक्षा अब घास और पानी अधिक सुलभ थे। अन्तमें रास्तेसे दाहिनी ओर कुछ हट कर एक महान् सरोवर (कोसीनोर) पड़ा। चारों ओरसे रुका हुआ

पानी खारा होता ही है। वह हमारे पीनेके कामका नहीं था, तो भी उसके देखनेसे आँखों को तृप्ति और हृदय में आशा उद्भूत हुई। यह भी जान कर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, कि एक ही दो दिनमें हम सीमान्त पर पहुँच जायेंगे।

अन्तिम दिन हम सबेरे ही चले थे। दोपहरके समय दक्षिणकी ओर दूर सामने कोई धुँधली सी चीज दिखाई पड़ रही थी। बो-संगने कहा, यही महाचीनकी महादीवार है। कूचीसे चलनेके समय भी हम महादीवार की ओर जा रहे थे, लेकिन वहाँ पहुँचनेके पहले ही दिशापरिवर्तन हो गया और उस तरफ की महादीवारसे चीनमें घुसनेमें हम असफल रहे। दिशापरिवर्तनके समय हमें क्या आशा थी, कि पश्चिमकी ओरसे असफल हो हम उत्तरकी ओरसे आकर इसी दीवारको पार करेंगे। उस दिनकी मंजिल कुछ बड़ी थी। वैसे होता, तो महीनेसे अधिककी यात्रा करनेके कारण ज्यादा थके-माँदे होते, लेकिन महादीवारकी छायामें पहुँचनेकी उत्सुकता इतनी अधिक थी, कि हमें कुछ नहीं मालूम हुआ।

चीनकी महादीवार दुनियाके आश्चर्यों में है। हमारे देशमें और दूसरे देशमें भी इस महादेशको चीन या महाचीन कहते हैं। लेकिन, यह नाम आजसे आठ शताब्दियों पहले आरंभ हुआ, जब कि यहाँ चिनवंश (२५५-२०६ ई० पू०) का शासन था। इस वंशने सारे चीनराष्ट्रोंको एकताबद्ध किया, यह मामूली काम नहीं था। इस वंशका तीसरा सम्राट् शहि-हूवांग-ती (२४६-२१० ई० पू०) की ही कृति यह महान दीवार है। उसका हाथ चीनके एकताबद्ध करनेमें भी सबसे अधिक था। बहुत पुराने कालसे—जबकि चीनके लोग पहलेपहिल कृषि-शिल्प-व्यापार जीवी हो गये थे। महामरुभूमि तथा शीतसमुद्र तक की सारी विशाल भूमि घुमन्तुओंकी विचरणभूमि थी, जैसाकि वह आज भी है। इन्हें हूण कहा जाता था। हूण वस्तुतः उनकी बोलीमें मनुष्यको कहते थे, यह हम बतला आये हैं। चीनी लोगोंके मुँहमें पड़कर इस शब्द का अर्थ दानव हो गया। वह बराबर

चीनके समृद्ध इलाकों पर आक्रमण करके लूटमार करते समझते थे, कि चीन के लोग हमारी दुधार गायें हैं। चिनवंशसे पहले भी देशकी प्रतिरक्षाका प्रबन्ध किया गया था, लेकिन शीह् ह्वांग्-ती जैसी सम्पत्ति और प्रभुत्व किसीके पास नहीं था, इसलिये वह ३०० योजन (१६०० मील) लम्बी इस विशाल दीवारके निर्माणका स्वप्न नहीं देख सकते थे। चीन सम्राट्ने अपने सभी लोगोंको कोड़े के बलपर इस काममें लगा दिया और पूर्वके महासमुद्रसे पीत नदीके पश्चिम घुमन्तुओंकी भूमि तक यह दीवार बनने लगी। रास्तेमें खड्ड आये, पहाड़ आये, समतल जमीन मिली, सबजगह अविछिन्न रूपसे यह दीवार तैयारकी जाने लगी। दीवारके निर्माणपर तीन लाख सैनिकों को पारितोषिक मिला। इनके अतिरिक्त लाखों बन्दियों और बेगारवाले मजदूरोंको भी काम पर लगाया गया था। सरकारी नौकरों को उनके अपराधोंके लिये दण्ड देकर यहाँ भेजा जाता, उसी तरह कोप-भाजन हुए पंडितोंके हाथोंमें भी फावड़ा और टोकरी थमाई जाती। हजारों नहीं लाखों आदमी दीवारको बनानेमें मर गये। कई वर्षों तक यह काम होता रहा। ८ से १० हाथ चौड़ी और हजारों कोस लम्बी यह एक सीधी-सादी दीवार नहीं है। पर केवल इस दीवारसे भला उत्तरके लड़ाकू घुमन्तुओंको कैसे रोका जा सकताथा? दीवारमें जगह-जगह छोटे-बड़े दुर्ग बनाये गये, पहाड़ के ऊपर शत्रुओं के आने की देखभालके लिए चौकियां तैयार की गईं। नदियों में जहाँ दीवार नहीं बनाई जा सकती थी, वहां विशेष तौरके मजबूत किले बनाये गये। दीवार प्रायः उस जगहसे होकर जाती है, जहाँसे उत्तरमें घुमन्तुओं की निर्जन भूमि या रेगिस्तान नजदीक है। जिन लोगोंसे देशकी रक्षा करनेके लिये दीवार बनाई गई थी, उनकी सन्तानें आज भी मौजूद हैं और उनके जीवनमें न कोई परिवर्तन आया है और न लड़नेकी शक्ति कम हुई है। चिन् वंशकी तरह आज चीन एकताबद्ध नहीं है। उसके कई टुकड़े हो गये हैं।

संध्या नजदीक थी, और हमें दीवारके महाद्वारसे भीतर जाने की जल्दी पड़ी हुई थी, तो भी मैं कुछ क्षण खड़ा होकर उसे देखनेसे अपनेको रोक नहीं सका। मनुष्यके हाथकी विशाल कृतियोंको मैंने और देशोंमें भी देखा

है, पहाड़ काटकर बने बड़े-बड़े प्रासादोंको देखा है, पहाड़में काटकर सौ सौ हाथ ऊँची मूर्तियाँ देखी हैं। यह प्रकांड दीवार ऐसी है, जिसको हम एक क्षण नजर डालकर देख भी नहीं सकते। इसके ओरसे छोर तक देखनेके लिए महीनों यात्रा करनी पड़ेगी। आठ शताब्दियाँ बीत चुकी हैं, अब भी यह इतनी मजबूत है, कि अभी भी काल का प्रभाव इस पर नहीं दिखाई पड़ता। और शीह्-ह्वांग-तीकी यह कृति हजारों वर्ष तक इसी तरह बनी रहेगी। चीन ही के लोग हैं, जो इसे दानवों और असुरोंकी कृति नहीं बतलाते। हमारे देशमें तो झट इसे मय की कृति बतला देते। इसकी उपमा एक विशाल नागसे दी जा सकती है। शायद इसीलिये चीनी कलामें नागका अंकित करना इतना देखा जाता है। मुख्य नगर (कलगन) दीवारके भीतर है, जिसके बाहरभी कितनेही साधारण घर और उससे भी विशाल मैदान हैं, जहाँ आकर सार्थ ठहरते हैं और जो समय-समय पर विशाल हाट का रूप ले लेता है। बाहर से आई पण्य वस्तुओं पर सरकारी कर्मचारी शुल्क लेते हैं, और गुप्तचर इस बातका ध्यान रखते हैं कि व्यापारियोंके वेषमें शत्रु तो प्राकारके भीतर घुसना नहीं चाहते, इसीलिये विदेशियों पर विशेष ध्यान रखा जाता है। हम दोनों विदेशी थे, लेकिन हमारा चेहरा ही बतला देता था, कि हम हूणोंकी सन्तान नहीं हैं, इसलिये हमसे कोई खतरा नहीं।

हमारा सार्थवाह साधारण व्यापारी नहीं, बल्कि राजसम्मानित नगरश्रेष्ठी था। राजदरबार में उसका बड़ा रसूख था, दुर्गपाल भी जानता था, इसलिए उसके आने पर सैनिकोंने उसे बहुत शिष्टाचार दिखलाते हुए द्वारके भीतर जाने दिया, और उसके कहनेपर हमें भी साथ जानेमें कोई दिक्कत नहीं हुई। पण्यके लिये सार्थवाहने अपने नौकरोंको छोड़ दिया। उसका व्यापार तो अधिकतर अपने नौकरोंके द्वारा ही होता था। बहुमूल्य पण्य साथ थे, लेकिन खतरेकी भूमि पार कर आये थे। नगरमें श्रेष्ठीका अपना एक छोटा सा प्रासाद था। जहाँ जानेसे पहलेउसने दुर्गपालसे भेंट की और उसके सामने पाँच सुन्दर मृगचर्म भेंट किये। हम भी साथ थे। दुर्गपालने हमारा बड़ा सम्मान किया।

उसका राजा वेन्-श्वान्-ति (५५०-५९ ई०) बुद्धधर्ममें बहुत अनुरक्त था, जिसका प्रभाव उसके मंत्रियों और अमात्योंपर भी बहुत पड़ा था, शायद यही कारण था, जो उसने भारतीय भिक्षु समझ कर अवश्यकतासे अधिक मेरा सम्मान किया।

इतनी दूरकी यात्राके बाद यहाँ आकर मैंने सचमुच ही अपनेको अन्धकारसे प्रकाशमें आया पाया। केवल यही नहीं, कि भद्रनागरिक-जीवन और उसके कोमल बर्तावको इतने दिनों बाद अनुभव करनेका मुझे मौका मिला, बल्कि मैं देख रहा था, यहाँ पहले हीसे बुद्ध-शासनका बहुत प्रचार है। सीमान्त नगरकी हरेक सड़क और गलीपर स्तूप और मन्दिर थे। भिक्षुओं और भिक्षुणियोंके एक दर्जनसे अधिक विहार जब इस साधारणसे नगरमें थे, कितने तो राजधानीमें होंगे, इसका अनुमान अच्छी तरह कियाजा सकता था। बो-संग ने बतलाया, कि इसका सबसे अधिक श्रेय बेई (तोबा) वंश (३८६ ५२९ ई०) को है, जिसने बहुत समय (३८६-५२९ ई०) तक सारे उत्तरी चीनपर शासन किया, और जिस वंशके कितने ही सम्राटोंने सिंहासनमें रहते हुये भी भिक्षुओंका जीवन बिताया। उनकी राजधानी (तातुंग) के पासके पहाड़ोंमें आज भी उनके पहाड़ काट कर बनवाये संघाराम मौजूद हैं। अपनी जन्मभूमि से इतनी दूर चीन जैसे सम्भ्रान्त देशमें बुद्धके शासनको इतना फूलता-फलता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, लेकिन साथ ही भिक्षुओं और भिक्षुणियोंकी इतनी बड़ी संख्याको देखकर मुझे बुरा भी लगा। तथागत यह कभी नहीं पसन्द करते, कि देशके आधे लोग घर छोड़ कर भिक्षु-भिक्षुणी बन जायें। श्रमणोंका व्रत पालन करना सबके लिये आसान नहीं है। वैसा करनेसे दुःशील पुरुष-स्त्रियोंके काषायसे शरीर ढँकनेका डर हो जाता, जिसे मैंने पीछे अपनी आँखों देखा।

सार्थवाहको घर (येह) जानेकी जल्दी थी, और हमें भी ठहरनेका आग्रह नहीं था। वैसे वह भक्त पुरुष था, लेकिन उससे भी बढ़ कर उसे इस बातका ख्याल था, कि मेरे जैसे विद्वान् भारतीय भिक्षुको राजाके

पास ले जानेपर राजा मुझसे बहुत खुश होगा। हम केवल एक दिन वहाँ ठहरे। यहाँके नगरों और ग्रामोंमें कुछ विलक्षणता भी है। वैसे गरीब-अमीर इन ग्रामों-नगरोंमें भी बसते हैं और उनके घर भी तदनुरूप ही होते हैं, परन्तु मकानोंकी बनावटमें अन्तर है। मैंने इससे पहले भी भारतसे बाहर आनेपर कागज देखा था, लेकिन यहाँ उसका सबसे ज्यादा प्रचार था। वृक्षोंकी छाल और बाँसको गला कर यह तैयार किया जाता है। बड़ा हल्का होता है और उसे चाहे जैसे तोड़-मरोड़ सकते हैं। मजबूतीमें तालपत्रका यह मुकाबिला नहीं कर सकता, किन्तु साधारण व्यवहारके लिये यह उससे कहीं अधिक उपयोगी है। हमारे देशमें भी ऐसे वृक्ष मौजूद हैं, जिनसे चीनी लोग इस कागजको बनाते हैं, फिर वहाँ कागज क्यों नहीं बनाया जाता?

जाड़ोंका पहला महीना बीत चुका था, जब कि हम प्रकारसे दक्षिणकी ओर चले। सार्थवाहके साथ पाँच-छ अनुचर थे, जिनमेंसे कुछ हम दोनोंके साथ पैदल चलते थे। हम ऐसी भूमिके साथ चल रहे थे, जो हमें बार-बार मध्यदेशकी याद दिलाती थी। उसी तरहके घरोंके झुंड ग्रामके रूपमें बसे थे, जिनके चारों तरफ वैसे ही खेत दूर तक चले गये थे। चारों ओर गेहूँ, मटर और दूसरी फसलकी हरियालीवाले खेत थे। चीन के किसान जितनी मेहनत शायद मध्यदेशके किसान भी नहीं कर सकते। ये जमीन को अच्छी तरह जोतना ही नहीं जानते, बल्कि उससे ली हुई फसलके बदलनेमें भूमिको उर्वर करनेका बड़ा ध्यान रखते हैं। जानवरोंके गोबरकी तरह ही मनुष्यका पाखाना भी खेतों के उर्बर बनानेके लिए बहुत अच्छा साधन है; पर, मध्यदेशमें पाखानेका छूना बुरा समझा जाता है, और जो लोग पाखानेके छूने-हटानेका काम करते हैं, उन्हें बहुत नीची दृष्टिसे देखा जाता है। यहाँका किसान पाखाना छूनेमें कोई बुराई नहीं समझता। वह अपने हाथसे उसे ले जाकर खेतमें डालता है, और नगर या ग्रामके बेखेतवाले लोगोंको पैसा देकर पाखाना खरीदनेमें भी संकोच नहीं करता। सबसे बड़ी बात यहाँ मैं यह देख रहा था, कि यहाँ ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसे छूनेमें आपत्ति हो। धनी-गरीब

हैं, कुलीन और अकुलीन भी हैं, लेकिन वह वैषम्य नहीं, जिसे कि अपने देशमें हम देखते हैं तथागतने मानव मा: को समान और भाई-भाई बतलाया था, अपने इन विचारोंको साकार रूप देनेके लिए उन्होंने संघके बीच इस समानताको बड़ी कड़ाईसे स्थापित किया था। उनके अपने वंशके अनुरुद्ध, आनन्द आदि शाक्य-कुमार जब भिक्षु बननेके लिए गए, और नापित उपालिने उनका अनुसरण करना चाहा, तो उन्होंने पहले उपालिको शिष्य बननेके लिए कहा, ताकि उपसम्पदामें ज्येष्ट होनेके कारण प्रव्रजित शाक्य उसे अभिवादन करें। तथागतके शासनको फैले हजार वर्ष हो गये, लेकिन मध्यदेशमें अब भी वह मनुष्य-मनुष्यकी विषमता उसी तरह कायम है, समता केवल भिक्षु-संघ तक ही सीमित है। पर यहां चीनमें उस कठोर विषमताका बहुत अंशमें मैं अभाव देख रहा था। मैं इस ख्यालसे इस महान् देशमें आया था, कि यहाँके लोगोंको बुद्धके दिखलाये मार्गपर चलनेकी प्रेरणा दूं, किन्तु बहुत सी बातोंमें ये उस मार्ग को पहले हीसे पकड़े हुये हैं। जब भिक्षु-भिक्षुणियोंकी भारी संख्याको देखकर मैं उससे प्रसन्न नहीं था, फिर धर्म-प्रचारकके लिए मेरे पास क्या काम रह गया था?

सार्थवाह छिन् सम्राटकी प्रशंसा करते नहीं थकता था, और बतलाता था, कि वह आपका बड़ा आदर करेंगे। आदरका मैं बिलकुल भूखा नहीं, यह तो नहीं कह सकता, लेकिन मैं केवल उसके लिए इतना जोखिम उठा कर चीन नहीं पहुँचा था। राजसम्मान प्राप्त करनेका मतलब था सुख और आरामकी जिन्दगी बिताना, जो मेरे लिए बहुत आकर्षण नहीं रखती थी। अब एक ही काम मेरे सामने था, कि जीवनको अपने स्वप्नोंके अनुसार बनाऊँ। महायान चर्याकी ओर मेरा विशेष आकर्षण है। उसकी तरफ भी यहांके लोग दूर तक बढ़े हुये थे, यह इसीसे मालूम होगा, कि भिक्षु-भिक्षुणी यहां मांस-सेवन नहीं करते और जिसका प्रभाव चीनके भीतर प्रवेश करनेसे पहले ही मेरे ऊपर पड़ चुका था।

जिस मार्गसे हम लोग जा रहे थे, यह राजपथ था। शताब्दियों नहीं

सहस्राब्दियों से शायद इसी रास्ते सार्थ आते जाते रहे, उस समयसे जबसे उत्तरी घुमन्तुओं और उनके उत्तरके वनेचरोंकी चीजोंकी मांग इस देशमें होने लगी। हर योजनपर टिकान थी, पान्थशालायें बनी हुई थीं, यात्रीके आराम-की सभी वस्तुयें सुलभ थीं। उनके पशु भी वहां अच्छी तरह रह सकते थे। हरेक पांथशालाके पास बड़े गाँव थे, जहाँ दूकानें थीं, खाने-पीनेकी चीजें बनी-बनाई मिल सकती थीं। सार्थवाह नहीं चाहता था, कि हम किसी दूसरेका अतिथ्य स्वीकार करें, नहीं तो पांथशालावाले गाँव और दूसरे गाँवोंमें भी भिक्षुओंके छोटे-बड़े बिहार थे, जिनके दरवाजे चारों दिशाओंसे आनेवाले भिक्षुओं के लिये खुले थे। हम प्रातराश करके अपनी टिकान छोड़ते और मध्यान्हसे पहले ही ठहर जाते। भोजन और कुछ समयके विश्रामके बाद फिर रवाना होते और सूर्यास्तसे बहुत पहले ही अगली टिकान पर पहुँच जाते। इस समय मैं पासके गाँव या वहाँके संघाराममें जाता। देशके अनुसार भेसमें परिवर्तन करना ही पड़ता है—यद्यपि यहाँके भिक्षु चाहते, तो मध्य-देश जैसे भेस में भी रह सकते थे। लेकिन, मैं तो अपने उसी चीवर और संघाटीमें रहता था, जिसे देखते ही लोगों का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट होता। कभी-कभी मुझे ख्याल आता, यह भेस मुझे अनावश्यक तौरसे लोगोंकी श्रद्धाका भाजन बना रहा है। मैं प्राणिमात्र का सेवक बनना चाहता हूँ, न कि सेव्य। पर, विनय नियमोंकी परतंत्रता थी, चीवर छोड़कर आपत्कालमें चौबीस घन्टे ही तक भिक्षु रह सकता है। स्थानीय भिक्षुओंसे मिलने पर यह जानकर मुझे प्रसन्नता होती, कि मैं अपने विचारोंको चीनी भाषामें उनके समझने लायक कुछ-कुछ बोल सकता हूँ, और दुभाषिया के बिना भी जहाँ चाहूँ तहाँ घूम सकता हूँ। घूमनेके लिये ही जो पैदा हुआ हो, उसके मनमें इसका ख्याल आना जरूरी है।

अपनी जन्मभूमि सबको ही सबसे प्यारी होती है, इसलिये ऊँटकी पीठकी तरह ऊभड़-खाभड़ होते हुये भी मुझे अपना उद्यान सबसे अधिक प्रिय है, खासकर वहाँके देवदारोंसे ढँके पहाड़ तथा जाड़ों में सर्वत्र देखा जानेवाला

श्वेत हिम। पर, उसके बाद मुझे सबसे अधिक प्रिय थी तथागत की जन्मभूमि-मध्यदेश, जिससे यहाँ की भूमि बहुत समानता रखती है, इसलिये वह भी मेरे लिए मोहक है। कहीं-कहीं जाड़ोंके समय बर्फ भी कभी-कभी पड़ जाती है, इसलिए मध्यदेश की तरह कठोर गर्मी का यहाँ भय नहीं है। यहाँकी ऋतु वहाँ से भी अधिक अनुकूल है। फिर चीन देश सर्वत्र एकसा नहीं है। यहाँ भी बड़े-बड़े पहाड़ हैं, बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं। गंगासे भी बड़ी पीत नदी (ह्वांग हो) है, यह कोई कहता, तो मुझे विश्वास न होता, लेकिन येहसे दक्षिण मैंने स्वयं उसे अपनी आँखों देखा।

यद्यपि वो-संग मेरे साथ थे, किन्तु अब मेरी यात्राका सारा समय उनसे बातचीत करनेमें नहीं बीतता था। मेरी वृत्तियाँ अधिकांश अन्तर्मुखी हो जाती थीं। मैं अपनी कल्पनाओंमें डूब जाता। भविष्यके कामके लिये तरह-तरहसे विचार करता, किन्तु अन्तमें किसी निष्कर्ष पर न पहुँचता। फिर झुँझलापट पैदा होती, और तब बुद्धिलकी ओर ध्यान जाता। हम दोनों साथ होते तो किसी निर्णयपर पहुँचनेमें बड़ी आसानी होती। मैं अपनेको सचमुच एकाकी अनुभव करता था। अच्छा था, जो सार्थवाह हमारे साथ नहीं चल रहा था, नहीं तो वह कितनी ही बार मेरे मुखको गंभीर ही नहीं, उदास भी देखता। वो-संग सीधे-सादे भिक्षु थे, मेरे अनुरक्त थे, लेकिन मेरे मानस समुद्रके भीतर गोता लगाने की उनमें शक्ति नहीं थी। उन्होंने यह तो जरूर देखा होगा, कि मरुभूमिकी यात्राकी तरह मेरी मनोवृत्तियाँ इस समय नहीं हैं, पर, उनको उसकी ओर ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती थी। यह मेरे लिये अच्छा ही था। यदि वह संघिल या शान्तिलकी तरह मेधावी होते, तो अवश्य प्रश्न उठाते। शायद तब मैं उनसे अपने मन की बात कहता, किन्तु क्या वह किसी निर्णय पर पहुँचनेमें सहायता दे सकते थे? हां, यह जरूर था, कि वैसी स्थिति में मुझे उनके पढ़नेकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता। हो सकता है उससे कुछ समय अच्छी तरह बीत जाता। वो-संग केवल अनुचर भिक्षु भर ही हो

सकते थे, वह मेरे बौद्धिक साथी नहीं बन सकते थे। उनके प्रति मेरे हृदयमें वात्सल्य था, किन्तु मित्रता नहीं हो सकती थी, जिसके लिये दोनों को मानसिक तौरसे समान तलपर होना चाहिए।

एक सप्ताह बाद हम छी-वंश (५५०-७७ ई०)की राजधानी येह में पहुँचे। मुझे मालूम हो रहा था, कि इतनी यात्रा पूरी करनेमें शायद मरुभूमिसे भी अधिक समय लगा। बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं, कितने ही हाटों और बाजारों, भव्य राज-प्रासादों और दूसरी बहुत सी आकर्षक वस्तुओंके साथ विशाल नगर मेरे सामने था। लेकिन, उसे देखकर मुझे कुछ भी आनन्द या सन्तोष नहीं हुआ। वस्तुतः मेरी आँखें उस नगरी के ऊपर थीं, पर मेरा मन कहीं दूसरी जगह था। वह मुझे अपने बाहुपाशमें बांधना चाहते थे, किन्तु मुझे नगरीसे महामरु-भूमि अधिक आकर्षक मालूम होतीथी। बाज वक्त सोचता, मैं क्यों यहाँ आया? फिर अपने ही जब जवाब मिलता: बुद्धिलके साथ तुमने यहाँ आकर काम करने का वचन दिया था। फिर यह भी सोचता—जहां अधिक दुःख है, वहाँ मेरी अवश्यकताहै। अपने सारे जीवन और शक्तिको लगाकर यदिदो प्राणियोंके दुःखको भी हलका कर सकूँ, तो यह मेरे जीवनकी सफलताहै। इसमें शक नहीं, इस जगह जितना दुःख था, उतना न शीतसमुद्रके बनेचरोंमें, औ न घुमन्तुओंसे डेरेमें हीथा। वह इतनी मात्रामें दुःख और पीड़ाको बर्दाश्त नहीं कर सकते, जितना कि नागरिक और ग्रामीण लोग। फिर मेरे लिये कामकी कमी क्या थी?

सार्थवाहकके साथ नगरद्वारके भीतर प्रविष्ट होते ही मालूम हुआ, जैसे हृदयपर भारी पहाड़ आ पड़ा। इतना अवसाद जीवनमें मैंने बहुत कम अनुभव किया था। द्वाररक्षकोंसे आसानीसे छुट्टी मिल गई, क्योंकि नगरसेठ हमारे साथ था। कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, इसके बारे में मैंने रास्तेमें एक बार भी जिज्ञासा नहीं की और यहां भी मैं कुछ नहीं बोला। सार्थवाहने स्वयं कहा—हमारे ही गृहको पवित्र कीजिये। मुझे कहना चाहिए था, कि किसी संघाराममें मुझे रहना है, लेकिन उस समय में रस्सीसे खींचे हुये जाने लायक हीं था। उसके साथ साथ चलता गया। कई सड़कोंसे घूमते हुए हम काफी दूर गये।

राजप्रासाद नगरके एक छोरपर थे। हम उत्तरवाले जिस दरवाजेसे घुसे थे उससे वह दूसरे छोर पर थे। येह नगरी चीनकी सबसे बड़ी नगरियोंमें नहीं कही जा सकती, वह सम्मान तो छुंग-आन और लोयांग जैसे नगरोंको ही प्राप्त है। पहले एक राज्यपालकी यह राजधानी थी। छिंग-वंशकी राजधानी बने, इसे अभी सात वर्ष हुये हैं, इसलिये वह पूरी तरहसे बढ़ नहीं सकी। सड़कें पतली और टेढ़ी-मेढ़ी हैं, किनारे तिमंजिले चौमंजिले मकान हैं। इनके निचले भागोंमें केवल दूकानें हैं। इतनी दूकानोंको देखकर मुझे ख्याल होता था, यदि सारे नगरवाले दूकानदार ही हैं, तो इनकी चीजों को खरीदता कौन है? लेकिन, यह प्रश्न बेकार था। हो सकता है भारतके नगरों की अपेक्षा यहाँ दूकानें कुछ अधिक हों, लेकिन नगर में तरह-तरहके शिल्पकार भी रहते हैं, राज्यसे सम्बन्ध रखनेवाले देश भरसे आये लोग भी रहते हैं। गाँवोंके लोगोंके लिये दूकानें भी यहीं हैं।

अन्तमें अपेक्षाकृत कुछ चौड़ी सड़कपर एक बड़े फाटकके भीतर हम दाखिल हुये। यही सार्थवाहका प्रासाद था। फाटकके भीतर विशाल आँगन था, जिसके दो तरफ घोड़ों और दूसरे पशुओं के बाँधनेके स्थान थे। सामने सार्थवाहका राजप्रासाद जैसा बहुत विशाल पंचमंजिला महल था। एक दिन पहले ही घरवालोंको सूचना मिल गई थी, इसलिये सभी सार्थवाहका स्वागत करनेके लिये तैयार थे। सार्थवाहकी पत्नी आनन्दसे गद्गद् हो अपने पतिसे मिली। उनके दो पुत्रों, दो बहुओं, और घरके दूसरे लोगोंने भी गृहस्वामीका स्वागत किया। इस स्वागतमें सार्थवाह मुझे भूला नहीं, इसलिए अभिनन्दनका कुछ अंश मुझे भी प्राप्त हुआ। तिमंजिलेपर एक बहुत ही स्वच्छ कमरा मेरे रहनेके लिये दिया गया। कमरेके पास ही पाखानेका स्थान था, जो बहुत स्वच्छ था। मैंने इसे चीनी जीवनकी पूर्णता समझा। लेकिन, कमरेके भीतर दाखिल होते ही ख्याल आया, मुझे संघाराममें जाना चाहिये था, भिक्षुके लिये नगरवास या गृहपतिके घरमें रहना उचित नहीं

—:o:—

अध्याय १८

व्यस्त जीवन (५५८—७७ ई०)

न जाने क्यों येहमें आनेपर मेरा मन उस दिन उतना उदास हुआ था। यह घुमक्कड़की प्रकृतिके विरुद्ध है, कि किसी नये देशमें जाकर उसका हृदय क्षुब्ध या उदास हो जाये। वह तो जहाँ भी जाता है, वहींके लोगोंमें घुल-मिल कर एक जैसा हो जाता है। मुझे प्रसन्नता है, कि ऐसे भाव मेरे हृदयमें एक ही दो दिन रहे। सार्थवाह हमें दरबारमें ले गया। सम्राट् वेन्-श्वेन् (५५-५६ ई०) ने दिल खोल कर मेरा स्वागत किया। वह मेरे बारेमें सार्थवाहसे सुन चुके थे। मेरी असाधारण यात्राको सुन कर भी उन्हें मेरे साहसके प्रति सम्मान पैदा हुआ था। सार्थवाहके यहाँ मैं एक-दो ही दिनके लिये ठहरा। सम्राट्ने स्वयं यहाँके सबसे बड़े और सम्मानित थियेन्-पिंग बिहारमें मेरे रहनेका प्रबन्ध कर दिया। मेरे लिये भोजन और सभी आरामकी चीजोंका उन्होंने अपनी ओरसे विशेष प्रबन्ध किया, और मंत्रियों तथा राजकर्मचारियोंको हर तरहकी सहायता देनेके लिये आज्ञा दे दी।

महाचीन इस समय एक राज्य नहीं उत्तर और दक्षिण दो खंडोंमें पहले हीसे बँट चुका था। लेकिन इतना बड़ा महादेश दो भागोंमें बँटने पर भी बहुत विशाल था। पीत नदीकी उपत्यका उत्तरी चीनमें थी, और यांङ्-ची उपत्यका तथा दूसरे भाग दक्षिणी चीन में। महाप्राकार उत्तरी घुमन्तुओंके आक्रमणसे रक्षाके लिये बनी थी, लेकिन मनुष्य बल से ही रोका जा सकता है, स्वाभाविक और कृत्रिम बाधायें उसको व्याहत-गति नहीं बना सकतीं। हूणोंके वंशज भी मित्रभाव या शत्रुभावसे पीत नदीकी उपत्यकामें बराबर पहुँचते रहे। उक्त वे-ई (तोपा वंश ३८६-५६२ ई०) तो प्रायः डेढ़ सौ वर्ष तक (३८६-५२६ ई०) सारे उत्तरी चीनका अखंड शासक रहा। चीनकी दीवारोंने जो काम

नहीं किया, वह चीनकी जनता और परम्पराने किया। समुद्रमें जिस तरह नदियाँ अपना नाम-रूप छोड़ कर एक हो जाती हैं, उसी तरह जो जातियाँ मित्रभाव या शत्रुभाव के साथ चीन में आ गईं, वह कुछ ही दिनोंमें चीनी बन गईं। बल्कि हान् वंशके पतन (२२० ई०) के बाद उत्तरमें वेई, दक्षिणमें वू और पश्चिममें शू नामके तीन राजवंश कायम हो गये। वेईके एक राजमन्त्रीने गद्दीपर अधिकार कर ५१ वर्ष तक (२३५-३१६ई०) के लिए सारे चीन को एकताबद्ध करके अपने नये चिन्-वंश को कायम किया था *७० वर्ष तक अराजकता सी रही*, जब कि ३८६ ई० में *तोपा (शीयन्-पी) वंशने* राजशक्ति अपने हाथमें ली, वह कुछ ही समयमें पे-वेई (उत्तरीवेई) के नामसे चीनी बन गया। युन्-कंग वर्तमान ता-(तुङ्)के पासके (मेघगिरि) के नामसे उन्होंने अपनी पहली राजधानी कायम की, जिसके पहाड़ोंको खोदकर उनके बनाये हुये सुन्दर और विशाल संघाराम आज भी आदमीको चकित करते हैं। इस वंश के सम्राट श्यउ-वेन् (४७१-५०० ई०) ने पहली राजधानी छोड़कर लोयांगको अपनी राजधानी बनाया, । सीमाके पास रहनेसे हूण वंशका जो प्रभाव कुछ अब भी रह गया था, वह भी होकर तोपा अब बिलकुल चीनी बन गये थे। मनुष्यकी तरह राजवंश में भी तारुण्य और जरा आती है। इसी प्रकार पे-वेई वंश भी राज्य करके पूर्वी वेई (तुंग्-वेई) और पश्चिमी वेई के दो भागोंमें बँट गया। दोनों ही तोपा वंशकी शाखायें थीं, जिन्होंने कुछ ही वर्षोंके शासन के बाद अपने चीनी मंत्रियों द्वारा स्थापित पेई-ची (उत्तरी ची ५५०-७७ ई०' और पेई-चाऊ (उत्तरी चाऊ, ५५६-८१ ई०) के लिये स्थान छोड़ दिया। पेई-चीने पुराने राज्यपालकी राजधानी येहको अपनी राजधानी बनाया, यह बतला चुके हैं। इस वंश ने कुल २७ वर्ष राज्य किया, जिसमें मेरा स्वागत करनेवाला सम्राट वेन् शुयेन्-ती-नौ वर्ष (५५०-५६ई०) राज्य कर पाया। उसका पहला उत्तराधिकारी फे ईं-ती तो *एक वर्ष भी गद्दी* पर नहीं रह तीसरे श्याउ-चाउ (५६०-६१ ई०) और वू चाँग-ती (५६१ ६४ ई०)ने भी उसी तरह थोड़े ही समय शासन किया, और सिर्फ पाँचवा सम्राट हाउ-चू १२

वर्ष (५६५-७७ ई०) तक शासन कर सका। इसके बाद दो और कुछ महीनों शासक रहे, किन्तु उनका शासन जलते हुये घरमें रहना जैसा था। फिर इस वंश को खतम करके पे-चाउ (उत्तरी चाउ) वंशने इस राज्यको भी सँभाल लिया और राजधानी येह राजधानी नहीं रह गई, छाँग्-आन्से यहाँ राज्यपाल आने लगे।

येहके राजवंशने कुल २७ वर्ष शासन किया था, और वंशकी स्थापनाके आठवें वर्ष (५५८ ई०) में ४० वर्षकी उमरमें मैं वहाँ पहुँचा और १६ वर्ष तक बड़े सम्मानके साथ वहीं रहा। ६० वर्षमें एकही वर्ष बाकी रह गया था, जबकि मुझे येह छोड़ने के लिये मजबूर होना पड़ा। चीनमें जिस तरह तथागतके शासनके अनन्य भक्त शासक और सामन्त होते रहे, उसी तरह कभी-कभी उसके उच्छेदके लिये कमर बाँधनेवाले भी पैदा होते जाते थे, जो मन्दिरोंको तोड़वा देते, धातुकी होने पर मूर्तियोंको गलवा देते, और भिक्षु-भिक्षुणियोंको काषाय वस्त्र छोड़कर गृहस्थ बननेके लिये ही मजबूर नहीं करते, बल्कि कभी-कभी तो उन्हें जिन्दा भी गड़वा देते, जैसे पे-वेई वंश के सम्राट् ताइ-वू (महाबीर ४२४-५१ ई०) ने आदेश किया था। उस समय हमारी हजारों पुस्तकें नष्ट कर दी गईं। उसके २७ वर्ष के शासनके अन्तमें मालूम होता था, कि तथागतका शासन इस भूमिसे सदाके लिये खतम हो चुका, लेकिन विचारोंका नष्ट होना इतना आसान नहीं है, यदि वह सच्चे और लोकहित के हों। ताइ-वू के आँख मूँदते ही हेमन्तके सूखे वनस्पति जिस तरह वसन्तमें दूने जोशके साथ उग आते हैं, उसी तरह फिर भिक्षु-भिक्षुणियाँ देशमें नहीं, बल्कि नई राजधानी लोयाँगमें भर गये। राजधानीके चारों ओर सूत्रपाठका घोष सुनाई देता। आधी शताब्दी बीतते-बीतते (५०० ई० तक) बल्कि यह वृद्धि अतिको प्राप्त हो गई। राजधानीके एक-तिहाई घर बौद्ध-मन्दिरोंमें परिणत हो गये। एक भी सड़क ऐसी नहीं थी, जिसमें बुद्ध-मन्दिर न हों। नगर-प्राकार के भीतर उनकी भरमार थी, बाजारोंमें भी वह सब जगह थे, मद्य और मांसकी दूकानोंके पास भी संस्कृतमें सूत्रोंका

पाठ सुनाई देता था। उत्तरी वेईके अन्तिम कालमें २० लाखके करीब भिक्षु-भिक्षुणी और ३० हजार बुद्ध-मन्दिर थे। यह भी श्रद्धाका अतिचार है, मैं यह मानता हूँ। भिक्षु-भिक्षुणी स्वयं अपने लिए खाद्य पैदा नहीं करते, वह दूसरोंकी कमाईपर जीते हैं। श्रद्धा जब बढ़ जाती है, तो उनको दान-दक्षिणा अधिक मिलती है, और उनका जीवन सांसारिक दृष्टिसे बड़ा ही सुखी रहता है। ऐसे सुखी जीवनकी लालचसे बहुतसे अनधिकारी व्यक्ति भी काषाय पहन लेते हैं, और उनके कदाचार और दुराचारका दोष बुद्ध-शासनके ऊपर पड़ता है। इसलिये भिक्षु-भिक्षुणियोंकी संख्या एक सीमाके भीतर रखनेके लिये बहुत देखभाल कर उन्हें संघमें लेना चाहिए। वह कदाचार और दुराचार ही सामन्तों और राजाओंको विरोधी बना सर्वनाशका कारण बनता है।

मैं थियन्-पिंग विहारमें रहने लगा। बोसंग भी मेरे साथ थे। यहीं मिले भिक्षु फा-चे मेरे काममें बड़े सहायक बने। चीनमें कन्फू जू (कन-फू-शी ५५१-४७८ ई० पू०) और लाउ-जू दो बड़े आचार्य हो गए हैं, जो करीब-करीब उसी समय मौजूद थे, जबकि शाक्यमुनि मध्यमंडलमें अपने उपदेशोंसे लोगोंको कृतकृत्य कर रहे थे। कनफूशीकी शिक्षा इहलौकिक है। उसमें आदम को सुशील रहने तथा माता-पिता और उससे भी बढ़ कर राजाके आदेशको माननेके लिये बतलाया गया है। लाउ-जू एक धर्माचार्य थे। उनके मतमें भिक्षु-भिक्षुणियाँ भी होती हैं। स्वदेशी होनेके कारण कन-फू-शी और लाउ-जू तथा उनकी शिक्षाओंकी ओर यहाँके लोगोंका ज्यादा आकर्षण हो, यह स्वाभाविक है। इन दोनों मतोंके आचार्य बुद्ध-धर्मकी अभिवृद्धिको फूटी आँखों नहीं देखना चाहते। जब भारी समृद्धिके साथ-साथ भिक्षुओंमें अतिचार भी देखनेमें आता, ऐसे समय इन दोनों आचार्यों के अनुयायी हमारा अनिष्ट करने पर तुल जाते। बुद्धधर्म दूसरे धर्मोंसे द्वेष करना नहीं सिखलाता। हमारी यह मनोवृति उन्हें और भी अपने लिये खतरनाक मालूम होती है। और वह कहते कि तुमने हमें अपनेमें हजम करनेके लिये यह चाल निकाली है।

शत्रु राजा और सामन्त बौद्ध-बिहारों, मन्दिरों, मूर्तियों, और उनसे भी

ज्यादा पुस्तकोंको ध्वंस करनेके लिये जितने मुस्तैद रहते थे, उतने अवसर मिलते ही बुद्धके भक्त इन चीजोंको जुटानेके लिये भी तैयार रहते। पुस्तकोंकी वह बड़ी तत्परतासे रक्षा करते थे।

यहाँके सम्राट बुद्धधर्ममें बड़ी आस्थासूत्र रखते थे। सात-आठ वर्षके शासनमें ही राजप्रासादमें बहुत से और दूसरे ग्रंथ जमा हो गये। बिहारमें आ जानेके बाद ही सम्राटने अपने यहाँ संगृहीत तालपत्र और भुर्जपत्रपर लिखी बहुत सी संस्कृत की पुस्तकें मेरे पास भेज दीं, और चीनके लोगोंके लिये सुलभ करनेके वास्ते उनका अनुवाद करनेका आदेश दिया। येहमें यद्यपि इस वंशके समय मैं ही अकेला भारतीय भिक्षु था, जिसने संस्कृतके अनेक ग्रंथोंका चीनी भाषामें अनुवाद किया। किन्तु, मेरे वहाँ पहुँचनेसे १६-१७ वर्ष पहले कई भारतीय भिक्षुओंने पूर्वी-वेई (तुंग वेई) काल (५३४-५० ई०) में अनेक ग्रन्थोंके अनुवाद किये थे। वाराणसी के गौतमप्रज्ञारुचिने १७-१८ ग्रन्थोंको चीन भाषामें अनुवाद करके मेरा पथ-प्रदर्शन किया था। मेरे अपने उद्यानके रहनेवाले उपशून्यने भी कई ग्रन्थोंका अनुवाद किया था। प्रज्ञारुचिके सहकारी हमारे उद्यानके दूसरे भिक्षु विमोक्ष प्रज्ञ ने भी कई ग्रन्थोंका भाषान्तर किया था। विमोक्षप्रज्ञको यहाँ के लोग कपिलवस्तुके शाक्यों अर्थात् तथागतिकी जातिका मानते थे। शक और शाक्योंके बारेमें इस तरहकी गलती बहुत पुराने समयसे होती चली आई है। धर्मबोधि दूसरे भारतीय भिक्षु थे, जिन्होंने "महापरिनिर्वाणसूत्रका" अनुवाद किया था। आजसे कुछ ही पहले इसी येहमें अनुवादित इन ग्रथोंको मैंने पहले संस्कृतसे मिला कर देखना शुरू किया। चीनी भाषा पर मेरा अधिकार नहीं था, बोलना-चालना जरूर सीख गया था। भाषा-सम्बन्धी मेरा ज्ञान बढ़ता जा रहा था, किन्तु मैं किसी चीनी पंडितके सहारे ही अनुवादके कामको कर सकता था। फा-चे इसके लिये बहुत योग्य थे, दूसरे भी मेरी सहायता के लिये तैयार थे। मुझे येहमें हुये अनुवादोंको देखनेमें कुछ महीने लगे। सहायकके साथ मैं अनुवाद कर सकता हूँ, इसका मुझे अब विश्वास हो गया।

येहमें चाहे मैं अकेला था, लेकिन उत्तरी और दक्षिणी चीनमें कितने

ही भारतीय उस समय इस काममें लगे हुये थे। तथागत के उपदेश जब तक संस्कृत भाषामें थे, तब वह यहाँके लोगोंके लिये बन्द पोथी थे। इसलिये हर जगह भारतीय और देशीय भिक्षु तथा बुद्धभक्त इस पुण्य कार्य में संलग्न थे। उत्तरी चाउ वंशकी राजधानी छाँग-आन्में गुणभद्र, मगधके ज्ञानयश यशोगुप्त और ज्ञानगुप्त इसी कामको कर रहे थे। पहले एक साल (५५८ ई०) में मैंने "चन्द्रद्वीपसमाधिसूत्र", "महाकरुणापुण्डरीकसूत्र", "सुमेरुगर्भसूत्र" और "प्रदीपदानीयसूत्र" अनुवाद किये। आगे मेरे ऊपर और कामों का भार पड़ा, और अनुवादकी गति उतनी तीव्र नहीं रही, केवल तीन और ग्रन्थ "अभिधर्महृदयशास्त्र" (५६३ ई०) "चन्द्रगर्भसूत्र" (५६६ ई०) "पितापुत्रसमागमसूत्र" (५६८ ई०) के ही चीनी अनुवाद कर पाये।

यहाँ आये साल भर ही हुआ था, कि पहले चार ग्रन्थोंके अनुवाद के बाद संम्राट् वेन् श्वेन्ने मुझे अपने राज्यके भिक्षुओंका संघ-नायक बना दिया। मैं इसकी इच्छा नहीं रखता था, और मैंने पहले इस पदको स्वीकार करनेसे इन्कार भी किया, लेकिन सम्राट्ने कहा "आप जैसे बुद्ध-शासन की अभिवृद्धि चाहनेवाले यदि संघके ऊपर नियंत्रण करनेका काम अपने हाँथोंमें लेनेसे भागेंगे, तो उसे कौन करेगा।" नये राजवंशको कायम हुये ८-९ वर्ष हो गये थे। राज्यके साथ उसका अपना भिक्षु-संघ भी होना चाहिये, तभी राज्यकी भी महिमा बढ़ती है। उत्तरी छीके प्रतिद्वन्द्वी उत्तरी चाउका छाँग्-आनमें अपना संघराज था, जिसके नियंत्रणमें वहाँ हजारों संघाराम और भिक्षु रहते थे। मैं जानता था, छी सम्राट् संघनायक बनाना चाहते हैं। मैं अपनेको चाहे वैसा न मानता, लेकिन सम्राट् और उनके राज्यके बड़े-बड़े भिक्षु मुझे उसके योग्य मानते थे, और चाहते थे, कि मैं उस पदको सँभालू। दूरसे रह कर किसी बातके पक्ष या विपक्षमें राय देना दूसरी बात है, लेकिन जब गुण-दोषोंके निर्णय और व्यवस्थाका भार अपने ऊपर पड़ जाता है, तो उसका उठाना उतना आसान नहीं होता। मैंने बहुत शंकित हृदयसे गला दबानेकी तरह इस पदको स्वीकार किया। नियंत्रण

करनेवालेका हृदय केवल कोमल ही नहीं होना चाहिये, कभी-कभी निर्णय देनेमें उसे कड़ा रूप भी लेना पड़ता है । ऐसे समय सबको मित्र कैसे बनाये रक्खा जा सकता है ?

मेरा रास्ता अकंटक और ऋजु नहीं था, लेकिन यदि पृथिवीपर मैंने अन् ऋजु रास्तेपर हजारों कोसोंकी यात्रा की थी, तो यहाँ अपने कर्मक्षेत्रमें उससे कायरता दिखाना मुझे उचित नहीं मालूम हुआ । जैसा कि मैंने पहले बतलाया, अपने १९ वर्षके येह-निवास में मैंने पहले ही साल अनुवादका विशेष काम किया, बाकी समयमें तीन मामूलीसे ग्रन्थोंके अनुवाद कर पाये, जिन्हें कुछ महीनोंमें किया जा सकता था । छी राजवंशको यह जान कर संतोष होता था, कि हमने भी इतने ग्रन्थोंका अनुवाद करवा कर अपनी कीर्ति अमर कर ली । शायद मेरे भी हृदयके किसी कोनेमें इस तरहकी अमरकीर्तिसे संतोष होता हो, लेकिन अमरता नहीं अनित्यतापर मेरा अटल विश्वास है । अनन्त कालकी मुझे उतनी पर्वाह नहीं जितनी कि हृदयमें जलती आगको तत्काल बुझा कर शान्ति प्राप्त करनेकी । एकसे एक महान् ग्रंन्थ अनुवाद करनेके लिये मौजूद थे । मेरे मित्र बुद्धिलके हाथ का लिखा "प्रमाणसमुच्चय" अबभी मेरे पास था, जिसे मृत्युके समय तक मैं उसे अपनेसे अलग नहीं कर सकूँगा । उसके अनुवाद करनेकी भी कभी-कभी इच्छा हो आती थी, लेकिन मन उसके लिये तैयार नहीं हुआ । महायानके ग्रन्थों हीके मैंने अनुवाद किये, क्योंकि बोधिसत्त्वोंका जीवन मुझे बहुत प्रिय था । यदि किसी प्राणीको क्षण भर सुख देनेके लिये मेरा यह जीवन काम आ जाये, तो उससे मुझे बड़ा संतोष होता । मैं नित्य ही अवदानों (जातकों) का पारायण करता । आर्यशूरकी 'जातकमाला' मुझे कुछ प्रयत्नसे मिली थी, वह मेरे नित्य पाठ में थी तथागतने बोधिसत्व रहते समय अनेक जन्मोंमें किस तरह अपने शरीरका दान किया था, कभी भूखी व्याघ्रिकी वह ग्रास बने कभी किसी भूखे पथिकके लिये आगमें कूद कर उसकी बुभुक्षा हटानेमें समर्थ हुये । मैं बोधिसत्व-व्रत पालन करनेमें लग गया ।

जितना ही मैं इस व्रतमें आगे बढ़ता जा रहा था, उतना ही मेरा हृदय द्रवित होता जाता था। मैं अपनी आँखोंसे किसीको दुःख में नहीं देख सकता। येह नगरी या गाँवोंमें जाता, किसी बच्चेको अनाथ देखता, तो मुझसे यह नहीं हो सकता, कि उसे छोड़ कर एक कदम भी आगे बढ़ जाऊँ। किसी स्त्री को बीमार देखता, तो उसको सुखी देखनेका कोई उपाय करना मैं अपना कर्तव्य समझता। मैंने यहाँ रह कर अगर किसी विद्याका विशेष अध्ययन किया, तो वह आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) है। मुझे यह जान कर प्रसन्नता है, कि चीनके भिक्षुओंने बहु जनहितकी साधनाव्य इसको सबसे बड़ा साधन माना है। भिक्षु-भिक्षुणी बने चीनी कुमार या कुमारीको चिकित्सा शास्त्रका कुछ ज्ञान होना आवश्यक समझा जाता है। लाउ-जू और कनफु- जूके अनुयायी इसे भी हमारी चाल कहते हैं। लेकिन, चाल (कूटनीति) कह देनेसे हम किसी भले रास्तेको छोड़ कैसे सकते हैं? संसारके सभी दुखियोंके दुःखको हटाना जब हमने अपने जीवनका लक्ष्य बना लिया है, तो इस लक्ष्यको पूरा करनेके लिये हर समय अपने जीवनको बलिदान करनेके लिये हमें तैयार होना है। इसमें नीच स्वार्थोंकी गन्ध कहाँ है? यदि ऐसे बलिदान का लोगोंपर प्रभाव पड़ता है और उसके कारण एककी जगह दस नये बलिदान देनेवाले तैयार हो जाते हैं, तो इसमें बुरी बात क्या है? मैं अपनेको कुशल वैद्य नहीं मानता। शायद किसी विषयमें कौशल प्राप्त करनेके लिये आदमीमें कोई स्वाभाविक क्षमता होती है, जिसका मुझमें अभाव है। इस अभावके लिये मुझे असंतोष नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो मैं चिकित्साके काममें इतना व्यस्त हो जाता, कि मेरे पास सारे छी राज्यमें उसकी व्यवस्था करनेके लिये समय नहीं रह जाता। मैं कह सकता हूँ, कि मेरे इस प्रयत्नसे चिकित्साकी व्यवस्था इस राज्यमें जितनी हो गई, उतनी यहाँके और किसी राज्यमें नहीं थी। भिक्षुओंके जहाँ संघाराम थे, वहाँ पहले भी चिकित्साका प्रबन्ध था, लेकिन वह उतना व्यापक और व्यवस्थित रूपसे नहीं था। हर जगह रोगियोंको रखकर चिकित्सा करनेका

इन्तजाम नहीं किया गया था। छौ वंशके सम्राटने मुझे सुख-संपतिसे घिरे रखना चाहा। लेकिन, अब उसमें मुझे कोई आनन्द नहीं आता था। सभी सत्वोंको दुःखसे मुक्त करनेके लिए अपने सर्वस्वको लगानेमें ही मैं आनन्द मानता हूँ। भिक्षुओंके विनयमें चाँदी-सोना रखना वर्जित है, यह इसी ख्यालसे, कि वह अकिंचन रहे। कमसे कम धनके संबन्धमें वह सबसे दीन-हीन मनुष्यके सामने रहे। और भी आगे बढ़ने वाले नये वस्त्रोंको काट कर चीवर बनानेकी जगह रास्तेमें फेंके लत्तोंको जोड़ कर अपना शरीर ढाँकते हैं। सोना-चाँदी या पैसेका परित्याग मैंने इस अर्थमें नहीं किया है, कि उन्हें हाथ न लगाऊँ। हाँ मैं उनको जरा भी अपने ऊपर लगाना पसन्द नहीं करता। दूसरोंके हितके लिये, तो उनकी आवश्यकता होती ही है। मैंने येहमें आकर संघनायक होनेके बाद ही निश्चय कर लिया, कि केवल भिक्षाका ही भोजन ग्रहण करूँगा, केवल चिथड़ोंको सी कर बनाये चीवरको ही पहनूँगा। यह इसलिये, कि मैं, राष्ट्र-पिंडको कमसे कम ग्रहण करूँ और किसी व्यक्तिपर अपना भार न रक्खूँ भोग तृष्णा मेरे हृदयमें पोषित न होने पाये।

पूरे पाँच साल लगे, जब कि मेरे वे स्वप्न चरितार्थ हुये, जिन्हें कि मैं बोधिसत्वके मार्ग पर आरूढ़ होनेके बाद सच्चा करना चाहता था। मैंने एक कुशल वैद्य गुणमित्रका सहयोग पानेका सौभाग्य प्राप्त किया। वह कुस्तनके रहनेवाले भिक्षु थे, और यों ही घूमते-घामते येह पहुँचे थे। उन्होंने किसी ग्रंथका अनुवाद नहीं किया, यद्यपि कर सकते थे। हो सकता है अनुवाद करने वालोंमें नाम न होने के कारण पीछे लोग उन्हें भूल जायें। लेकिन पीछे लाख वर्ष तक याद रहनेकी जगह यदि हम एक क्षणके लिये अपने सामनेके प्राणियोंको सुखी बना सकें, तो यह उससे कहीं बढ़कर है। संघनायक बननेके पहले ही साल मैंने ख्यान-पिंग संघारामके पास एक विशाल चिकित्सालय बनवाया, उसमें छोटी सी भैषजय गुरुकी प्रतिमा स्थापित की। धातुकी नहीं, क्योंकि इसका फल किसी समय उसे गला धातुरूपमें बेंच किसीको अपुण्य कमानेका अवसर देना होता। पत्थरकी भी नहीं बल्कि केवल मिट्टीकी प्रतिमा

बनवाई, जो तभी तक अपना अस्तित्व रख सकती है, जब तक कि उसके ऊपर श्रद्धा रखने वाले अस्तित्व रखते हैं। हमारे संघारामको कुछ कुशल कलाकारोंने। बनाया। हमने अधिकसे अधिक श्रम और धन उन कोठरियोंके ऊपर खर्च किया, जिनमें बीमारोंको रखना था। मैं देखता था मजूर लोग मिट्टी खोदकर कहीं ईंटे पाथ रहे हैं, कहीं ढोकर दीवार खड़ी कर रहे हैं। वहाँ जाकर देखनेसे संतुष्ट रहनेके लिये मेरा हृदय नहीं मानता था। मैंने मिट्टी भरकर टोकरी अपने सिर पर उठाई। यह निर्णय तुरन्त करना पड़ा था, लेकिन निर्णय करनेके कुछ क्षणोंमेंही कितनी मानसिक बाधायें मेरे सामने आ खड़ी हुई मैं सारे छी राज्यका संघनायक हूँ, इस तरहका झूठा अभिमान क्षण भरके लिये भी मेरे हृदयमें जगह नहीं पा सकता था। लेकिन, यह ख्याल जरूर आया था, कि लोग इसे भी अपनी हीनता दिखानेका दम्भ कह सकते हैं। मैंने अपने हृदयको टटोला। यदि दम्भ होता, तो मैं कदम आगे नहीं बढ़ाता, लेकिन वहाँ दम्भका कहीं पता नहीं था। लोगोंने, जिनमें पास खड़े भिक्षु और राज पुरुष भी थे, जरूर इसपर आपत्ति की, लेकिन अब तक उन्हें मालूम हो चुका था, कि जिस बातको मैं ठीक समझ कर करनेका निश्चय कर लेता हूँ, उसके बारेमें कोई बाधा सुनने या सहनेके लिए तैयार नहीं होता। मेरे चीथड़ोंके बने चीवरमें मिट्टी लगनेसे कोई फर्क नहीं होता सकता था, और न मैं कोमल जीवनका अभ्यासी था, यह भी लोग देखते ही थे। संघनायकके टोकरी ढोनेकी चर्चा सारे छी राज्यमें और सम्राट्के पास तक होने लगी, यह स्वाभाविक ही था। इसका एक सुफल यह हुआ, कि हमारे भिक्षुओंमें भी कितने ही अब ऐसे कामको पसन्द करने लगे। सिरपर टोकरी ढोनेसे और भी भारी बोझवाले दूसरे काम थे, इसलिए हम और हमारे भिक्षु उतने ही मैंअ प नेकर्त्तव्यकी इतिश्री कैसे मान सकते थे?

गुणमित्र राजधानीमें ही रहते, उन्हें बाहर जानेका अवसर कम मिलता। थियेन्-पिंग महाचिकित्सालयके वह महावैद्य थे। पीछे नगर-प्राकारके भीतर भी सम्राटने एक विशाल रोगी सुश्रूषणालय बनवा दिया, जिसमें भी वह प्रतिदिन कुछ समयके लिये जाते। इसके अतिरिक्त एक और बड़ा काम

उन्होंने अपने ऊपर सँभाला था, वह था नये योग्य वैद्योंको पैदा करना। मैं कह सकता हूँ, इस काममें कि जो सफलता हुई, उसका सबसे अधिक श्रेय गुणमित्रको मिलना चाहिये। संघनायक होनेसे मुझे ही सब कुछ मानना ठीक नहीं, संघनायक होनेसे एक और लाभ यह हुआ, कि अब भिक्षुओं और भिक्षुणियोंकी प्रव्रज्या सारे राज्यके लिये थियेन्-पिंग-संघारामकी सीमा के भीतर ही हो सकती थी। मैं और मेरे साथी इस बातका पूरा ध्यान रखते कि अयोग्य तरुण-तरुणी संघमें प्रविष्ट न होने पायें। उनकी विद्या, शील, बुद्धि आदिकी हम पूरी परीक्षा करते। छ महीने तक बिना कपड़ा बदले ऐसे ही परीक्षार्थ परिवास कराते। जब यह मालूम हो जाता, कि वह केवल संसारसे भागनेके लिये नहीं आये हैं, बल्कि संसारके दुःखको हटानेके लिये कुछ कर सकते हैं, तभी प्रव्रज्या या उपसम्पदा देकर उन्हें श्रामणेर-श्रमणेरी या भिक्षु-भिक्षुणी बनाते। विनय-पिटकमें दिये भिक्षु-भिक्षुणियोंके नियमोंको अनेक बार मैंने पारायण किया है, इन नियमोंके बनानेमें तथागतकी सर्वज्ञता मुझे दिखलाई देती थी। भिक्षु-भिक्षुणी या श्रामणेर-श्रामणेरी बनाकर उन्हें निश्चित समय तक योग्य आचार्य-उपाध्यायके अधीन शिक्षा प्राप्त करनेका नियम इसी तरहका है। संघमें प्रविष्ट होनेवाले तरुण-तरुणियोंकी शिक्षाकी ओर हम विशेष ध्यान देते थे। नगर-प्राकारके भीतर भिक्षुणियोंका संघाराम पहलेसे भी था, लेकिन हमारे कामके आगे बढ़नेपर वह अपर्याप्त हो गया। जिस तरह अच्छे-अच्छे भिक्षु हमें मिल रहे थे, उसी तरह भिक्षुणियाँ भी मिलने लगीं। सम्राट्की एक भगिनीने भिक्षु-दीक्षा ली, और अपना सर्वस्व लगा कर भिक्षुणी-संघारामके पास उसने स्त्रियोंके लिये एक विशाल चिकित्सालय बनवाया। इससे भी बढ़ कर उसने जो काम किया, वह था बड़ी तत्परताके साथ पुस्तक और प्रयोगके रूपमें चिकित्साशास्त्रका अध्ययन करना। मुझे अपने जीवनकी वह घड़ियाँ बड़ी सुन्दर मालूम होती है, जब मैं चिकित्साके काम या प्रबन्धमें लगा रहता था। राजधानी या बाहर, जहाँ-कहीं भी जाता, मैं चिकित्सालयमें रोगियोंको देखने जरूर जाता। उनके मुँहसे उनकी दुख-सुख की बातें सुनकर मुझे बड़ा संतोष होता। मेरे संघनायक होनेसे पहले

छी-राज्यमें संघारामों और भिक्षु-भिक्षुणियोंकी कमी नहीं थी लेकिन, दस वर्ष तक इस पद पर रहनेके बाद अब कोई बड़ा गाँव ऐसा नहीं था, जहाँ संघा-रामके साथ छोटा मोटा चिकित्सालय न हो। येहके संघाराम के उद्यानको और बड़ा बनाकर वहाँ हमने बहुत तरहकी औषधियाँ लगवाईं, दूसरी जगहों पर भी इस तरहके औषधि-उद्यान तैयार किये। ठीक-ठीक गुणवाली औषधियाँ लोगोंको सुलभ हों, इसके लिये थियेन्-पिंगमें औषधि-निर्माणशाला अलग बनवा दी। चिकित्सामें किसी देश या व्यक्तिका पक्षपात नहीं है, इसके बारेमें मेरे साथी भी मुझसे सहमत थे। हमने केवल भारतीय आयुर्वेदिक औषधियों और निदानोंको ही स्वीकार नहीं किया बल्कि चीनके लोगोंकी समृद्ध चिकित्सा-पद्धतिको भी अपनाया। दीहातमें घूमते समय किसी दवा या चीजका पता लगता, तो मैं तुरन्त संग्रह करवाता। जब विद्यार्थियोंकी संख्या कई सौपर पहुँच गई, तो अंतमें थियेन-पिंगमें चिकित्साके लिये एक अलग विद्या-लय बनाना पड़ा। हमारे हरेक काममें कला सम्मिलित रहती है, यह मैंने सर्वत्र संघारामोंमें देखा था। यदि कलाकी निपुणताको ही भिक्षु कायम रखते, तब भी उनकी प्रतिष्ठा सब जगह अक्षुण्ण रहती। देवालय हो या प्रतिमागृह, स्तूप-उपोसथागार हो, या साधारण भिक्षुनिवास, सभी जगह सुन्दर चित्रों, फूल-पत्तियोंसे उसे सजाना अच्छा समझा जाता है। मैं भी इसको बहुत पसन्द करता हूँ। जब चिकित्साविद्यालयके लिये शाला बन कर तैयार हुई, तो हम लोग विचारने लगे, कि इसकी भीतोंको कैसे अलंकृत किया जये। मुझे उस समय एकएका ख्याल आया, जेतवनमें अत्यन्त बीमार पड़े भिक्षुकी तथागतने स्वयं सुश्रूषा की थी, उसीका चित्र बनाकर उनका यह वचन, क्योंन अंकित कर दिया जाय—"रोगी की सुश्रुषा करना मेरी पूजा करना है।" गुणमित्र और दूसरे साथियोंने इसेब हुत पसन्द किया, और शालाके प्रमुख स्थानपर दीवारमें हमने इस दृश्यको अपने कुशल चित्रकार बुद्धमित्र द्वारा अंकित करवाया। उसके एक दृश्यमें अस्थि-पंजर अवशिष्ट भिक्षु अपने पेशाब-पाखानेमें पड़ा हुआ है, तथागत तथा आयुष्मान् आनन्द उसे बड़ी करुणापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। दूसरे दृश्यमें जंताघर (स्नान गृह) में भिक्षु चारपाईपर लेटा हुआ है, चूल्हेमें पानी

गरम हो रहा है, तथागत अपने हाथोंसे उसके पैरोंको धो रहे हैं, आनद उनके काममें सहायता कर रहे हैं। तीसरे दृश्यमें रुग्ण भिक्षुको स्वच्छ बिस्तर लगा कर एक चारपाईपर लिटाया गया है, और तथागत प्रसन्नमुख उसकी तरफ देख रहे हैं। पहले पहल मैंने इस चित्रके विचारको देकर उसे वहाँ अंकित करवाया था। उसका अनुकरण सारे राज्यकी हमारी चिकित्सालयोंमें होने लगा।

मुझे बाहर जाते ही रहना पड़ता, क्योंकि हर जगह संघ की व्यवस्था और चिकित्सालयको देखना मेरा कर्तव्य था। मैं इसके कारण किसीपर बोझ नहीं बनता था, क्योंकि मेरे पास कभी पाँचसे अधिक भिक्षु नहीं रहते, और हम सभी पिंडपातिक अर्थात् भिक्षा माँग कर खानेवाले थे। भिक्षु-भिक्षुणी सारे राज्यमें बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखे जाते थे, क्योंकि वह केवल कंठस्थ किये हुये सूत्रोंको तोतेकी तरह रटा नहीं करते थे, बल्कि लोगोंके सुख-दुःखमें हाथ बँटाते थे। हमने अपाहिजों और अन्धे-लूलें-लंगड़ोंके लियेभी शरणस्थान बनवाये। सम्राट मुझे जो भी देते थे, उसका सद्व्यय मैं इसी तरहसे करता हूँ। यात्रामें जो भी दीन-दुखी मिलता, उसे मैं शरणस्थानमें पहुँचाने, की यवस्था करता। मैंने देखा कहीं-कहीं लोगोंको पानीका कष्ट है। वह दूर-दूरसे पानी ढोकर लाते, गन्दा पानी पीते हैं। मुझे एक नया काम मिल गया। पहले कूयेंको खुदवाते समय मैं कई दिनों तक नियमपूर्वक अपने सिरपर मिट्टीकी टोकरी ढोता रहा। आसपासके लोग सैकड़ोंकी तादादमें उस समय मेरी सहायताके लिये आ गये, और कुछ ही दिनोंमें एक पक्का कूआँ तैयार हो गया। जब वहाँके लोगोंको नये कूयेंका स्वच्छ जल पहलेपहल पीते देखा, तो मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने यह निश्चय कर लिया, कि सम्पूर्ण राज्यमें कहीं कोई स्थान ऐसा नहीं होना चाहिए, जहाँ लोगोंको पानीकी तकलीफ हो। श्री राज्य मरुभूमि नहीं है, यहाँ सभी जगह धरातलसे कुछ ही हाथों नीचे स्वच्छ मधुर जल मौजूद है, फिर लोगोंको पानीकी क्यों तकलीफ होनी चाहिये? मार्गपर ऐसे स्थान भी थे, जहाँ आसपास बस्ती न होनेसे कुओंका अभाव था, जिसके कारण पथिकोंको बहुत कष्ट होता था। मैंने एक ऐसे ही स्थानपर

कूआँ बनवाया और गर्मियोंके समय कितने ही दिनों तक पानी निकाल कर अपने हाथसे प्यासे पाँथोंको शीतल जल पिलाता रहा। एक-दो बात करनेमें दिखावेकी गन्ध आ सकती है, लेकिन यदि आप अपने जीवनके सभी जागृत क्षणोंमें वही करनेके लिये तैयार हों, तो कोई दिखावे और दम्भका लांछन नहीं लगा सकता, यदि अपने स्वभावके कारण कोई वैसा करे भी, तो क्या सुमार्गसे हमें भ्रष्ट होना चाहिये?

मेरा तूफानी जीवन समाप्त हो गया था। पर्यटनकी इच्छाकी तृप्ति छी-राज्यके भीतर घूम कर ही पूरा करता था। समय बीतनेके साथ, जब चीनी भाषा और चीनके लोगोंसे मेरी घनिष्टता बढ़ी, तो इस बातकी इच्छा जरूर होती थी, कि देश के और भागोंमें भी जाऊँ। लेकिन, वैसा करनेका अवसर नहीं मिलता था, क्योंकि मैंने संघनायककी जिम्मेवारी लेकर अपने पैरोंमें बेड़ियाँ डाल ली थीं। मैंने स्वीकार किया था, उसे स्वेच्छापूर्वक ही। दीनों-दुखियोंकी सहायता करता था। आँसुओंके सूख जाने, मर्मान्तक पीड़ाके हल्की हो जानेके बाद प्राणीके चेहरेको जब परिवर्तित देखता, तो समझता मेरे अपने श्रमकी मजूरी तुरँत मिल गई। दूसरे कामोंके लिये मेरा समय नाम मात्रही खर्च होता था। अनुवादका काम सिर्फ एकसाल करके चार पुस्तकें समाप्त की थी, अध्यापनका काम भी मैंने अपने जिम्मे नहीं लिया था। मैं एकान्त मनसे भैषज्य-गुरुके दिखलाये पथपर चल रहा था।

मनुष्यके दुःखोंको जब नजदीकसे देखा जाये और उनके कारणोंपर विचार किया जाये, तो उनकी जड़ बहुत गहरी मालूम होती है। जब तक जड़को न हटाया जाये, तब तक पत्तोंके नोंचनेसे रोगको दूर नहीं किया जा सकता। मुझे अपने चिकित्सालयों, शरणस्थानों, कूप-तड़ाग खोदनेके कामों, और स्वयं सिरपर टोकरी उठाने या घड़ेसे पानी निकाल कर प्यासोंको पिलानेमें तृप्ति मिल थी। मेरा चेहरा भले ही वहाँके लोगोंसे भिन्न हो, किन्तु मेरा वेष सबसे गरीब भिक्षु जैसा था। मुझे देखकर लोग यही समझते थे, कि मैं पश्चिमके बर्बर देशोंमें से कहींका हूँ। आखिर कूची या

कुस्तन (खोतन) के लोगोंके रूप-रंगसे मैं भेद नहीं रखता था। कभ-कभी मैं चुपचाप अकेले बोसंगको लेकर राजधानीसे दूर चला जाता, और किसी सेवाके काममें लग जाता। पूर्वी समुद्र तटपर मैं बहुत जाया करता था। अनन्त समुद्रको देखनेमें मुझे आनन्द आता था। पृथिवीके स्थल-मार्गका बहुत सा मैंने दर्शन कर लिया था, पर समुद्रमें सिंहल जाते-आते ही कुछ दिनों यात्रा की थी। उसे अगम-अथाह समझता था। वहाँ देश-देशान्तरोंसे आये पोतों और वहाँके आदमियोंको देखता, तो फिर मन तरंगित हो उठता। उस समय मालूम होता, छी-भूमिने मुझे खूँटेसे बाँध रक्खा है।

घड़े और टोकरीको लेकर परिश्रम करनेकी ही मुझे आदत नहीं थी, बल्कि येह और महाप्राकारके निकटके नगर (कलगन) में रहनेपर मैं कितनी ही बार घुमन्तुओं (त्योर्कों) के डेरोंमें जाता। घुमन्तू चीनमें भी अपने व्यापार या किसी और कामसे जब आते, तो अपने नम्देके तम्बुओंको लेकर ही आते, और नगरसे बाहर अपनी सवारी या बार-बरदारीके पशुओंके लिये अनुकूल स्थान देखकर ठहर जाते। मैं उनकी भाषा बोल सकता था, उनके यबगू और कितने बेगोंसे परिचित था। उनको मुझे पहचाननेमें भी देर नहीं होती थी, इसलिये वह बड़ी श्रद्धाके साथ मेरी बातोंको सुनते। मैं जानता था, इन लोगोंका सारा खाद्य मांसपर निर्भर है, जो हिंसाके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। "लंकावतार-सूत्र"को पढ़कर ही मेरे मनमें यह धारणा नहीं हुई थी, कि मांस खाना बुरा है, और त्रिकोटि परिशुद्धका नाम देकर शुद्ध (खाद्य) मांस कहना निरी वँचना है। मैं घुमन्तुओंके पास उपदेश करने जाता। उन्हें बहुत समझाता—तुम मांस खाना छोड़ दो। यदि उनके जीवनको उनके भीतर रह कर मैंने न देखा होता, तो शायद विश्वास भी करता; पर मैं भली-भाँति जानता था, कि उनके जैसे जीवनवालोंको मांस-भक्षण छोड़ना असम्भव है। इसीलिए मैं उनसे कहता—सालमें महीनेमें चार या छ दिन मांस-भोजन छोड़ दो, और अपने हाथसे जीव मारनेसे, जहाँ तक हो रुके, बचो। मनुष्य चाहे घुमन्तू हो, चाहे नगर-

वासी, पर स्वभावत: क्रूर और खूनका प्यासा नहीं होता। जब उनमेंसे कुछ त्रिशरण और पंचशील लेकर प्रतिमासकी दोनों अष्टमियों, अमावस्या तथा पूर्णिमाको मांस न खानेका व्रत ले लेते, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। मैंने हजारों नहीं लाखोंको अपने जीवनमें इस तरह का व्रत दिलवाया। शायद उसके कारण मांसके लिये मारे जानेवाले लाखों प्राणियोंकी रक्षा हुई हो, लेकिन कभी-कभी मुझे यह निरा भ्रम मालूम होता है। मनुष्य ऐसे न मारे जानेवाले पशुओंको अवध्य नहीं कर सकता, या उसे जंगलमें नहीं छोड़ सकता। आखिर उनके खाद्य पशु – भेड़-बकरियाँ, घोड़-ऊँट या चमरी—उनके पास ही रहते हैं। अतिरिक्त होने पर वह उन्हें नगर-ग्रामवासियोंके हाथमें बेंच देते हैं। वहाँ जाकर उन्हें अपनी मौत मरना होगा, यह विश्वास नहीं किया जा सकता।

वस्तुत: रोगियों और अनाथोंकी सेवा, अहिंसा-व्रतका प्रचार मेरे जीवनका अभिन्न अंग बन गया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि मैं अपने कामसे नितान्त संतुष्ट था। जब उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगता, तो मुझे अपने पर अविश्वास होने लगता। लोग दीन और अनाथ हों, जिसमें हमें उनकी सेवाका अवसर मिले, यह कौन सा अच्छा विचार है? क्या उससे यह अच्छा नहीं, कि कोई दीन और अनाथ दुनियामें रहे ही नहीं, और हमें वैसा अवसर न मिले? इस तरहके विचारोंके आनेसे पहिले मैं कूची और आगेके एक-दो नगरोंमें कुछ पारसीक साधुओंसे भी मिल चुका था। येहमें भी उनका एक आश्रम था, और छंग-अन्में और भी बड़ा आश्रम था, जहाँ उनके विद्वानोंके सम्पर्कमें आनेका मुझे अवसर मिला। पारसीक धर्मके अनुयायियोंमें एक नया पंथ स्थापित हुआ था, उसी तरह जैसे हमारे यहाँ हीनयान के साथ महायान। इस पंथके गुरु मानी एक बड़े ही परोपकारी, विचारक तथा कलाकार पुरुष थे। वह अपने पुराने धर्मगुरुओंके समान ही बुद्धमें भी भक्ति रखते थे, और वैसा ही उन्होंने अपने अनुयायियोंको शिक्षा दी थी। वह हमारे बिहारों और मंदिरोंमें बड़े भक्ति-भावसे आते। मुझे यह देखकर दुःख होता था, कि हमारे भिक्षु उन्हें तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे। मैंने इस दुर्भावको

हटानेमें सफलता पाई। उन्हें हमेशा मैं बड़े स्नेह और सम्मानकी दृष्टिसे देखता। प्राणी मात्रकी सेवाके लिये अपने जीवन का उत्सर्ग करनेवाले बोधिसत्वोंके मार्गके पांथकोंके अनुरूप यह भाव बिल्कुल नहीं है। जब प्राणी मात्र हमारे सेव्य हैं, तो उनके प्रति सेवकका इस तरहका मनोभाव कब उचित हो सकता है? अवसर मिलनेपर वह अपने धर्म और गुरुओंकी शिक्षाके बारेमें कहते। येहमें उस वक्त मेरी ही उमरके एक मानीपंथी साधु रहते थे। उन्होंने जो करुण कथा मुझे सुनाई, उसे सुनकर मैं बड़ा ही खिन्न और अपने कामोंसे कुछ असंतुष्ट भी हुआ। उस समय यहाँ आये मुझे दस साल हो गये थे, मेरी उमर ५० सालकी थी, और वही उस मित्रदात साधुकी भी थी। कुछ ही समय में हमारी इतनी घनिष्टता हो गई, कि मेरे कितने ही पर्यटनोंमें मित्रदात भी मेरे साथ रहते। वह बतलाते थे। मैं उस समय दस साल का था, जबकि रोमांचकारिणी घटना घटित हुई। मानीके उत्तराधिकारी हमारे गुरु मज्दक जीवन भर लोगों को सुखी रखने का रास्ता कार्यरूपमें बताते थे। उनकी शिक्षा थी, दीनो और रोगियोंकी सेवा-सुश्रूषा करना बहुत ठीक है, लेकिन इससे दुःखकी जड़ नहीं दूर हो सकती। दूर करनेका एक ही रास्ता है, और वह है पुरुष-पुरुष में धन-सम्पतिकी विषमता न रह जाये। न कोई आदमी भूखा रहे, न कोई धन-वैभव में डूबा। उन्होंने हमारे देशमें बड़ी सफलता पाई। गाँव के गाँव और नगर के नगर उनके बतलाये मार्ग पर चलने लगे। समता का एक छत्र राज्य चारों तरफ दिखलाई पड़ने लगा। उनके प्रभावके कारण शाहानुशाह कवाद भी उनका अनुयायी हो गया। लेकिन, धनी—जिनके मुँहमें गरीबोंका खून लग गया था—अपनी सम्पदाको हाथसे जाते देख कैसे चुप रह सकते थे? उन्होंने बराबर इस बातकी कोशिश की, कि गुरु मज्दक अपने उद्देश्य में सफल न हों। मैं दस सालका था, जबकि बूढ़े कवादका तरुण बेटा अनवशकखाँ (नौशेरवाँ, खुसरो) उनका हथियार बना, और हमारे सारे देश में तथा राजधानी में वह भीषण खूनी कांड हुआ, जिसको याद करके आज भी मुझे रोमांच होता है, आँखे आँसू बरसानेकी जगह घृणाकी आग बरसाने लगती हैं, यद्यपि मैं यह जानता हूँ, कि यह

गुरुके उपदेशके विरुद्ध है। हमारे गुरु कहते थे, "स्वर्गको इसी पृथ्वी पर लाना है, मेवोंके बगीचे, मधु और दूधकी नदियाँ यहीं बहानी हैं। यदि मनुष्योंका खून चूसने वाले न रहें, अर्थात् उनको वैसा करनेका अवसर न मिले, तो निस्सन्देह स्वर्ग भूमि पर उतर आयेगा।" आज भी मैं अपनी आँखों देखे उस भीषण कांड को भूला नहीं हूँ। गुरुके उपदेशसे नहीं, बल्कि उनके कामोंसे लोगोंकी गरीबी दूर हो गई। हमारे गाँवोंमें तरह-तरहके स्वादिष्ट मेवोंके बाग लगे। अतिथियोंकी दिल खोल कर सेवा की जाती। गुरुका कहना था, कि केवल सम्पति में ही मेरा-तेराका भाव बुरा नहीं है, बल्कि विवाह भी मेरे-तेरेके भावोंको पैदा करके अपनी सन्तानके प्रति पक्षपातका कारण होता है। सारा देश तब तक एक कुटुम्ब नहीं बन सकता, जब तक कि विवाह-प्रथा मौजूद है। उनके कहने पर लोगोंने विवाह प्रथा छोड़ दी। मैं अपनी माँको जानता हूँ, लेकिन कौन मेरा पिता था, यह नहीं बतला सकता। खुसरो ने राजधानी तसपोनमें उस दिन अपने प्रासादके सामने मानव शरीरोंका उद्यान खड़ा किया था, स्त्री-पुरुषोंके सिरको जमीनमें गाड़ पैरों तथा हाथोंको ऊपर रक्खा गया था। मज्दकके शिष्योंको वह हत्यारा कह रहा था—"लो, यह है तुम्हारा भूमिपर उतरा स्वर्ग।" राक्षसने हम बालकोंको यहाँ खड़ा करके इस दृश्यको खास तौरसे दिखलाया, जिसमें हमारे हृदयमें मज्दककी शिक्षा का कोई प्रभाव न रह जाये। जिस किसीको भी उसने मज्दकका धर्मदूत समझा, उसको जीवित नहीं छोड़ा। सबसे बड़ी बिडम्बना यह है, कि यह राक्षस खुसरो आज अद्वितीय न्यायावतार माना जा रहा है।

मित्रदातकी करुण कथाने मेरे हृदयपर स्थायी प्रभाव डाला। पारसीक देशकी खून-खराबीसे ही मेरा हृदय दुःखी नहीं हुआ, बल्कि मैं सोचने लगा: तथागतने भी दुःख हटानेके मार्गका उपदेश किया है। महायान् तो हमारे सामने यही एक मात्र कर्तव्य रखता है, कि जब तक संसारमें एक भी प्राणी दुखी है, तब तक अपने निर्वाणकी कामना करना अनुचित है। बुद्धके प्रशंसक मानी तथा उसके उत्तराधिकारी मज्दक भी अपने देशमें उसी कामको कर रहे थे। उनका

रास्ता ज्यादा खतरेका था, लेकिन हो सकता है, वही दु:खके हटानेका ठीक रास्ता हो। यह तो मैं भी देख रहा था, कि सारे चिकित्सालायों और अनाथाश्रमोंके होते हुये भी अभावके कारण होनेवाले दु:खकी जड़को मैं नहीं काट रहा हूँ। मैं कितनी ही बार सोचने लगा, मनुष्योंमें सम्पत्तिकी जो विषमता है, वही सबसे अधिक दु:खोंका कारण है। संम्राटों या सामन्तोंको वैभवमें इतना डूबे रहने का क्या अधिकार है? यह वैभव तथा धन उनके प्रासादोंमें आकाशसे नहीं टपकता। परिश्रम करते-करते लोगोंकी कमर टूट जाती है, तब यह बहुमूल्य धातुओं और रत्नोंके जेवर प्राप्त होते हैं, ये नाना प्रकारके स्वादिष्ट खाद्य प्रस्तुत होते हैं, महार्घ मृगचर्म तथा पट्ट (रेशम) वस्त्र तैयार होते हैं। इन सबको जो हाथ तैयार करते हैं, वही दुनियाँमें सबसे गरीब हैं। जो अपने हाथसे एक तृण भी न हटानेकी शपथ खाये हुए हैं, वह मौजमें रहते हैं। इसके लिये यह कहना कि वह अपने पूर्वके कर्मका उपभोग कर रहे हैं, सारे दु:खोंकी जड़ इस विषमताको कायम रखनेका प्रयत्न है। यदि कर्मका फल होना ही है, तो वह आदमी आदमीमें बुद्धि और प्रतिभाकी विषमता द्वारा हो सकता है। दाने-दानेके लिये मोहताज करते आदमीको पशुसे भी नीचे गिरानेकी उसके लिये कोई जरूत नहीं।

खुसरोंकी आज्ञा से जिस वक्त दूसरे लड़के नकली बापोंमें बाँटे जा रहे थे, उस समय मित्रदातको किसी छोटे-मोटे सामन्तका पुत्र बना दिया गया। उनको अपनी माँके प्रति असाधारण प्रेम था, जिसे उस दिन राजागणमें सिर गाड़ कर मानव-वृक्षका रूप दिया गया था। जिन स्तनोंके दूधको पीकर वह इतना बड़ा हुआ था, वह वहाँ निर्जीव और नंग थे। दानों पैर आसमानकी ओर खड़े थे और दोनों हाथ जमीनके भीतरसे निकली हुई दो शाखाओंकी तरह थे। गाड़नेके साथ ही प्रण निकल चुके थे। जब प्राण निकल गये, तो निर्जीव शरीर मिट्टीसे बढ़ कर नहीं रहता, उसके साथ चाहे जो भी करो। अधम पशु खुसरोको वह दृश्य देखकर अपनी सफलतापर संतोष हो सकता है लेकिन उन माँ-बापोंकी सान्तानें उसे कैसे सहन कर सकती थीं? खुसरोने अपने आतंकसे मज्दकके अनुयायियोंका उच्छेद कर दिया, उस पंथके दृढ़ अनुयायियोंके,

बीन बीन कर खतम किया, और उनके बच्चोंको इस तरह बाँट कर रख दिया, जिससे मज्दककी शिक्षा आगे न बढ़े। मित्रदात छः वर्ष तक अपने कृत्रिम पितके यहाँ आरामसे रहा, लेकिन माँकी उस अवस्थाका नग्न शरीर सदा उसकी आँखोंके सामने रहता, वह स्वप्नमें उसे देखता और कितनी ही बार माँ धरतीसे मुँह निकाल कर हँसती हुई कहती—"बेटा, डरो मत। मनुष्य जातिका कल्याण इसी रास्तेसे है, चाहे वह आज हो, या हजार वर्ष बाद"। मित्रदातको अपनी मांकी बात पसन्द थी। मज्दक और मानीकी क्या शिक्षा थी, यह जाननेके लिये अपने देशमें सुभीता नहीं था। लोग डर कर बदल गये थे, पर कितने ही विचार छोड़नेकी जगह अपने देशको छोड़ कर, येथों (हेफ्तालों, श्वेत हूणों) के राज्य में चले गये। सोलह वर्षके होते-होते मित्रदात उनकी खोजमें निकला। उसे अपने उद्देश्यमें सफलता मिली, और बिखरे हुये अपने धर्म-भाइयोंके सत्संगके लिये वह देश-विदेशमें मारा-मारा फिरा। अब वह यहाँ महाचीन देशमें था। मैं सोचता था—धनी-गरीबका भेद मिटाकर ही संसारमें मनुष्य जातिको दुःख-सागरसे उबारा जा सकता है। लेकिन ऐसा करनेमें क्या हर देशमें खुसरो अनवशकरवाँ नहीं पैदा होंगे? पैदा हो सकते हैं, लेकिन कितने दिनों तक वह पृथिवीपर स्वर्गकी उतरनेसे रोकेंगे। आखिर अनवशकरवाँ मुट्ठीभर होंगे, और जिनका हित होने-वाला है, वही सबसे अधिक संख्यामें हैं। उनके ऊपर जब तक भ्रम और अज्ञान का जाल फैला रहेगा, तभी तक यह मुट्ठी भर खूनी अपना काम कर सकते हैं। खुसरोने अपने हाथसे दो-चार हीको मारा होगा, उसके सामन्तोंने दस-बीसको मारा होगा, लेकिन बाकियोंको मारने-वाले खड्ग तो उन्हींके हाथोंके थे, जिनके कल्याणके लिये मज्दक और उनके शिष्यों ने हँसते-हँसते अपनेको बलिदान किया। नहीं, खुसरो अनवशकरवाँ हमेशा अपने दुरुद्देश्यमें सफल नहीं होंगे। तथागतने बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय हमें संसारमें चारिका करनेका उपदेश किया, उस पथसे हमें भ्रष्ट नहीं होना है। हाँ, यह अवश्य है, एक दो आदमी इस तरहका महान् परिवर्त्तन नहीं कर सकते, जिस बहुजन के हित और सुखकी स्थापना करनी है, उन्हींके

हाथों यह काम पूरा होगा। वही जब इसके लिये कटिबद्ध हो जायेंगे, तो कोई रोक नहीं सकेगा।

तथागतने हमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा रखनेका उपदेश दिया। किसीसे घृणा या वैर नहीं करना चाहिये। वैरसे वैर शान्त नहीं होता, इस सत्यसे मैं इन्कार नहीं करता, लेकिन सच बताऊँ, मित्रदातसे जब मैंने वह भयंकर गाथा सुनी, तो खुसरो जैसोंके प्रति मेरे हृदयमें अपार घृणा पैदा हो गई। उसी समय मैं बीमार पड़ गया। मैं उस वक्त राजधानीसे बाहर था। मेरे मित्र मुझे उठा कर येहमें ले गये। पेटमें असह्य शूल उठता था, दांतोंको दांतोंपर दबा कर मैं उसे सहने की कोशिश करता था। लेकिन, उस समय भी मैं अपनी पीड़ाके सामने हृदयमें बैठी घृणाको भूल नहीं सकता था। मुझे अत्यन्त रुग्ण सुन कर अपनी सम्राज्ञीके साथ सम्राट हाउ चू मुझे देखनेके लिये संघाराममें आये। यह मेरा असाधारण सम्मान था, चीनके सम्राट देव-पुत्र हैं, उनके दर्शनसे लोग अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। देव-पुत्र स्वयं मुझे देखने वहाँ आये थे। मेरी चारपाईके पास उनके लिये आसन रख दिया गया। कितनी ही देरतक वह मेरे स्वास्थ्यके बारेमें पूछते रहे। उनके चेहरे और स्वरसे मालूम होता था, कि उन्हें मेरे लिये दुःख हो रहा है। छी-वंशके वह सबसे बड़े सम्राट थे, और उन्होंने सबसे अधिक—बारह साल (५६५-७७ ई०) तक—शासन किया था। उनके साथ ही इस वंशकी राजलक्ष्मी विदा हो गई। नाममात्रके ही उनके दो उत्तराधिकारी कुछ महीनों तक शासन कर सके। सम्राट का व्यवहार बहुत स्नेह और सम्मान का था। मित्रदात भी वहीं मेरी सुश्रूषामें उपस्थित थे, उनकी आँखोंमें मैं खुसरोको देख रहा था, फिर सम्राटकी ओर नजर जाते ही उनके चेहरेमें वही खुसरो मुझे दिखलाई पड़ने लगा। यह क्यों है? इनका सबसे बड़ा काम है मनुष्य-मनुष्यके भीतर विषमताको कायम रखना। हमारे सार्थवाहके पास लाखोंकी संपत्ति है। राजभवनकी सम्पत्तिको देखकर लोगोंकी आँखे चौंधिया जाती हैं। यदि मालूम हो, कि मैं इस विषमताको दूर करनेके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ, तो क्या वे चुप रहेंगे? क्या उस समय मुझे सम्मानकी दृष्टिसे देखेंगे,

अथवा, रोगशैय्यापर पड़े रहनेपर इस तरह पूछ-ताछके लिये आयेंगे। कभी नहीं। यह सारा सम्मान-प्रदर्शन तभी तक है, जब तक मैं बिना सींग-की गौ हूँ, इनको मुझसे कोई भय नहीं। उस समय मुझे अपने ऊपर बहुत संयम करना पड़ा। कहीं ऐसा न हो, कि शिष्टाचारके विरुद्ध कोई बात मेरे मुंहसे निकल आये। पर मुझे अपने प्राणोंका इतना ही प्रेम है, कि मैं उनसे जन-सेवाका काम लेना चाहता हूँ।

बीमारी कठिन थी, लेकिन गुणमित्र और दूसरे बन्धुओंको यह पसंद नहीं था, कि मैं अभी चल बसूँ। मैं अच्छा हो गया। चारपाईपर पड़े-पड़े एकान्त घड़ियोंमें सोचते मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा, कि यद्यपि आततायीके प्रति सहा-नुभूति दिखलाना उचित नहीं है, पर हम एक व्यक्तिको विषमताके लिये दोषी नहीं ठहरा सकते। इसमें एक वर्गका अपना स्वार्थ है, क्या सम्राट मर जाये, तो इससे यह विषमता दूर हो सकती है? एक सम्राट मरेगा, दूसरा उसकी जगह आ जायेगा, एक सामन्त या सार्थवाह खतम हो जायेगा, तो उसकी जगह सूनी नहीं रहेगी। जब तक ऐसी परिस्थिति न पैदा कर दी जाये, जिसमें ऐसा होना सम्भव ही न हो, तब तक वैयक्तिक ईर्ष्या या हिंसासे भी काम नहीं चल सकता। इसके लिये बहुजनको उद्बुद्ध करना होगा, पर अन्तिम सफलता जल्दी होगी, इसकी आशा नहीं करनी चाहिये।

दुःख-निरोधके लिये मुझे एक दूसरे मार्गकी झलक दिखलाई पड़ी, किन्तु मैंने अपने शेष जीवनमें क्या किया? वही जो कि पहले करता आया था, रोगियों—भूखों-अनाथोंकी तन-मन से सेवा। स्वास्थ्य लाभ करनेके बाद फिर मैं उसी तरह घूमते या राजधानीमें रहते उसी कामको करता रहा। इसी समय (५६३ ई०) मैंने "अभिधर्महृदयशास्त्र" का भाषान्तर किया। भाषान्तर की जगह मेरी तो इच्छा होती थी, कि मज्दक के उपदेशके बारेमें "मज्दकपरिपृच्छा" लिखूँ। मैंने इस इच्छा-को कार्यरूपमें परिणत भी किया, लेकिन मुझे आशा नहीं, वह मेरे जीवनके बाद भी मौजूद रहेगा। राजाओं और सामन्तोंके अत्याचारोंके

प्रति घृणा करते हुये कितने ही लोक गीत बनाये और गाये जाते हैं, जिनमें कविताका वह रस आता है, जिसे न हम कालिदास की कृतियों में पा सकते हैं, न अश्वघोषकी । किन्तु, क्या वह चिरस्थायी हो पाते हैं? चिरस्थायी होनेके लिये उन्हें तालपत्र या कागजपर उतरना चाहिये, और एक बार उतरनेसे कुछ नही हो सकता । हमारी धर्मपुस्तकोंकी तरह उन्हें बार-बार उतरते रहना चाहिये, तभी वह शताब्दियाँ पार कर सकती हैं। मुझे विश्वास नहीं, कि "मज्दक परिपृच्छा" चिरस्थायी हो सकेगी। मुझे तो अभी ही उसे गुप्त रखनेका प्रयत्न करना पड़ता है। यदि कहीं इसका पता प्रभुओंको लग जाये, तो वह उस पुस्तक को नष्ट करके ही संतुष्ट नहीं होंगे, बल्कि लिखनेवालेको भी सुरक्षित नहीं छोड़ेंगे। इसे मेरी कायरता कहा जा सकता है, लेकिन वर्तमान स्थित में मैं जो कुछ सेवा कर रहा हूँ, उससे भी लोग वंचित हो जायें, यह मुझे पसन्द नहीं। वर्तमानसे मुझे भले ही निराशा हो, लेकिन बहुजनसे मुझे निराशा नहीं, विशेषकर महाचीनके बहुजनसे जिसने अत्याचारियोंकी तलवारोंसे डर कर अपने पथको सदाके लिये कभी नहीं छोड़ा, यह तथागत के शासनपर हुये अत्याचारोंसे मालूम है। हजारोंकी संख्यामें बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाओंने हँसते-हँसते दहकती आगको आलिंगन किया, लपलपाते खड्गके सामने सिर कर दिया, तथागतने जो दुःख-निरोध-माग बतलाया था, उसीके लिये उन्होंने यह सब किया । दुःख-निरोध-मार्गको ये कभी नहीं छोड़ेंगे, यह मुझे पूरा विश्वास है। अंतमें खुसरो जैसे गत्तस अत्यचार करते करते खतम होकर रहेंगे और भूमि पर स्वर्ग वस्तुतः उतरेगा ।

अध्याय १६

झंझा में (५७७-८१ ई०)

येह का संतोषदायक निवास खतम होनेको आया। मैंने "चन्द्र गर्भ सूत्र" (५६६ ई०) और "पितापुत्र-समागमसूत्र" (५६८ ई०) के अनुवाद कर डाले। अपने अन्तिम समयमें सम्राट् हाउ-चू मेरे कार्य में और भी अधिक सहायता करनेके लिये हर समय उद्यत रहते थे। काम वही था, जिसके बारेमें मैं बतला चुका हूँ, और जिसे मैं रोगोंकी असली औषधि नहीं समझता। छी वंशकी निर्बलता अब स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। सामन्त और राजपुरुषोंके अत्याचारोंपर नियंत्रण रखना मुश्किल हो गया था, तो भी सम्राट् हाउ-चू के जीवन तक उतनी अशान्ति नहीं हुई थी। उसके उत्तराधिकारी अन्-तेह वांग (५७७ ई०) और यू-चू (५७७ ई) निबल, अयोग्य और विलासी थे। छंग-आनका चाउ-वंश बराबर लालच भरी दृष्टिसे येहकी ओर देख रहा था। छंग-आन पुरानी राजधानी है। बड़े-बड़े राजवंशोंने यहाँ रह कर महाचीनपर शासन किया। पे-वेई-वंशको लेते समय उसके अमात्यने ख्याल किया था, कि मैं सारे राज्यका अधिकारी बनूँगा, लेकिन उससे पहले ही पे-छी-वंश ने उसके पूर्वी भागको सँभाल लिया। वंश-स्थापक शिवों मिन-ती (५५६-५७ ई०) जिस बातमें असफल रहा, उसे उसके द्वितीय उत्तराधिकारी वू-ती (५६१-७८ ई०) ने पूरा किया। छी वन्श खतम हुआ, और पेव-चाउ दोनों राज्योंका स्वामी बना। वू-ती उस विजयका उपभोग कुछ ही महीनों कर सका। उसके बाद शू-येन-ती (५७-८ ८० ई०) गद्दीपर बैठा। राज्य-परिवर्तनके बाद येह अब राजधानी नहीं रह गई, तो भी उत्तरी घुमन्तुओंके रास्तेका सबसे नजदीकका सबसे बड़ा नगर होनेके कारण अभी भी उसकी स्थिति दीन-हीन नहीं हुई थी। वू-तीने पुराने राजवंशके विश्वासपात्रोंसे खतरा समझ कर

उनकी शक्तिका उच्छेद करना आवश्यक समझा। छी-वंशके प्रभावको बढ़ानेमें हमारा भी कुछ हाथ समझा जाता था, हम बहुजन-हिताय जो सेवा करते रहे, उसके कारण हमारे प्रति और हमारे सहायक छी सम्राट्के प्रति लोगोंका सद्भाव था। वूने हमारे कामपर प्रहार करना शुरू किया, जिसके कारण मुझे, मित्रदात और वोसंगके साथ राजधानी छोड़ देना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी श्वेन् तीने तो अपने दो साल (५७८-८० ई०) के शासन में गजब ढा दिया। छुंग अनमें उसने उतने अत्याचार नहीं किये, और वहाँ अब भी भिक्षुओंका कुछ कुछ सम्मान था, पर छी राज्यमें तो वह भिक्षु-भिक्षुणियोंको फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहता था। उसने हुकुम निकला था: "शाक्य-श्रमणोंके कामको जबर्दस्ती बन्द किया जाये, भिक्षु-भिक्षुणियोंको चीवर छोड़ कर गृहस्थ बननेके लिये मजबूर किया जाये, और जो न माने, उसे प्राणदंड दिया जाये"। मैं अपने पथको नहीं छोड़ सकता था, और पकड़े जानेपर प्राण गँवानेके सिवा और कोई लाभ नहीं था। मेरे मित्रोंने नहीं चाहा, कि मैं इस तरह अपने जीवनका अन्त कर दूँ। जीवन रहनेपर मैं फिर अपने कामको जहाँ भी रहूँ, चालू कर सकता था। इससे भी बढ़ कर डर था, मेरे बलिदानके निश्चय करनेपर कितने ही मेरे मित्र मेरा अनुगमन करते, तो जो बहुजनकी सेवाका मार्ग हमने खोला था, वह हमेशाके लिये बन्द हो जाता। चीवर मैंने नहीं छोड़ा। यह निश्चय कर लिया था, कि प्राणोंके साथ ही यह मेरे शरीरको छोड़ेगा। लेकिन ऊपर से मैंने गृहस्थोंका चोगा पहनना मंजूर किया। हम देख रहे थे, किस तरह हमारे चिकित्सालयोंको जबर्दस्ती बन्द कर दिया गया। पहले नये राजवंशने वैद्योंको रख कर उन्हें चलानेकी कोशिश की, लेकिन न वह उतने योग्य थे, न उनमें वह सेवा-भाव था। ऊपरसे राज्य खर्चके लिये पर्याप्त द्रव्य देनेके लिये तैयार नहीं था। दुःख-त्राणके लिये जो स्थान और आश्रम हमने १८ वर्षकी मेहनतसे तैयार किये थे, वह देखते-देखते उजड़ गये। जहाँ भी हम जाते, वहाँ उनके सँभालनेकी कोशिश करते, लेकिन फिर उस जगहपर रहनेका हमें अवसर

नहीं मिलता था। अन्तमें यह नौबत आई, कि हमें उत्तरके देशको छोड़ कर दक्षिणकी ओर जानेके लिये मजबूर होना पड़ा। महाचीन देखनेकी इच्छा इस प्रकार हमारी तृप्त हुई, किन्तु कितने घाटे और मानसिक यातनाके साथ।

चाउ वंश अब हमारा कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन हम भी यहाँ नये स्थानमें नये सिरेसे अपने कार्यको फैलानेमें सफल नहीं हो सके। मैं इसे अपनी आयुका दोष समझता हूँ। ५९ वर्षका हो गया था, जब कि मुझे अन्तर्धान होना पड़ा। ६० वर्षकी सीमा पार करते-करते एक तरहका ऐसा मानसिक अवसाद हुआ, कि मेरे सभी मनसूबे और संकल्प ढीले पड़ने लगे। ६० वर्षकी सीमा, जान पड़ता है, जीवनकी बड़ी सीमा है। उससे पहले आदमीको दिलसे विश्वास नहीं होता, कि मैं जीवनके दूसरे छोरपर पहुँच गया हूँ। अब यह ख्याल पैदा होने लगा, कि चला-चलीकी बेला आ गई है। हो सकता है, दस वर्ष बाद आये या उससे अधिक समय बाद, किन्तु अवस्था अनिश्चित हो जाती है। यदि किसी किसानको यह पता हो, कि जिस बीजको मैं खेतमें बोने जा रहा हूँ, उसके उगने और फलने-फूलनेसे पहले ही मैं नहीं रहूँगा, तो वह क्यों घरके अन्नको खेतोंमें बखेरने जायेगा। कुछ ऐसी ही अवस्था मेरे मनकी भी थी। फिरसे काम फैलानेमें समयकी आवश्यकता है, साथी भी अब कम हैं, नींव डालते-डालते कहीं नींव डालनेवालोंका पता ही नहीं रहे। सचमुच ६० वर्षकी आयुमें जब मैं पीत नदीके दक्षिण तटपर उतरा, तो मैं बिल्कुल बदला हुआ आदमी था। जान पड़ता था, मैं कहनेके लिये ही जीवित हूँ, अन्यथा आशाओं और आकांक्षाओंके सम्बन्धमें मृत हो चुका हूँ। मेरे पैर कहीं खड़ा होना नहीं चाहते थे। मैं बराबर एक जगहसे दूसरी जगह घूमता रहा, लेकिन अब वह ऐसे भी नहीं थे, कि बहुत दूर जानेके लिये तैयार हों। पहला जीवन होता, तो इस अवसरसे लाभ उठा कर मैं द्वीपान्तरोंकी सैर करता। यवद्वीपके बारेमें मैंने सुना था, सिंहलमें एक बार वहाँ जानेवाले

पोतोंको देखकर चलनेकी इच्छा भी हो गई थी, लेकिन उस वक्त तो उत्तरके मार्गसे महाचीन जानेकी धुन सवार थी।

मुझे अब मालूम हो गया, कि पैर तो मेरे शायद चलते ही रहें, क्योंकि किसी काम में आसक्ति नहीं थी, किन्तु अब मेरा चलना कोल्हूके बैलकी तरह होगा।

भारतमें भी उत्तर-दक्षिणका भेद है, वैसे ही महाचीनमें भी उत्तर-दक्षिण का भेद है। तथागतका शासन यद्यपि दोनों खंडोंमें एक सा ही है, किन्तु उसके रीत-रवाजों में कुछ अन्तर आ गया है। उत्तरी चीन अपने उत्तर और पश्चिम के घुमन्तुओंकी सीमा पर है, जहाँसे लूटने या शरण लेनेके लिये अनादिकालसे घुमन्तू आते रहे, और शताब्दियों तक उत्तर पर शासन भी करते रहे, यह हम बता चुके हैं, और यह भी कि चीनी जन-समुद्रमें वह नाम रूप खोकर विलीन होते गये। चीनका रंग बहुत पक्का है। यद्यपि घुमन्तुओं जितना तो नहीं, लेकिन हजारोंकी संख्यामें भारतीय आये, जिनमेंसे कितनोंकी दूसरी-तीसरी पीढ़ियों अपने भारतीय पूर्वजोंको अच्छी तरह जानती हैं, और कितनोंके पिता-पितामह अभी जीवित हैं। लेकिन, उनके देखनेसे मुख पर हमारा कोई भी छाप नहीं मालूम होती। इतना जल्दी और सदा के लिये मुखमुद्राका परिवर्तन और जातियों में नहीं देखा जाता। तो भी आगन्तुकोंको अपनेमें हजम करने पर उनकी कितनी ही बातें भी लेनी पड़ती हैं, और उच्च कुलका अभिमान भी खर्व होता है, इसलिये दक्षिणी चीनके लोग उत्तरी चीनवालोंको उतनी ऊँची नजरसे नहीं देखते। यही बात भारतमें भी हुई है। खश, यवन, शक, येथा आदि कितनी ही जातियाँ बाहरसे आकर उत्तरी भारतके लोगोंमें मिल गईं। उत्तरी भारत ही क्यों, दक्षिण के पल्लव (पह्लव) भी तो मूलतः विदेशी थे। वहाँ दक्षिणवालोंको हीन समझा जाता है, यद्यपि वहाँके लोगोंमें उत्तर वालोंकी अपेक्षा बहुत कम मिश्रण हुआ है अर्थात् एक तरहसे हमारे यहाँ रक्त-मिश्रणको गुण माना गया है, और चीनमें उसे दोष। पर, यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि चीनमें छुआछूतको कोई जानता भी

नहीं, और किसी जातिके प्रति वैसी हीन भावना नहीं रक्खी जाती, जैसी भारत में। अपनी कुल-परम्पराका गौरव दक्षिण चीनवाले अधिक शुद्ध मानते हैं। वह अपनी भाषा को अधिक समझते हैं, और उत्तरी भाषाको बर्बरों द्वारा दूषित कह नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

दक्षिणकी महानदी (यांग-ची क्यांग) पीत नदी (ह्वांग हो) जैसी-ही विशाल हैं। दोनों ही हमारे भारतकी किसी भी नदीसे बड़ी हैं। सीमान्त दक्षिण की महानदीके अधिकार-क्षेत्र तक है। चीनी लोग अपने सारे देशको एक मानते हैं, और शताब्दियों तक वह एक राज्य रहा भी है, किन्तु सामन्त-कुलोंकी स्वेच्छाचारिता और स्वार्थान्धताने उसे अनेक बार खंड-खंड किया, और फिर उन मेंड़ोंको तोड़कर एक बनाया गया। चिन्-वंश (२५५-२०६ ई० पू०) ने ऐसा ही किया था, और उसीके कारण बाहरवाले इस देशको चीन कहने लगे। उसके उत्तराधिकारी हान-वंश (२०८ ई० पू० २२० ई० पू०) ने भी सवा चार सौ वर्षों तक चीनको एक करके रक्खा। इसी समय (२०८ ई० २५ ई०) सवा दो सौ वर्षोंसे अधिक समय तक छंग-अन महाचीनकी राज धानी रही, फिर ढाई सौ वर्षों (२५ २२० ई०) के लिये लोयांगको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। छांग-अन और लोयांगका नाम आज भी लोग बड़े सम्मान से लेते हैं। वहाँ एकसे एक कलाके नमूने और विद्याके केन्द्र बने। हरेक सम्राटने अपनी राजधानीको सजानेमें कोई कसर उठा नहीं रक्खी, किन्तु कोई राजवंश सदा नहीं रख सकता। वंश परिवर्तन शान्तिके साथ नहीं बल्कि आग और तलवारसे होता है, जिसमें राजधानियाँ राजदुर्ग होनेके कारण सबसे अधिक ध्वस्थ होती हैं। हान वंशके बाद दूसरे चिन वंश (२६५-४२०) ने [छंग-आन, लोयांग (२६५-३१६ ई०) और नानकिंग (३१७—४२० ई०)] सारे चीनपर शासन किया। इसके बाद दक्षिण-उत्तरका विभाजन हुआ। दक्षिणमें कई राजवंशोंने नानाकिंग (४२०—५८६ ई०) और चियांग-लिंग (५०२—५८६ ई०) से शासन किया।

नानकिंग (दक्षिणी राजधानी) अरुण सुवर्ण पर्वतोंसे घिरा तथा महानदी

(यांगज्) के किनारे अवस्थित बड़ी ही सुन्दर नगरी है। गंगा और सिंधुकी तरह यह महानदी भी पश्चिमके हिमवान पर्वतोंसे निकलती है। नानकिंग केवल सारे दक्षिण चीनकी राजधानी ही नहीं, बल्कि विद्या और कलाका केन्द्र होनेसे भी हमारे लिये आकर्षण रखती थी। परन्तु मैं वहाँ रहनेके लिये तैयार नहीं था। डर था, कि छी-राज्यके संघनायकको वहाँ लोग पहचाने बिना नहीं रहेंगे। स्थविर परमार्थके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने वर्ष तक (५४८-५५७ ई०) यहाँ रहकर बहुत से ग्रन्थोंका अनुवाद किया। पहले लियांग-वंशके समय (५०२-५५७ ई०) किया, और उसके बाद छेन-वन्शके समय (५७७-८३ ई०) में बारह वर्ष (५५७-५६९ ई०) तक कितने ही विशाल और गम्भीर ग्रन्थोंका अनुवाद किया जिनमें "विज्ञप्तिमात्रतासिद्ध", "तर्कशास्त्र" , "अधर्मकोश" जैसे ग्रन्थ भी हैं। मैं नौ वर्ष पहले यदि आया होता, तो उज्जयिनीमें पैदा हुये इस महाविद्वानसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त करता।

हम मुश्किलसे चार दिन नानकिंगके एक छोटे से संघाराममें रहे। उत्तरके भागे हुये सामंत, राजपुरुष, कवि, कलाकार आकर यहा बस गये हैं, इसलिये इस नगरकी हर तरहसे समुन्नति बड़ी जल्दी हुई। घुटने तक लम्बे तथा बहुत लम्बी चौड़ी अस्तीनोंवाले जामोंको पहने यहाँके सम्भ्रांत पुरुष या महिलायें अपने अनुचरोंके साथ जब राजपथपर चलती हैं, तो धीमी हवासे उनके उड़ते हुये कपड़े भले ही किसी कविको बड़े सुंदर प्रतीत होते हों, किन्तु मुझे तो हमेशा दु:खका असली कारण सामने दिखाई पड़ता था, जो यही विषमता थी। समुद्र नजदीक तथा अधिक दक्षिण होनेके कारण गर्मियोंमें यहाँ हमारे देशके किन्हीं-किन्हीं स्थानों जैसी गर्मी पड़ती है, पसीना भी आता है। किन्तु, साथ ही यहाँ वर्षा बहुत होती है। नदीमें तरह तरहकी छोटी और बड़ी नावें और राजपथ पर पहियेवाली गाड़ियाँ चलती रहती हैं। प्रधान सड़कोंपर धनिकोंकी गगनचुम्बी अट्टालिकायें खड़ी हैं।

मुझे परमार्थके दायक सम्राट वू-तीकी (५०२—५४९ ई०) की कथा बड़ी करुण मालूम हुई। यह सम्राट् बुद्धधर्मकी शिक्षाओंको अपने जीवनमें ढालनेकी

कोशिश करता था। लियांग वंश का यही संस्थापक था। इसी वंश के अन्तिम राजा होनी (५०१ २ ई०) ने स्वतः अपने योग्य सेनापति वू-ती को राजसिंहासन प्रदान किया था। पर, वू-तीको उसमें कोई आसक्ति नहीं थी। उसने कई बार सिंहासन छोड़नेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन लोगोंकी प्रार्थनापर वह वैसा नहीं कर सका। वह अपना सारा समय धर्मके कामोंमें लगाता था। उसने बहुत से बिहार बनवाये, परमार्थ जैसे विद्वानोंको रखकर बहुत से धर्मग्रन्थों का चीनी भाषामें अनुवाद ही नहीं करवाया, बल्कि स्वतः बहुत ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया। राजकुमार सिद्धार्थके महान त्यागका उसके जीवनपर बड़ा असर पड़ा था। वह दिनमें सिर्फ एक बार भोजन करता और उसमेंमांस-लहसुन नहीं रहता। बलिके लिये पशुओंको मारनेका उसने निषेध कर दिया था। जहाँ वैसा करना जरूरी होता, आटेका पशु (पिष्टपशु) बना कर लोग बलि देते। अपराधियोंको मृत्युदंड देना उसे सह्य नहीं था, आँखोंमें आँसू भर कर वह अपने हाथों उन्हें मुक्त कर देता।

प्राणि मात्रके प्रति उसके हृदयमें अपार करुणा थी। ऐसे पुरुषका राजसिंहा-सनपर इतने दिनों तक टिकना बड़े आश्चर्यकी बात है। अन्तमें उसे अपने उत्तरी राजाका बन्दी बनना पड़ा, और जेलमें ही उसकी मृत्यु हो गई। अपनी समझके अनुसार उसने प्राणि मात्रके कल्याण करनेकी कोशिश की, और सिंहासनके प्रलोभनोंमें नहीं पड़ा। उसका जीवन सफल और गौरवशाली था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन, शायद मेरी तरह वह भी रोगकी जड़को न काट कर पत्तोंको नोंचने में ही सारा परिश्रम करता रहा।

दाक्षिणी राजधानी छोड़नेसे पहले मैंने देख लिया, कि यहाँ अपनेको छिपाना मुश्किल होगा। संघाराम यहाँ उत्तरकी अपेक्षा भी अधिक हैं। भिक्षु तीर्थयात्रा और पर्यटनके लिये सारे देशमें घूमते ही रहते हैं। यदि हम तीन आदमियोंकी जमात बनाकर घूमते, तो पहचाने जानेकी सम्भावना थी। अनिष्ट होनेका डर नहीं था, यह मेरे दोनों साथी भी जानते थे, पर मैं एक दीन भिक्षु पर्यटककी तरह घूमना चाहता था, सबसे कठोर स्थितिमें पड़े लोगोंके

जीवनका उपभोग करना चाहता था।

मुझे समझानेमें समय लगा, किन्तु अन्तमें मेरे दोनों साथियोंने स्वीकार किया। नगरी के बाहर जा मैंने महानदीके दक्षिणी तटसे उसके किनारे-किनारे ऊपरकी ओर चलना शुरू किया। चिथड़ोंके सिले चीवर और संघाटी मेरे शरीरपर मिट्टीका भिक्षापात्र कन्धेपर और पीठपर वही मेरी चिरसंगिनी तालपोथियाँ थीं। हाथमें डंडा, और पैर नंगे थे। उत्तरमें विशेषकर शीतकालमें नंगे पैर रहना मुश्किल है। यह गर्मियों का समय था, वैसे भी इधर बर्फ नाम मात्र पड़ती है। पहले दिनकी यात्रा दो योजन (१० मील) से अधिककी थी। मैं चाहता था, जितनी जल्दी होसके राजधानीसे दूर चला जाऊं। महानदीके दक्षिणी किनारे चलनेका यह अर्थ नहीं था, कि मैं बिलकुल उसके तटके साथ जारहा था। नदीको छोड़कर बहुत दूर नहीं जाता था। यहाँका दृश्य बहुत बातोंमें भारतसे समानता रखता है, अन्न भी बहुत से वही यहाँ भी पैदा होते, लोग चावल खाना ज्यादा पसन्द करते हैं। नदीके पास दोनों तरफ काफी दूर तक समतल भूमि थी, फिर कहीं-कहीं पहाड़ आने लगे। कितनी ही नदियाँ दक्षिणसे आकर इस नदीमें मिलती थीं। जहां भी कोई रमणीक पर्वतस्थली या नदीतट होता, वहां संघाराम अवश्य होते। मैंने आगे चल कर यही नियम बना लिया, कि शामके वक्त किसी संघाराममें जाकर ठहर जाऊँ, और सुबह दो घड़ी दिन चढ़ते वहाँ से चल दूँ। प्रातराश करनेका आग्रह मान लेता, लेकिन मध्यान्ह-भोजन मैं भिक्षा माँग कर करता। मैं तीन वर्षके करीब इस तरह विचरता रहा। पश्चिममें मैं उन पहाड़ोंमें गया, जिन्हें देख कर मुझे उद्यान याद आता था। केवल एक बार मुझे एक परिचित भिक्षु मिला, जिसे मैंने अनुनय-विनयसे रहस्य न खोलनेके लिये राजी कर लिया। मैं अपरिचितकी तरह लोगोंमें घूमता रहा। मेरे भिक्षापात्रमें पाँच-सात तरह की औषधियाँ रहतीं, जिनका मैं कभी-कभी मिलनेवाले रोगियोंके लिये उपयोग करता।

मैं भिक्षु वेषमें था। बौद्ध हो या अबौद्ध गृहस्थोंकी भिक्षुओंके प्रति कुछ आस्था रहती ही है। साथ ही मैं अपने भोजनका बोझ केवल एक परिवारपर नहीं डालना चाहता था, इसलिये इस सारे पर्यटनमें दो-चार बार

ही भूखा रहना पड़ा। गरीबोंकी श्रद्धा और दया देखकर मेरा दिल पिघल जाता। स्वयं भूखे रहते भी वह किसी परदेसी या गरीबको वैसा देखना नहीं चाहते। मैं भिक्षु था, किन्तु चेहरेसे परदेशी और भेषसे गरीब था। मैंने बहुत धर्मोपदेश दिये थे, अब भी कभी-कभी वैसा करना पड़ता था, लेकिन उसमें मुझे अब उत्साह नहीं था। मैं जब दु:ख-सत्यकी व्याख्या करने लगता, तो परम्परासे सुनी-सुनाई बातोंको कहनेमें भारी संकोच होता। जन्म दु:ख है, जरा दु:ख है, मरण दुख है, प्रियका वियोग और अप्रियका संयोग दु:ख है। इतना ही कहनेसे दु:खका स्वरूप प्रकट नहीं होता। दु:ख यह है, जो हमारी आँखोंके सामने बहुजन परिश्रम करते-करते अपने अर्जित अन्न-धनका उपभोग नहीं कर सकता, उसे भूखा रहना पड़ता है, लुटेरे उसे लूट ले जाते हैं। आश्चर्य यह, कि अर्जन करनेवालोंकी संख्या सौ में नब्बे है, और लुटेरे अपने हथियारोंके बलपर नहीं, बल्कि अर्जन करनेवालोंकी सन्तानों के हाथोंमें हथियार थमाकर दिन दहाड़े लूट कर रहे हैं। क्या मैं दु:ख सत्य को उसके असली और सच्चे रूपमें इस तरह बतला सकता था? बतलानेका क्या फल होता? शायद वह अरण्य-रोदन होता! मेरे श्रोता इस सीधी-सादी बातको समझ न पाते, और सोचने लगते, मैं पागल हो गया हूँ, अथवा प्रभु-वर्गके प्रति घृणा फैला कर स्वयं उनका स्थान लेना चाहता हूँ। शायद मेरी वेषभूषा से उनको यह ख्याल न होता। इस तरह विचार मेरे दिल में पैदा होकर मुझे भारी दुविधामें डाल देते। फिर मैं जब चाहता, कि अपने विचारोंको अपने भीतर ही छिपाये रक्खूँ, और चुपचाप यों ही हाथमें डंडा पकड़े घूमता रहूँ, तो आत्मग्लानि होती थी। चारों तरफ अंधकार सा दिखाई पड़ता था, एक बात तो बिल्कुल निश्चित थी, कि मैं दूसरोंके दु:ख और पीड़ाको देख नहीं सकता था, उस वक्त अपनी बेबसी देखकर मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठता था।

शायद दूसरे वर्ष मैं महानदीके किनारे-किनारे चलते चलते,

ऐसे प्रदेशोंमें गया, जहाँके लोग भाषा और रीति-रवाजमें चीनके लोगोंसे भेद रखते थे। ऐसी जगहों गया, जहाँ भारतकी तरह लोग सिरपर पगड़ी (उष्णीष) बाँधते थे, पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी। उस समय मुझे बुद्धिलकी बात और चैत्यगिरि (साँची) के तोरणोंकी मूर्तियाँ याद आने लगीं। किसी समय भारतमें भी स्त्रियाँ उसी तरह पगड़ी बाँधती थीं, जैसे पुरुष। तो यहाँके लोगोंने क्या उसी समय भारतसे यह परिधान सीखा? वह अपने देश का नाम गन्धार बतलाते थे। गन्धार मेरा पड़ोसी था, उसके पुरुषपुर (पेशावर) और तक्षशिला जैसे नगरोंको मैं अपने घर जैसा समझता था। यहाँके लोगोंमें बुद्ध भक्तोंकी संख्या बहुत अधिक थी, लेकिन वहाँ पहुँचनेपर मुझे मालूम हुआ, कि मैं भारतके भीतर जा रहा हूँ।

मेरा इरादा वहाँ जनेका नहीं था, इसलिये इस प्रदेश (युन्नन्) में चार ही पाँच दिन जाकर लौट पड़ा। फिर मैंने महानदीके उत्तर तटको पकड़ा। जब-तब मालूम होता रहता, कि उत्तरापथ (उत्तरी चीन) में क्या हो रहा है। चाउ-वंश बौद्धोंसे भयभीत था, वह नहीं सह सकता था, कि बौद्ध-श्रमण निश्चिन्त हो अपना काम करते अपने प्रभावको बढ़ायें। मुझे नहीं मालूम है, किसी बौद्ध-भिक्षुने कभी राजसिंहासनपर आँख गड़ाई हो। वह राज्यका विरोध भी नहीं करना चाहते। यदि दीन-दुखियों और रोगियोंकी सेवा करना लोगोंमें विद्या और कलाका प्रचार करना अपराध है, तो दूसरी बात है। यह अवश्य है, कि अपने सङ्घ के कारण बौद्धोंकी शक्ति अधिक दृढ़ होती है। एक राजवंश उच्छिन्न होकर अपने बीते दिनों को लौटा नहीं सकता, लेकिन, हमारे सङ्घने ऐसा अनेक बार किया। वह मानो अमर होकर आया है। किसी राजाकी क्रूरता के कारण जो सर्वनाश उपस्थित होता, उसे देखकर आदमी समझने लगता, कि अब फिर इनके भले दिन नहीं आयेंगे, लेकिन अत्याचारी शासक सदाके लिये तो नहीं आते, उनके हटते ही खंडस्फोटको सुधारनेके लिये लाखों हाथ न जाने

कहाँसे आकर लग जाते, हमारे संघाराम पहलेसे भी सुन्दर और भव्य बन जाते। संघकी इस अजेय शक्ति के कारण कितने ही सम्राट् और सामन्त हमारे प्रभावको सहन नहीं करते।

मुझे इस यात्राके समय जो कड़वे-मीठे अनुभव हो रहे थे, उनमें तथागतका यह वचन बराबर याद आता थाः "खड्गविषाण (गैंड़े) की तरह अकेला विचरण करे।" भिक्षु-संघमें कलह होनेपर एक बार कौशाम्बीसे भगवान भी अकेले विचरण करने निकल पड़े थे। मैं अकिंचन था। कलके लिये भोजन भी मैं अपने भिक्षापात्रमें नहीं रखता था। मृत्यु मेरे लिये भयकी चीज नहीं थी, और कष्ट सहनेके लिये मैं वहाँ तक तैयार था, जहाँ तक कोई मनुष्य सह सकता है। मेरा चीवर पुराने लत्तोंका बना था, लेकिन मैं उन्हें साफ करके रखता था। गन्दा रहना मुझे पसंद नहीं था। ऐसे वस्त्रको देखकर भी चोरों और डाकुओंको सन्देह हो सकता है, शायद इस दीन-भिक्षुने अपने इन कपड़ोंमें सोना छिपा रक्खा हो। कितनी ही बार डाकुओं और चोरोंसे मेरा सम्पर्क हुआ। किसीकी लोभ भरी आँखोंको जब मैं देखता, तो अपने अन्तर्वासकसे शरीरको ढाँके चीवर और पात्रको उसके सामने फेंक देता, और कहता यदि इनसे तुम्हारा कोई उपकार हो, तो ले जाओ। ऐसा कभी नहीं हुआ, किसीने उनको नहीं उठाया और वहाँ लेनेके लिये कुछ था भी नहीं। यह तीन वर्षका जीवन मेरे लिये नया ही था। दोपहरके वक्त भिक्षाके भोजनको खाकर किसी वृक्षके नीचे मैं अपनी पोथी खोल कर बैठ जाता। बुद्धिलके हाथके लिखे सुन्दर अक्षरोंको पढ़ते समय मैं उनकी याद करता, और मन ही मन उनसे कहताः तुम्हारी अपूर्ण इच्छाको मैंने पूर्ण करनेकी कोशिश की, यद्यपि मेरे संतोषके लिये वह पूर्ण नहीं है। दुःख-सत्यका दूसरा ही रूप मुझे दिखलाई पड़ा; लेकिन उसके निरोधका रास्ता कोई नहीं दीखता, यदि दीखता भी है, तो उसपर चल नहीं पाता। तुम यदि इस समय मेरे साथ होते, तो शायद कोई रास्ता निकालने में सफल होते।

मैं महानदीका पार कर उसके दक्षिणमें अवस्थित महासरोवर (तुँग-तिंग) के किनारे गया हुआ था। चारों ओरका प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुन्दर था। एक बार मैं इसकी परिक्रमा करके पश्चिम गया था, अब फिर उसके दर्शनकी इच्छा हो आई थी। वहीं मुझे खबर मिली, कि जिस चाउ-वंशके अत्याचारोंके कारण मुझे अपना कर्मक्षेत्र छोड़ना पड़ा, उसके प्रधान-मन्त्रीने उसे उच्छिन्न कर दिया और बेन-ती (५८१-६०५ ई०) के नामसे छ्वाँग-आनके सिंहासनपर बैठ सुई राजवंश (५८१-६१८ ई०) की नींव रख दी। जिस संघाराममें मैंने यह खबर सुनी, वहाँके भिक्षु इसे सुन कर बहुत प्रसन्न हुये। अपने अंतिम दिनोंमें चाउ-वंशने उत्तरी चीनके संघारामों और भिक्षुओंका बहुत संहार किया था। इसलिये इन भिक्षुओंकी तरह मुझे भी इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी समय मेरे हृदयको यह सोच कर पीड़ा भी होने लगी, कि इतने दिनों तक मैं अपनेको अनासक्त और उपेक्षक जो समझता था, वह धोखा था। तभी तो चाउके उच्छेदसे मेरे हृदयको प्रसन्नता हो रही है, और फिर पीत नदीकी ओर जानेकी उत्कंठा हो आई है। मैं कह सकता हूँ, इसमें कारण उत्तरके अपने मित्रोंसे मिलनेकी लालसा है, लेकिन वह भी धोखा हो सकता है। मैं अपने हृदयको टटोल कर देखता था, तो उसमें भोग और सुखकी लालसाका पता नहीं था। पर उत्तरकी ओर जानेकी इतनी आकांक्षा क्यों? निरुद्देश्य घूमना मुझे अब पसन्द नहीं आ रहा था। आशा होती थी, कि उत्तरमें जाकर शायद मैं बहुजन हितके कुछ काम कर सकूं। मैंने उत्तर जानेका निश्चय इतना जल्दी नहीं किया। हां, सरोवरसे महानदी पार करके जरूर उत्तर की ओर चला आया। कितने ही महीनों तक उसके उत्तर-पश्चिमके पहाड़ोंमें घूमता रहा। इसी बीच पता लगा, कि सम्राट वेन-ती केवल उत्तरी चाउ और उत्तरी छीकी भूमिसे ही संतुष्ट नहीं है। उसने सारे चीनको एकताबद्ध करनेका संकल्प किया है, दक्षिण चीनकी ओर भी वह धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

मैंने अब अज्ञातवासका ख्याल छोड़ दिया। मेरे पैर स्वयं उस भूमिकी ओर चल पड़े, जो कि अब सुइ-वंशकी थी। अधिक समय नहीं लगा, वेन-तीको

मेरे बारेमें पता लगा, और गद्दी पर बैठनेसे अगले ही साल (५८२ ई०) उसने मुझे अपनी राजधानीमें निमन्त्रित किया। मैं छुंग-अनकी ओर चल पड़ा। अब मुझे पता लगा, कि मनुष्यका अपना हृदय भी उसे धोखा देता है। वह परस्पर विरोधी भावनाओंका समागम-स्थान है। पर यह ख्याल तो था ही, कि अपने शेष जीवनमें शायद दूसरोंका कुछ उपकार कर सकूँ।

अध्याय २०

जीवन-संध्या (६८२–८६ ई०

छांग-आन मेरे लिये बिल्कुल अपरचित नगर नहीं था। मैं येहमें रहते समय भी एक-दो बार वहाँ आया था, लेकिन वहाँ जाना न जाने हीके बराबर था; क्योंकि वहाँ मुझे कभी एक-दो दिनसे अधिक नहीं रहना पड़ा। अब मैं शायद वहाँ अपने जीवन भरके लिये आया था। ६३ वर्षकी अवस्थामें पहुँच कर अब मैं इधर-उधर घूमनेकी इच्छा नहीं रखता था। यद्यपि महाचीनमें सबसे पहला बिहार—श्वेताश्व बिहार—लोयांग नगरमें बना था, जहाँ हमारे प्रथम मार्ग-प्रदर्शक काश्यप मातंग ने ठहर कर अनुवाद और धर्म-प्रचारका काम किया था, पर छांग-अनका महात्म्य लोयांगसे कम नहीं है। लोयांग, छांग-अन, कोयेन्-ये (नानकिंग) ये तीन बड़े केन्द्र थे, जहाँ आकर भारतीय विद्वानोंने अनेकों ग्रन्थोंका अनुवाद किया। सुइ-सम्राट यांग अपने पूर्वके राजवंशकी गलतियोंको समझते थे; राजा होनेके कारण अपने प्रजाके धार्मिक विचारोंको जबर्दस्ती दबाना कल्याणकारी नहीं होता। भारत के धर्म-राज अशोक और धर्मराज कनिष्कने बुद्ध-धर्ममें बड़ी आस्था रखते भी दूसरे धर्मोंको दबाया नहीं, उलटा उनके प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया। चीनके राजाओंके लिये भी सबमें अच्छा रास्ता यही है। यह कहना आसान है, कि बौद्ध-धर्म एक विदेशी धर्म है, और कनफूजू तथा लाउजू अपने देशके आचार्य थे, इसलिये उन्हींका पंथ स्वदेशी अतएव ग्राह्य है। तथागतने अपने धर्मको किसी देश, काल या जातिसे नहीं बाँधा। मनुष्य मात्रका हित ही उसका ध्येय है। चीनमें आकर हम लोगोंने कभी ऐसी भावना नहीं फैलाई, कि चीनके नर-नारी चीनीपन छोड़कर और कुछ हो जायें। हमने उनकी प्राचीन कालसे अर्जित निधिको नष्ट करनेकी कोशिश नहीं की, बल्कि तथागत द्वारा प्रदान की हुई निधिको मिला कर उसे और समृद्ध करनेकी कोशिश की। राजनीतिमें हस्तक्षेप

करना तथागतने कभी नहीं सिखाया, और शायद हो किसी पथभ्रष्ट भिक्षुने वैसा करनेकी कोशिश की हो ।

सम्राट यंग सब तरहसे दीर्घदर्शी और कर्मठ पुरुष थे। उन्होंने अयोग्य चाउ-वंशको हटाकर अपने कर्त्तव्यको समाप्त नहीं समझा । उत्तर पर शासन दृढ़ करके उन्होंने दक्षिण के चेन-वंश के अन्तिम सम्राट हो-चू (५६६-८३ ई०) को भी पदभ्रष्टकर उत्तरी और दक्षिणी चीनको एक महाचीनका रूप दिया । वह लोगोंके सामने अपने विचारोंको प्रकट करते हुए वह कहते थे : राजवंश बदल रहते हैं, लेकिन देश हमेशा रहता । अपने वंशके स्वार्थके लिये देशका विभाजन बहुत बुरा है । मैं एसा मूर्ख नहीं हूँ, कि समझू कि मेरा सुइ-वंश अनन्त-काल तक रहेगा । आवश्यक नहीं है, कि योग्य पिताकी योग्य ही सन्तान हों । सुइ-वंश कल या परसों उच्छिन्न होकर रहेगा मैं ऐसा काम करना चाहता हूँ, जिसमें उत्तर और दक्षिणकी खाई पट जाय । यंग-ती अपने दिलकी बात कह रहे थे । वह जानते थे, कि तलवारसे स्थापित की हुई एकता निर्बल है, इस एकताको स्थाई करनेके लिये कुछ और दृढ़ कार्य करना होगा । दोनों महानदियाँ चीनको दो खण्डोंमें विभक्त करती हैं, यदि इनको मिला दिया जाय तो महाचीन एक हो जायगा। इसीको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये उन्होंने लो-यांगके पाससे पीत नदी नदीसे नहर निकाल कर दक्षिणकी महानदी (यांग-ची क्यांग) को मिलाने का काम आरम्भ किया यह नहर ३००० ली (१००० मील) लम्बी है । इसीसे यह मालूम होगा कि यह काम चीनकी महादीवारसे किसी प्रकार कम नहीं । उन्होंने ३० लाखसे अधिक आदमी इसपर लगा दिये । १५ वर्षसे ऊपरके हरएक आदमीको इसमें काम करना अनिवार्य कर दिया । इसके अतिरिक्त हरेक पाँच परिवार पर एक बूढ़े लड़के या औरत को खाना-पीना पहुँचानेका काम सपुर्द किया । ५० हजार सैनिकोंको भी सम्राटने इस काम पर लगाया । अपने कुदालों, फावड़ों, बेलचों और दूसरे हथियारोंको लिये हुये हर रोज आदमी इस महान नहर पर काम करते । सम्राट कहते थे, जीवन का ठिकाना नहीं, इस कामको जल्दी पूरा होना चाहिये । सचमुच ही जिस तरहसे लोगोंसे

काम लिया जाता था, उसके कारण उनके कष्टोंकी सीमा नहीं थी। हजारों आदमियोंने मेहनत करते-करते प्राण दिये। सम्राट इसे न जानते हों, यह बात नहीं; किन्तु मनस्वी कार्यार्थी पुरुष न अपने सुख-दु:खकी पर्वाह करता है न दूसरोंके। कुछ ही वर्षोंमें नहर तैयार हो गई। सम्राटने कहा—मैंने अपना लक्ष्य पूरा कर लिया। चिन-वंशके सम्राट शीह ह्वांगने महादीवारको बनाकर उत्तरके घुमन्तुओं को नहीं रोक पाया और न रोकनेकी जरूरत थी। हमारा चीन इतना महान् है, कि इसे कोई छिन्न-भिन्न नही कर सकता। क्षण भर अपने शान और शौकतको दिखला कर हरेक विजेताको इसी महासमुद्र में लीन हो जाना है। पर, मैंने जिस नहरको बनवा कर तैयार किया, वह उत्तर और दक्षिणके भेदको सदाके लिये मिटा देगी।

यंग्-तीमें झक्कीपन भी था और कभी कभी वह अपने उत्साह का अपव्यय कर बैठता था। चीनसे बाहर (कोरिया पर) विजय प्राप्त करनेके लिये उसने बहुत जन-धन नष्ट किया। जब नहर तैयार हो गई, तो अपने वैभवको दिखलानेके लिये चलते फिरते प्रासादोंके रूपमें पचास नौकाओंको सोने और रत्नसे अलंकृत करवाया। उसकी अपनी नौका लघु लाल तो तीस हाथ ऊँची डेढ़ हजार हाथ लम्बी चौमँजिला विशाल पोत सी थी, जिसमें कितने ही कक्ष और विशाल शालायें थीं। साम्राज्ञीकी नौका उड्डीयमान पीतनागको भी इसी तरह बहुमूल्य रत्नों और सोनेसे अलंकृत किया गया था। नौकर-चाकर सभीको सोने और रत्नोंसे ढाँक दिया गया था। भिक्षुओं और भिक्षुणियोंके लिये दो अलग-अलग सुन्दर नौकायें थीं। मैं भी उस समय तक परदेशी भिक्षु-स्वागत-स्थविर के पदपर रख दिया गया था, इसलिये इस नौकाका प्रमुख था। मेरे साथ भिक्षु जिनगुप्त गौतम धर्मज्ञान, मेरे देशवासी (उद्यानी) विनीतरुचि और दूसरे भिक्षु थे। नौकोंके बेड़ेको ३००० ली (हजार मील) की यात्रा करनी थी। नावें बीचसे चल रही थीं। उनके खींचनेके लिये रस्से रेशमके थे, जिन्हें भड़कीली रेशमी पोशाक पहने हजारों आदमी दोनों किनारों से खींच रहे थे। चारों तरफ केवल आनन्द-मंगल ही देखनेमें आये,—इसके

लिये सैकड़ों सुन्दरियाँ अपने भड़कीले वस्त्राभूषणोंमें रस्सा खींचने वालोंके साथ हँसती-बोलती चल रही थीं। गर्मीका दिन था। यह पहले हीसे मालूम था, कि काम करनेवालों को धूपसे परेशानी होगी, इसलिये सम्राटने नहर बनते ही समय घोषित कर दिया था, कि जो बीरी (बेद) का एक वृक्ष किनारे लगा कर तैयार कर देगा, उसे २६ हाथका रेशमी थान दिया जायगा। एक ही सालके भीतर लोयांगसे क्वांग-लिंग तक वेद-मजनूके वृक्ष लग गये। जिस समय सम्राटका बेड़ा पहलेपहल उत्तरी चीनसे दक्षिण चीनकी ओर नहरका उद्-घाटन करते हुये चला, उस समय दोनों तटों पर हरे-भरे वृक्षोंकी पाँतियाँ तैयार हो गई थीं। उनकी छायासे रस्सा खींचनेवालोंको दिनकी गर्मीका कष्ट नहीं हुआ। सुगन्धित द्रव्य इतनी मात्रामें बजरोंमें लगाया गया था, कि बेड़ेके चले जानेके बाद भी घन्टों सुगन्ध फैलती रहती। दोनों किनारों पर पताकाओं को हाथमें लिये सवार दौड़ रहे थे। देखनेके लिये दूर-दूरसे आदमी पहले हीसे जमा हो गये थे। सम्राटने नहरके किनारे कितने ही प्रासाद और उद्यान बनवाये थे।

जिस समय मैं अपनी आँखोंके सामने इस चकाचौंध करनेवाले वैभवको देख रहा था, उस समय मेरा मन प्रसन्न होनेकी जगह विकल हो रहा था : "जिनके परिश्रमसे यह विशाल नहर खोदी गई, जिन्होंने खून-पसीने एक कर इस वैभवका सृजन किया, उनका दुख क्या इससे जरा भी कम हुआ? इस सबके निर्माणमें क्या उन्होंने सबसे अधिक दुःख नहीं सहा?" जिनगुप्त मेरे छांग-अन पहुँचनेके तीन ही वर्ष बाद (५८५ ई०) में आये। बहुत जल्दी ही हम दोनोंका प्रेम हो गया। मेरे विचारोंसे वह बहुत सहमत थे, जिनके सामने मैं अपने हृदयकी व्यथाको प्रकट कर सकता था। मित्रदातका पता लगाने के लिये मैंने बहुत कोशिश की, किन्तु मुझे सफलता नहीं हुई। ज्ञानगुप्त इस वैभवको देखकर उतने ही विकल हुये, जितना मैं, यह बात नहीं थी, लेकिन पसन्द वह भी नहीं करते थे। पर, महाचीनको एक करनेवाले प्रतापी सम्राट यंगकी झकको कौन रोक सकता था? यह नहर अब उत्तर और दक्षिण

में वस्तुओं के दानादानमें बहुत सुभीता पैदा करेगी, आदमियोंका आना-जाना भी आसान होगा। आवश्यकता पड़ने पर सेनायें भी उत्तरसे दक्षिणको भेजी जा सकेंगी। उत्तरमें अर्ध-बर्बर लोग रहते हैं, दक्षिणी लोगोंकी इस धारणाको नष्ट करनेमें इस नहरसे मदद मिलेगी। यह सब ठीक है, पर उसीके साथ-साथ यह भी कि बहुजनका नहीं, अल्पजनका हित और प्रभुत्व अधिक बढ़ेगा।

सम्राट य्'गने फिर बौद्ध-धर्मको प्रतिष्ठा प्रदान की। चाउ-वंशके अत्याचार के कारण जो बड़े-बड़े भिक्षु भाग गये थे, संघारामोंकी अवस्था खराब हो गई थी, उसे सुधारनेकी कोशिश की। मेरा यहाँ आना इसका ही प्रमाण था। गौतम धर्मज्ञान, विनीतरुचि भी उसी साल बुला लिये गये। मेरे आनेके तीन वर्ष बाद जिनगुप्त आये। जिनगुप्त पहले भी एक बार चीन आ चुके थे, जबकि सम्राट मिंग (५५७-६६ ई०) का छांग-अनबर शासन था। उन्होंने जिनगुप्त के लिये खास तौरसे "चतुर्देवराजिका विहार" बनवाया था। वू-ती (५६८-७८ ई०) के समय बौद्धोंके ऊपर बहुत अत्याचार हुये उन्हें चीनसे चला जाना पड़ा था। जिनगुप्त बड़े विद्वान थे, उनकी प्रतिभा कुछ-कुछ बुद्धिल जैसी थी। चीनी भाषाका और तुर्कीका भी उनका सुन्दर ज्ञान था। मैंने जिन १५ ग्रंथोंको अनुवाद किया, उनका परिमाण ५० हजार श्लोक (आह्निक) होगा, जब कि जिनगुप्तने १७५ लाख ३८ हजार श्लोकोंको (१६७ आह्निक) से भी अधिक ग्रंथोंका अनुवाद किया। महाकवि अश्वघोषके "बुद्धचरित" के २८ सर्गोंका उन्होंने इतना सुन्दर अनुवाद किया, कि उसके पढ़नेवाले उसमें मूल रसकी अनुभूति पाते हैं। मालूम ही है, कविता का अनुवाद सबसे कठिन है। "सद्धर्मपुंडरीक" जैसे और बहुत से महत्वपूर्ण सूत्रोंका भी जिनगुप्तने अनुवाद किया।

जिनगुप्त मुझसे दस वर्ष छोटे हैं और मेरा सम्मान बड़े भाईकी-तरह करते हैं, किन्तु मैं उन्हें विद्या-ज्येष्ठ समझता हूँ। उन्होंने भी देश-देशान्तर की यात्राओंमें कम कष्ट नहीं उठाया। मेरे जन्मसे दस साल बाद पुरुषपुर (पेशावर) में वह कम्बुज में (कम्बो) क्षत्रिय कुलमें पैदा हुये। उनके पिता

वज्रसार एक राजकर्मचारी थे। पिता-माताने अपनी बुद्धभक्ति की प्रतीप पुत्रको सात वर्षकी उमरमें महावन विहारमें श्रामणेर बना दिया। फिर अवस्था प्राप्त करके उन्होंने स्थविर जिनयशको उपाध्याय और ज्ञानभद्रको आचार्य बना कर भिक्षु-दीक्षा प्राप्त की। तीनों पिटकोंका उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया, विनयके वह विशेष पंडित बने। कविताका शौक भी उन्हें था, लेकिन वह अधिकतर महाकवियोंकी कृतियोंके अध्ययन करने तथा उनमेंसे एकको अनुवाद करनेमें ही अपनी इस रुचिको लगा सके। जिनगुप्त जब २७ वर्षके थे, तब उन्होंने विदेशमें जाकर धर्म-प्रचार करनेका निश्चय किया। गन्धारसे कपिशा जा उन्होंने एक साल बिताया। यन्ता (येथा, हेफ्ताल) की स्थिति बुरी हो गई थी। मिहिरकुलको पराजित होकर कश्मीरमें शरण लेनी पड़ी थी, और उसके मरते-मरते ये-ताका अवशिष्ट राज्य भी छिन्न-भिन्न होने लगा था। उत्तरमें अवारोंको तुर्क पूरी तौरसे पराजित कर चुके थे, और उनके किसी समय भी ये-तोंके ऊपर आ पड़नेका भय था। कुछ समय बाद (५६३-५६७ ई० के बीच) तुर्कोंने कपिशा तकको अपने हाथमें कर लिया। ऐसी स्थितिमें दुर्गम हिमालयको पार करके कांस्यदेश और चीनकी तरफ आनेका संकल्प करना साधारण हिम्मतवाले आदमीका काम नहीं है। रास्तेमें उन्होंने येन-ताके शासनके नाश होनेके प्रमाणस्वरूप गाँवों और इलाकोंको निर्जन बना नष्ट नष्ट-भ्रष्ट देखा। खो-लो-फन-था (ताश कुर्गान) होते वह कुस्तन में कुछ समयके लिये ठहरे। फिर तू-यू हू-येन् (तुर्क-खान) की राजधानीमें पहुँचे, जो कि नील सरोवर (कोकोनोर) से पाँच कोस पश्चिममें थी, फिर छान् चाउ (सी-निंग) में पहुँचे। दस साथियोंके साथ वह चले थे, लेकिन उनमें यहाँ तक चार ही जीवित पहुँचे। यह वह समय (५५७ ई०) था, जब कि मैं घुमन्तुओंकी भूमिमें था। शायद यदि मैं अपनी यात्राको जारी रख सकता, तो जिनगुप्तके रास्ते ही मुझे भी महाचीन आना पड़ता, और येह की जगह छाँग-आन्‌में गया होता। जिनगुप्त इस जगह (सी-निंग में) तीन वर्ष रहे, फिर चाउ-सम्राट मिंगके समय वह छांग-आन् पहुँच चाउ-याँग बिहारमें ठहरे।

आरंभमें बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ, यह बतला चुके हैं, लेकिन पीछे उन्हें चीन छोड़कर लौट जाना पड़ा। वह देश लौटते तुर्कों के राज्यके भीतरसे गुजारे। तोपा (५७२-८२ ई०) खानने उन्हें अपने यहाँ रहनेकी प्रार्थना की, और जिनगुप्त अपने साथियों जिनभद्र और जिनयश, तथा गुरुभाई यशोगुप्तके सत्य वहाँ ठहरे गये। तुर्क-कआनों सम्राटों में तोपा बहुत ही बुद्धभक्त था। उसने जिन गुप्त और उनके साथियोंका बड़ा सत्कार किया। उनकी सहायता से वह अपने लोगोंमें धर्म-प्रचार करनेमें सफल हुआ। वहाँ रहते ही पता लगा, कि चीनमें नय राजवंश (सुई-वंश) स्थापित हुआ है, बुद्ध शासनकी पुनः प्रतिष्ठा हुई है, इसलिये वह सम्राट यंग के पांचवें वर्ष (५८५ ई०) में अपने अधूरे कामको पूरा करनेके लिये फिर महाचीन आये। पहली यात्रामें चाउ-वंशके समय उन्होंने तीन हजार श्लोकोंकी चार पुस्तकोंका अनुवाद किया था।[१]

परदेशी भिक्षुओंके स्वागत-सत्कारका भार मेरे ऊपर था, इसलिये आते ही उनकी मुझसे मुलाकात हुई। वह मुझसे अधिक विद्वान् थे और मैं ऊँचे पदपर था, इसलिये ईर्ष्या होसकती थी। उनके आते ही मैंने इच्छा प्रकट की, कि इस पदको आप स्वीकार करें। पर उन्होंने मुखसे नहीं हृदय से चाहा, कि मैं उस पद पर बना हूँ। नाना प्रकृतिके लोगोंकी सेवा करना आसान काम नहीं है, वह अपना सारा समय अनुवादके काममें लगाना चाहते थे। उनके आग्रहको मैंने स्वीकार किया। आगमन (५८५ ई०) के बाद मैंने किसी ग्रंथके अनुवाद में हाथ नहीं लगाया और छंग-अनमें रहते किये गये अपने छोटे-छोटे आठ[२] ग्रंथों (श्लोक संख्या प्रायः ४५ हजार) के अनुवादपर ही संतोष किया।

मैं अपनेको जिनगुप्तसे किसी बात में भी बड़ा नही देखता। अनुवाद के

१ इनमें से दो—"सद्धर्म पुंडरीक" और "नानासंयुक्त मंत्र सूत्र—अब भी मौजूद हैं।

२ १. सूर्यसूत्र, २. मंजुश्री विक्रीडितसूत्र, ३. महामेघसूत्र, ४. श्रीगुप्त सूत्र, ५. बलव्यूहसूत्र, ६. शतबुद्धसूत्र, ८. स्थिरमतिसूत्र।

काममें तो मैं अपनेको दीर्घ सूत्री कह सकता हूँ। यद्यपि महाचीनमें धर्म प्रचार का सबसे बड़ा साधन यही है, कि तथागतके उपदेशोंका अधिकसे अधिक अनुवाद किया जाये। अभी जितने ग्रन्थोंके अनुवाद हुये हैं, वह बिल्कुल अपर्याप्त हैं। जिनगुप्तके कामको निरन्तर बढ़ते देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। मैं यही कामना करता हूँ, कि वह सौ वर्ष तक जीवे * पर्यटनमें भी उन्होंने मुझसे कम कष्ट नहीं उठाया है। तुर्कोंकी भूमि से शीत समुद्र या दक्षिणमें सिंहल द्वीपकी यात्रा मेरी अधिक थी, लेकिन उनको मुझसे भी कठोर यात्राओंका सामना करना पड़ा था, जिनमें उनके दसमेंसे छ साथियोंने प्राण त्याग दिया। उनकी विद्याको देखकर अत्याचारी चाउ-सम्राट चाहता था, कि वह भिक्षुपन को छोड़ कर साधारण गृहस्थ के तौर पर छांग-आनमें सम्मान-पूर्वक बने रहें, लेकिन उन्होंने ऐसा करनेसे इन्कार कर दिया और इसकी कोई पर्वाह नहीं की, कि सम्राट उनके प्राणोंका ग्राहक भी बन सकता है। इसे संयोग ही समझिये, जो उन्हें देश लौटनेकी आज्ञा मिल गई। तुर्कोंमें दस वर्ष रहकर वह केवल आराम की जिन्दगी नहीं बिताते रहे। अपने साथियों-सहित उन्होंने इन घुमन्तुओं में धर्म-प्रचार करके उनके स्वभाव को नरम करने की कोशिश की।

जिनगुप्त या मैं नहीं बल्कि हमारे देश (भारतवर्ष) के सैकड़ों-हजारों आदमियोंने आकर महाचीनमें अपनी क्षमता-अनुसार धर्म का काम किया। सभी अनुवाद का काम नहीं कर सकते थे, कोई चिकित्सक बन कर काम करते रहे, कोई अध्यापनका काम करते रहे और कितने ही उपदेश देते रहे। चीनमें बुद्ध-शासन के विस्तार में उनका प्रयत्न कम सहायक नहीं हुआ। यदि हमारी अनुवादित पुस्तकोंमें से आगे चलकर कुछ बच रहीं, और उनके कारण हमें याद रक्खा गया तो उसके साथ उनका भी ख्याल करना जरूरी है, जिन्होंने ग्रन्थोंका अनुवाद नहीं किया, लेकिन दूसरी तरह बहुत काम किया।

× × ×

मेरी आयु अब (५८६ ई०) ७१ वर्षकी हो गई है। मेरा स्वास्थ्य सदा

---

* जिनगुप्त नरेन्द्रयशसे ग्यारह वर्ष बाद ६०० ई० में मरे।

अच्छा रहा। यदि ऐसा न होता, तो ऐसी कठोर यात्राओं को कर के इस आयु तक मैं नहीं पहुँच सकता था। आज भी मैं चल-फिर सकता हूँ। छंग-अन से बाहर बिहारोंमें जाता हूँ, लोयांग, येह हो-शू (कान्सू), हैंग-अन (ता-तोंग), कीयोन-ये (नानकिंग) के पुण्य स्थानोंकी यात्रायें भी। परदेशी भिक्षुओंका स्वागत करने का मेरा कर्तव्य भी ऐसी यात्राओं के लिये मजबूर करता है और वैसे भी अपने परिचित स्थानों और वहाँ के मित्रों से मिलने में मुझे आनन्द आता है। नदियों और नहरके रास्तोंको छोड़ कर बाकी जगहोंमें मैं पैदल ही जाता हूँ। मेरे पुराने परिचितों में अब बिरले ही रह गये हैं। मैं भी शरद का सूखा पत्ता हूँ, किसी समय भी झर सकता हूं। जब मैं अपने ७० वर्ष पूर्व के बीते जीवन की ओर नजर डालता हूँ, तो हर जगह अपने बिछुड़े पुराने मित्रों और परिचितों की स्मृति दु:खद लगती है; लेकिन मुझे अपने जीवन के लिये कोई अफसोस नहीं है। मैंने जिसे अच्छा समझा उसके लिये मन प्राणसे काम किया। जितना और जो करना चाहा, सब न कर सका, क्योंकि मार्गमें बहुत जबर्दस्त बाधायें थीं, जिन बाधाओंको दूर करना एक आदमीकी शक्तिके बाहर है। यदि मैं उन्हें नहीं दूर कर सका, तो मैं इसे अपना दोष नहीं मानता।

× × +

उपसंहार—

नरेन्द्रयश अब नहीं रहे। हम सबको उसी रास्ते जाना है, जिसपर वह गये। वेन-तीके आठवें वर्ष (५८६ ई०) में एक दिन उन्होंने अकस्मात् अपने जीवन-कार्य से विश्राम ले लिया और किसी को अपने महाप्रयाणका पता भी होने नहीं दिया। न कोई बीमारी थी और न ही कोई दूसरी दुर्घटना। बैठे बैठे जैसे खिला हुआ फूल एकाएक मुरझा जाये, वैसे ही मित्रमंडलीमें उनका सिर झुक गया। मेरा नाम जिनगुप्त है, जिसके सम्बन्धमें अपने प्रेमवश उन्होंने प्रशंसा में अतिशयोक्ति की है। मैं अपनेको उनका पात्र नहीं समझता। उनके पर्यटनके सामने मेरा पर्यटन कोई चीज नहीं है। न उनके समान मुझे कष्ट उठाना पड़ा। पुस्तकोंका अनुवाद वह चाहते तो उससे कहीं अधिक कर सकते थे, जितना कि

मैंने किया। अवलोकितेश्वर (क्वान-यिन) की करुणा के बारे में हमने बहुत पढ़ा है, हमारे नरेन्द्र भी है, उसी तरह करुणामय थे। उनकी करुणाको हम उनके जीवन में जितना देखते थे, उसके शतांशकी भी सूचना अपनी लेखनीसे दिखावटसे परे रहने वाले नरेन्द्र ने नहीं दी। अपने जीवन के कामों, विशेषकर अपनी यात्राके बारेमें वह आने वाली पीढ़ियोंके लिये लिख जाना चाहते थे। चीन में ऐसी यात्राओंके लिखनेका बड़ा रवाज है, जिनसे ही उन्हें प्रेरणा मिली थी, इसी लिये वह अपनी जीवनीको लेखबद्ध कर गये।

नरेन्द्र अजातशत्रु थे। मेरे साथ उनके स्नेह का कारण समानकर्मा समानधर्मा होनेके साथ गन्धारमें मेरा जन्म होना भी था। उद्यान और गन्धार दोनों पास पास हैं, इसके कारण हममें आत्मीयता बढ़ गई। लेकिन, यह कहना नरेन्द्रके साथ न्याय करना नहीं होगा, कि उन्हें मेरे और पराये का ख्याल था। उनके स्नेह और वात्सल्यके सभी समान अधिकारी थे। उनको यही खेद था, कि मैं भी सहस्र बाहु, सहस्रमुख और सहस्रकाय होता, जिसमें एक ही बार सहस्रों की सेवा कर सकता।

उनके इन्हीं गुणों और कार्योंके कारण जब उनकी मृत्युकी सूचना राजधानीके लोगोंको मिली, तो सभी अपना स्नेह और सम्मान दिखलानेके लिये उनकी श्मशान-यात्रामें सम्मिलित हुये। सभी जातियोंके लोग थे। छांग-आन्में भिक्षु-भिक्षुणी, व्यापारी-वैद्य आदिके रूपमें रहनेवाले आदमियोंमें शायद ही कोई हो, जो न आया हो। त्योर्क भी उनके प्रति वैसी ही श्रद्धा रखते थे, जैसे चीनके लोग। कूची, कुस्तनी, तुखारी सभी आंसू बहा रहे थे। हमने उनके शवका बड़े सत्कारके साथ दाह-संस्कार किया। उनकी हड्डियोंको विहारके एक स्तूपमें रक्खा। उनकी स्मृतिको चिरस्थायी रखनेके लिये जो कुछ बना, हमने किया। वह होते तो वैसा न करने देते। उनको चिरस्थायितापर विश्वास नहीं था। वह केवल यही चाहते थे, कि प्राणिमात्र सुखी हों, दुनियाका दुःख-समुद्र सूख जाये।

इ[illegible]

१४-१२५३
मंसूरी